मुद्रक—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
नारायण प्रेस, प्रयाग।

भूमिका

आदि काल से लेकर वर्तमान काल तक मानव-जाति ने जो प्रगति की है, उसका परिचय देने अथवा उस पर पुस्तक लिखने का प्रयत्न करना एक कठिन कार्य है। यह विषय जितना ही व्यापक है उतना ही गहन भी। संसार के इतिहासवेत्ता अभी तक सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक का सुश्रृङ्खलित इतिहास प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इतिहास-काल के पूर्व का एक दीर्घ युग अब भी अज्ञात और अंधकार-मय बना हुआ है। इस अंधकार में प्रवेश करने का प्रयास अवश्य किया गया है किन्तु अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। भूगर्भ-शास्त्री बतलाते हैं कि इस पृथ्वी की उत्पत्ति लाखों वर्ष पूर्व हुई थी। हिन्दुओं के चतुर्युग सिद्धान्त के अनुसार भी इसी मत की पुष्टि होती है। फलतः ऐतिहासिक काल, जिसके संबंध में इतिहासकारों ने विस्तार के साथ लिखा है, मानवजाति के संपूर्ण जीवन-काल का केवल एक लघु-भाग ही ठहरता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सर्वविदित है कि अनेक देशों के उपलब्ध इतिहास, प्राचीनकाल तथा मध्ययुग के मानव-जीवन का विस्तृत विवरण नहीं देते। ऐसी अवस्था में यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मानव-जीवन की प्रगति पर जो ग्रंथ लिखा जायगा वह वस्तुतः कितना अधूरा और अपूर्ण रहेगा।

फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विषय का काफी परिचय दिया जा सकता है, और इस बात पर प्रकाश डाला जा सकता है कि मनुष्य ने किस दिशा में और जीवन के किस क्षेत्र में अब तक कितनी उन्नति की है, वह कहां से कहां पहुँच गया है। इसके लिए विशाल ज्ञान तथा विस्तृत अध्ययन-अनुशीलन की आवश्यकता है। केवल दो-एक देशों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राज-नीतिक जीवन का परिचय प्राप्त करके 'मानव-जाति' के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जा सकता। उसके लिए अखिल विश्व के सम्बन्ध में ज्ञान अपेक्षित है। इसी प्रकार 'प्रगति' शब्द भी विचारणीय है।

मानव-जाति निरन्तर प्रगति करती रही है, वह सदा आगे बढ़ती रही है, यह बात बहुत से लोग नहीं मानेंगे। सतयुग, त्रेता आदि चार युगों के सिद्धान्त को माननेवाले तो उलटे यह कहेंगे कि मानव जाति उन्नति की ओर नहीं बल्कि अवनति की ओर जा रही है। भारत ने प्राचीनकाल में—ऋषि, मुनियों के समय में—जीवन के अनेक क्षेत्रों में जैसी उन्नति करली थी, क्या वैसी उन्नति आज दिखाई दे रही है। सदाचार तथा नैतिक जीवन के जिस उच्च स्तर पर भारतीय उस समय पहुँचे थे, क्या आज उससे बहुत नीचे नहीं गिर गये हैं। यही बात यूनान, मिस्र तथा चीन आदि देशों के संबंध में भी कही जा सकती हैं, जिनकी प्राचीन सभ्यता गौरवमय थी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रगति का अटूट क्रम बना रहता है। संसार में सदा उन्नति और अवनति दोनों का चक्र चलता रहा है। संसार का कोई भाग आज उन्नत अवस्था में मिलेगा तो दूसरा भाग पतन की अवस्था में दिखाई पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि युद्ध आदि कुछ कारणों से शताब्दियों की उन्नति महीनों और कतिपय वर्षों में ही नष्ट हो जाती है।

किन्तु साथ ही यह भी मानना होगा कि युद्ध, क्रान्ति तथा विप्लवों के फलस्वरूप बहुधा अल्पकाल में ही इतनी उन्नति कर ली जाती है, जितनी कि सुदीर्घ काल में भी नहीं हो सकती। उनसे ऐसी शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं जो प्रगति को बल प्रदान करती हैं। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति तथा नैपोलियन के युद्ध ने यूरोप ही नहीं, अमेरिका को भी प्रभावित किया और उन्हें जनसत्ता के आदर्श की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया। रूस की राज्यक्रान्ति ने लगभग २० वर्ष के अन्दर इतनी अधिक बहुमुखी उन्नति कर ली है कि आश्चर्य होता है। यदि जारशाही कायम रहती तो क्या इतनी अधिक प्रगति किसी प्रकार संभव हो सकती थी ? इसी प्रकार वर्तमान तथा गत महायुद्धों ने यदि एक ओर शताब्दियों की उन्नति का विनाश किया है, तो दूसरी ओर लोकसत्ता तथा स्वतन्त्रता के आन्दोलनों को बल दिया है।

इन सब बातों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि अलग-अलग देशों का इतिहास लेकर देखें तो निरन्तर एक ही दिशा में प्रगति होने का कोई क्रम परिलक्षित नहीं होगा किन्तु जब हम अखिल मानवजाति के पूरे जीवन पर समष्टि रूप से विचार करेंगे तो प्रकट होगा कि संसार बराबर एक लक्ष्य की ओर प्रगति कर रहा है। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, शोषण, जातीय भेदभाव तथा अनेक प्रकार की विभिन्नताओं एवं असमानताओं के होते हुए भी संपूर्ण विश्व अदृश्य रूप से निर्दिष्ट ध्येय की ओर बढ़ता जा रहा है। वह ध्येय है एक ऐसा विश्व-सङ्घ जिसमें संसार के सभी देश सम्मिलित रहेंगे, सभी जातियाँ संकुचित साम्प्रदायिकता की भावना से मुक्त होकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगी और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव, ईर्ष्या, वैमनस्य सब कम हो जायंगे। युद्ध का स्थान शान्ति, तथा घृणा का स्थान प्रेम ले लेगा। संसार के सभी मनुष्य एक ही विराट कुटम्ब के सदस्य हैं, इसी भावना और इसी दृष्टिकोण से सब अपना काम करेंगे।

अतः मानवजाति की प्रगति का सिंहावलोकन करना एक आवश्यक, उपयोगी तथा रुचिकर विषय है। किन्तु जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है, यह विषय बड़ा ही व्यापक और गहन है। जैसे मानव-जीवन के बहुत से क्षेत्र या पहलू हैं, उसी तरह इस विषय के भी अनेक अङ्ग हैं; और, उन सब पर विचार करना, सब की प्रगति पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। दुनिया भर की प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन विचारधाराओं, रीति-रवाजों तथा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रणालियों का ज्ञान अपेक्षित होता है। जीवन के प्रत्येक विषय को लेकर हमें यह सोचना तथा पता लगाना पड़ता है कि उसके सम्बन्ध में कब, कहां कैसी प्रगति हुई, किस वस्तु का कब कैसे प्रचलन हुआ और आगे चलकर कैसे-कैसे उसमें सुधार हुए।

मनुष्य-जाति की प्रगति अथवा उन्नति पर अंग्रेजी भाषा में कई ग्रंथ लिखे गये हैं किन्तु हिन्दी में जहाँ तक मुझे ज्ञान है, अभी तक एतद्विषयक कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। अतः जब श्री०

भगवानदास जी केला प्रस्तुत पुस्तक की हस्तलिखित प्रति लेकर मेरे यहाँ पधारे तो उसे देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। मैं केला जी की साहित्य-साधना से परिचित हूँ और उसका प्रशंसक भी हूँ। उन्होंने यथाशक्ति हिन्दी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने का व्रत सा ले रक्खा है। वृद्धावस्था में पहुँच कर भी वे जिस मनोयोग के साथ इस व्रत का निर्वाह करने तथा उपयोगी पुस्तकें लिखने में लगे हुए हैं, वह सर्वथा सराहनीय है।

केला जी की इस पुस्तक को मैं आद्योपान्त पढ़ चुका हूँ। विषय की गहनता में न जाकर और तथ्यों तथा आंकड़ों के पीछे अधिक न पड़ कर उन्होंने एक रूप-रेखा प्रस्तुत की है। मानव-जीवन के अधिक-से-अधिक पहलुओं को लेकर उन्होंने उनकी प्रगति पर प्रकाश डाला है। अपने विषय को सुबोध बनाने तथा पाठकों के मनमें यह बात बैठा देने में उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की है कि मनुष्य प्रगति करता हुआ कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में अधिकांशतः हिन्दी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से उद्धरण देकर केला जी ने एक नई परिपाटी चलाई है, जिसे मैं वांछनीय ही कहूँगा। उनकी लिखने की शैली बड़ी मनोहर है। आशा है कि हिन्दी के पाठक उनकी इस नई पुस्तक का भी यथोचित स्वागत करेंगे और ऐसे साहित्य के सृजन में प्रोत्साहन देंगे।

केला जी धुन के आदमी हैं। स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुए भी उन्होंने एक और पुस्तक लिखना प्रारंभ कर दिया है, जो सम्भवतः अनतिदूर भविष्य में पाठकों के सामने आयेगी। हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह केला जी को दीर्घायु और सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करे ताकि वे हमारे साहित्य को कुछ और उपयोगी ग्रंथ भेंट कर सकें।

लीडर भवन,
प्रयाग

शङ्करदयालु श्रीवास्तव
सहायक संपादक, 'भारत'

निवेदन

आदमी की पुराने ज़माने की हालत का, मौजूदा हालत से मुकाबला किया जाय तो बात-बात में फरक मालूम होगा। संसार के कुछ हिस्से इस समय भी बहुत पहले की हालत में हैं। उनकी, आधुनिक नगरों से तुलना करने पर भी यही बात सामने आती है। भारतवर्ष के एक गांव खेड़े को लीजिए, कितने ही मकान मिट्टी या फूस के बने हैं; सड़कें, पक्की नालियाँ आदि कुछ नहीं हैं; डाक, तार, रेल, टेलीफोन आदि की बात तो सपना ही है। आदमी आधे नंगे और आधे भूखे रहते हैं, जो भोजन या वस्त्र वे इस्तेमाल करते हैं, वह बहुत मोटा-झोटा होता है, उससे किसी तरह गुजारा होता है। अकसर गाँव में स्कूल, अस्पताल आदि का अभाव ही होता है। वहाँ का आदमी बम्बई कलकत्ता आदि जाता है तो दूसरी ही दुनिया दिखायी देती है। मकान कई-कई मंजिल ऊंचे, आसमान से बातें करने वाले, सड़कें खूब चौड़ी, साफ और पक्की बनी हुई। डाक, तार, टेलीफोन, रेल, मोटर, ट्राम, रेडियो—न-जाने कितनी तरह के नये-नये साधन मौजूद हैं। शौकीन लोगों के कपड़ों को देखो तो अलग ही नुमायश सी मालूम होती है। खाने पीने की चीजें, और तरीकों में आधुनिक शहर का आदमी अपने गाँव वाले भाई को बहुत पीछे छोड़ आया है।

पर यह तो सिर्फ स्थूल जगत की बात हुई। आदमी के जीवन-निर्वाह के ढंग, उसका सामाजिक जीवन, उसकी राजनैतिक व्यवस्था, उसका मानसिक ज्ञान, उसकी अर्थनीति, और समाज-व्यवस्था सम्बन्धी

विचार-धाराएँ—सभी बातों के पुराने और आधुनिक रूप में ज़मीन आसमान का अन्तर है। आदमी कहाँ से कहाँ आ पहुँचा!

प्रगति की सब बातों की गिनती करना मुशकिल है। असल में आदमी की प्रगति या विकास का क्षेत्र अनन्त है। विकास अभी हो ही रहा है। जिन बातों में बहुत विकास हो चुका है, उनमें भी आगे काम होने की बहुत गुंजायश है। और भी न-मालूम कितनी नयी बातों में विकास हो। इस से जाहिर है कि यह विषय बहुत व्यापक और विस्तृत है।

प्रगति का विचार करने के लिए इसे कुछ खास-खास हिस्सों में बांटना ज़रूरी है। यह ठीक है कि एक हिस्से का दूसरे हिस्सों से बहुत सम्बन्ध है; और, कोई हिस्सा बिलकुल अलग नहीं है। तो भी विचार की सुविधा के लिए हिस्से किये जा सकते हैं। हमने इस पुस्तक के कुछ भाग करके, हरेक भाग में कुछ अध्याय किये हैं। बहुत से अध्यायों को लिखते हुए हमें मालूम हुआ कि उस अध्याय का विषय ही एक पूरी पुस्तक का विषय हो सकता है। अंग-रेजी में कुछ पुस्तकें इस तरह की हैं भी। हम आशा करते हैं कि कभी हिन्दी में भी ऐसा होकर रहेगा। उस काम को अधिक योग्य और अधिक साधन-सम्पन्न भाइयों के लिए छोड़ कर हम तो एक ही पुस्तक में सारे विषय पर उड़ती सी नजर डाल कर संतोष कर रहे हैं। इसमें बहुत कमी या दोष होंगे। हम से जहाँ तक बन आया, हमने इसे अच्छे-से-अच्छा बनाने की कोशिश की। पाठकों का ध्यान इस विषय की ओर जाय, और दूसरे लेखक इसे और अच्छे, अधिक उपयोगी ढंग से पेश करें तो हमें बहुत खुशी होगी।

पिछले महीनों में हमारा स्वास्थ्य अच्छा न रहा। उस दशा में इस पुस्तक की हमें खास चिन्ता रही। ईश्वर की कृपा से यह पुस्तक पूरी हो गयी, इसे हम अपना सौभाग्य समझते हैं। अब हमारे मन पर से बड़ा बोझ उतर गया। कोई विशेष बाधा न हुई तो कुछ समय

में हम 'मानव संस्कृति' नाम की दूसरी पुस्तक पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे।

इस पुस्तक के कुछ लेख 'विश्वमित्र', 'आज', 'रामराज्य', 'योगी' 'आलोक' और 'माहेश्वरी' में प्रकाशित हो चुके हैं। इस विषय की जो पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएँ समय-समय पर हमारे देखने में आयी हैं, उनके नाम अन्त में दिये गये हैं। इस पुस्तक की रचना में हमें विशेष सहायता बंधुवर श्री० शंकरदयालु जी श्रीवास्तव एम० ए०, सहकारी सम्पादक 'भारत' (प्रयाग), से मिली है। आपने अनेक बाधाएँ होते हुए भी इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति देखने, और मुझे अपने विचार या सुझाव बतलाने की, और साथ ही इसकी भूमिका लिखने की कृपा की। आप जैसे सुहृद को धन्यवाद देकर कुछ उऋण होने के बजाय, मैं आपका ऋणी बने रहना ही अच्छा समझता हूँ।

आशा है, पाठक अपनी प्रगति के सभी पहलुओं का ध्यान रखेंगे; और, अपनी प्रगति करने के साथ-साथ मनुष्य जाति की प्रगति में सहायक होंगे।

विनीत

भगवानदास केला

विषय सूची



मनुष्य जाति की प्रगति

पहला भाग

विषय-प्रवेश



संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्राचीन काल से आज तक निर्बाध चली आ रही है। बीच-बीच में उस पर पर्दा पड़ता रहा है। परन्तु दीपक बुझा नहीं। एक देश में उसका तिरोभाव हुआ तो दूसरे देश में पहिले से और ऊँचे स्तर पर उदय हुआ।

—सम्पूर्णानन्द

पहला अध्याय

दो दृष्टिकोण

मनुष्य लगातार विकास करता जा रहा है। उसके विकास की सीमा नहीं है; न उस विकास के मार्ग में कोई स्थायी रुकावट ही आती है। —डाक्टर एस० के० मैत्र

संसार में परिवर्तन होता रहता है। सवेरा होता है, दोपहर होती है, शाम होती है, और रात होती है। कभी थोड़ा-थोड़ा उजाला होता है, कभी खूब तेज रोशनी, और कभी घोर अंधकार। किसी समय बारिश होती है, कभी ओले पड़ते हैं, और कभी आसमान बिलकुल साफ होता है। आदमी की हालत भी बदलती रहती है—बचपन होता है, जवानी आती है, पीछे बुढ़ापा आ घेरता है। ये परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी कई महीनों तक कुछ भी परिवर्तन मालूम नहीं होता। तो भी हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि थोड़ा बहुत परिवर्तन हर समय होता रहता है। जैसे एक आदमी की बात है, उसी तरह आदमियों के समूहों की बात है। मा बाप यह देखते हैं कि जिस समय वे बच्चे थे, लोगों का रहनसहन, व्यवहार कुछ दूसरी तरह का था, अब कई बातों में बहुत फरक हो गया है। इतिहास बताता है कि हम जितने ज्यादह पुराने जमाने की बात लेते हैं, उतना ही इस समय के मुकाबले आदमियों की सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक हालत में ज्यादह फरक मिलता है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य जाति की हालत में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन कई तरह का हो सकता है, और यह जरूरी नहीं कि सभी तरह के परिवर्तन एक-साथ हों, या सब तरह के

परिवर्तनों की रफ़्तार एकसी ही हो। कभी एक तरह का परिवर्तन विशेष रूप से होता है, कभी दूसरी तरह का। फिर संसार के कितने ही हिस्से एक-दूसरे से जुदा और बहुत दूर हैं, एक हिस्से में एक तरह का परिवर्तन बहुत ज्यादह होता है, दूसरे हिस्से में बहुत कम। हाँ, अब जैसे-जैसे आमदरफ़्त और यातायात की उन्नति और वृद्धि होती जाती है, एक देश में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव थोड़े-बहुत समय में दूसरे देशों पर पड़े बिना नहीं रहता।

इस तरह मनुष्य जाति के व्यवहार और रहनसहन आदि में परिवर्तन होता रहता है, यह स्पष्ट है। इसमें मतभेद नहीं। अब सवाल यह है कि इन परिवर्तनों से मनुष्य जाति की उन्नति होती है, या अवनति। ध्यान रहे कि मनुष्य जाति की उन्नति अवनति का निश्चय करने के लिए पांच-दस वर्ष तो क्या एक-दो पीढ़ी का हिसाब लगाना भी काफी नहीं है। मनुष्य जाति की उम्र लाखों वर्ष की है। उसकी उम्र में पचास सौ वर्ष ऐसे ही समझने चाहिएँ, जैसे आदमी की उम्र में एक-दो दिन। हम किसी आदमी की एक दो दिन की हालत देखकर ठीक-ठीक यह नहीं कह सकते कि वह सुधर रही है या बिगड़ रही है। सम्भव है, जिस समय की हालत का हमने विचार किया है, वह समय असाधारण या विशेष प्रकार का रहा हो। उसके आधार पर कोई व्यापक अनुमान करना भ्रमपूर्ण हो सकता है। इसी तरह मनुष्यों की एक-दो पीढ़ियों की हालत का विचार करके मनुष्य जाति की उन्नति-अवनति का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। खासकर अपने समय के हालात को देखकर तो बहुत ही कम आदमी निष्पक्ष निर्णय देने में समर्थ होते हैं। बात यह है कि हमें अपने समय में अकसर कुछ असुविधाएँ, कुछ असन्तोष और कुछ शिकायतें रहती हैं। हम उनसे प्रभावित होकर मनुष्य जाति की अवनति की बात किया करते हैं। इस तरह हम गम्भीरता पूर्वक दूर तक की बात नहीं सोच सकते। हाँ, यह भी सम्भव है कि कुछ आदमी अपने समय के आविष्कारों आदि का बड़ा गर्व या अभिमान करें और पूर्वजों को

असभ्य और कम-अक्ल मानते हुए अपने आपको बहुत उन्नत समझें। एक अङ्गरेज कवि ने लिखा है—"जैसे-जैसे हममें बुद्धि आती जाती है, हम अपने बुजुर्गों को बेवकूफ समझते हैं। हमारी सन्तान हमसे अधिक बुद्धिमान होगी, और वह हमें निस्सन्देह मूर्ख ख्याल करेगी।" ❀

इस तरह मनुष्य जाति उन्नति कर रही है या अवनति इस विषय में आदमियों में दो विचारधारायें हैं। कुछ आदमी ऐसा विश्वास करते हैं कि भूतकाल बहुत अच्छा था। वह सतयुग था। सब जगह सुख शान्ति थी। किसी को कुछ कमी या कष्ट न था। अब तो अवनति होती जा रही है। लोगों का चरित्र गिर गया। छल कपट, व्यभिचार ईर्षा-द्वेष आदि बढ़ रहा है। शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है। आदमी तरह तरह के दुख पा रहे हैं। कलियुग ही ठहरा। उपाय ही क्या है। जहाँ तक हो सके, हमें अपने प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिए, उन्हें पूरी तरह हासिल करना मुमकिन नहीं है, उनसे आगे बढ़ने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। ऐसे विचार वाले आदमी थोड़े-बहुत सभी जगह मिल सकते हैं। भारतवर्ष तथा दूसरे पूर्वी देशों में ऐसे ही विचारों की प्रधानता है। ऐसे विचारों से कुछ हद तक निराशा का भाव पैदा होता है। नये काम करने के लिए उत्साह नहीं होता। हमारे एक मित्र, जिनमें अच्छी प्रतिभा थी, कहा करते थे कि अच्छे से अच्छा साहित्य (वेद आदि) तो लिखा जा चुका है, उससे अच्छा कुछ नहीं लिखा जा सकता, और उससे घटिया लिखना व्यर्थ है; इस प्रकार अब साहित्य-कार्य अनावश्यक है। ऐसी धारणा अब कम होती जा रही है। लोगों के विचार बदल रहे हैं। फिर भी अभी काफी आदमी इस तरह का दृष्टिकोण रखते हैं। खास तौर से धार्मिक भावना वालों और प्राचीन ग्रन्थों में श्रद्धा रखनेवालों में अधिकांश का यही मत है।

हाँ, जब कि कुछ लोग यह मानते हैं कि सतयुग या स्वर्णयुग

❀We think our fathers fools, as wise we grow.
No doubt our wiser sons will think us so.

चला गया और हमेशा के लिए चला गया, बहुत से हिन्दुओं का विचार है कि कालचक्र घूमता रहता है। सतयुग के बाद त्रेता और द्वापर नामवाले युगों के बीतने पर कलियुग आता है। उसके बाद फिर सतयुग आ जाता है। इस तरह सतयुग और कलियुग बारी-बारी से आते हैं, अर्थात् पहले उत्थान फिर पतन। इसके बाद फिर उन्नति और फिर अवनति होती रहेगी। इस मत के अनुसार अब अवनति का चक्र चल रहा है और अभी कुछ समय तक यही चलता रहेगा।

दूसरी विचार-धारा उन लोगों की है, जो भविष्य की ओर देखते हैं। ये विकासवाद को मानते हैं। इनके विचार से प्राचीन काल में आदमी बिलकुल जङ्गली हालत में था। उसने धीरे-धीरे उन्नति की। प्रत्येक पीढ़ी के आदमी अपने पूर्वजों से कुछ-न-कुछ आगे बढ़ते हैं। विकासवादी यह मानते हैं कि आदमी दूसरे प्राणियों का विकसित स्वरूप है। वैज्ञानिकों का मत है कि पहले पृथ्वी आग की तरह गरम थी, वह धीरे-धीरे ठंडी हुई। तब उसके चारों ओर की भाफ का पानी बन गया, उस पानी से समुद्र बना। पानी में पहले घास की तरह के जीव बने, और, उन जीवों से मछलियां या घोंघे आदि। फिर इनसे कछुवे मेंढक आदि बने, जो जल में भी रह सकते हैं, और थल यानी खुश्की पर भी। ज्यों-ज्यों जमीन की हालत बदली, त्यों-त्यों उस पर रहनेवाले पशु, पक्षी भी बदलते गये। ये परिवर्तन धीरे-धीरे लाखों वर्ष में हुए हैं। सब से आखिरी पशु बन्दर और बनमानुस हैं, उन्हीं से बदल कर आदमी बना है। आदमी और जानवरों में बड़ा फ़रक यह है कि आदमी में बुद्धि या तर्क शक्ति होती है, वह नये-नये आविष्कार करता रहता है।

हिन्दुओं के दस अवतारों का कम भी विकासवाद से मिलता हुआ ही है। हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि महाप्रलय के बाद सृष्टि में केवल जल ही जल रह गया था। पहला अवतार 'मत्स्यावतार' मछली के रूप में हुआ, जो जल में रहती है। दूसरा अवतार 'कुर्मावतार' कछुवे के रूप में हुआ, जो कि जल में तो रहता ही है, पर जरूरत होने पर थल

भाग में भी रह सकता है। तीसरा अवतार 'बाराहावतार' हुआ, जो जल और थल दोनों में रहता है। इसके बारे में यह कथा है कि इसने जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया; पीछे धीरे-धीरे पृथ्वी पर लता पेड़ पौधों के साथ जीव की सृष्टि होने लगी। चौथा अवतार 'नरसिंह' का हुआ। इसका आधा रूप आदमी का, और आधा सिंह का था। इसका अर्थ यह है कि अभी आदमी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुआ, उसका सिर्फ आधा शरीर मनुष्य का हो सका है। शेष आधा तो पशु ही है, इसे भी धीरे-धीरे मनुष्य के शरीर में बदलना है। पांचवाँ अवतार 'वामन' का है, इसमें जीव पशु योनि से मानव योनि में आता है। इसमें यह भी भाव है कि छोटे से शरीर वाला मनुष्य अपने मन या बुद्धि की चतुराई के कारण पृथ्वी, आकाश और पाताल इन तीनों लोकों को अपने अधीन करने की सामर्थ रखता है। छठा अवतार 'परशुराम' का है, इसमें क्षात्रबल या शारीरिक शक्ति का महत्व बताया गया है।

वामनावतार को मानव देह का चार अंश वाला अवतार कहा गया है, परशुराम को आठ अंश वाला, और उसके बाद आने-वाले सातवें अवतार 'रामचन्द्र' को बारह कला वाला समझा गया है। रामचन्द्रजी को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। इसका आशय यह है कि अब आदमी उच्छृंखल जीवन व्यतीत नहीं करता, वह कुल या वंश की मर्यादा का ध्यान रखता है और अनुशासन-प्रेमी है। आठवां अवतार 'श्रीकृष्णचन्द्र' का है, वह पूरा सोलह कला का माना गया है। इसमें केवल कुल या वंश की बात नहीं, समाज के धर्म की कल्पना यानी कर्त्तव्यों का विचार किया गया है। समाज के ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, और शूद्र, इन चार भागों के गुण कर्म व्योरेवार बताये गये हैं। नवाँ अवतार भगवान 'बुद्धदेव' का हुआ। इनके उपदेश की विशेषता यह है कि अब तक ईश्वर या देवी देवता आदि के नाम से जो हिंसात्मक कर्मकाण्ड होता था, वह बन्द किया जाय; समाज की सारी व्यवस्था का आधार अहिंसा, प्रेम और दया हो, जाति-

भेद, रंग-भेद और सम्प्रदाय-भेद आदि का अन्त हो। मानव समाज एक है, और उसकी एकता को मान्य करके सब प्रकार की नीति निर्धारित हो। हिन्दुओं के विचार से दसवाँ अवतार, 'कल्कि अवतार' नाम से होनेवाला है जो इस समय के प्रचलित दोषों को दूर कर मानव समाज का हित साधन करेगा।

अवतारवाद का सार यह है कि आदमी का धीरे-धीरे विकास होता रहता है। इस समय संसार की जो हालत है, वह सृष्टि के शुरू से अब तक की पीढ़ियों के आदमियों की सिलसिलेवार तरक्की का नतीजा है। जब लोगों में यह भावना होती है कि संसार तरक्की कर रहा है और हम उस तरक्की में हिस्सा ले सकते हैं तो उनका काम करने का उत्साह बढ़ता है, उनमें उन्नति करने की उमंग रहती है। नित्य नये-नये आविष्कार किये जाते हैं। उन्नति की कोई सीमा नहीं मानी जाती। सुधार और तरक्की की गुंजायश हमेशा स्वीकार की जाती है। भविष्य उज्ज्वल समझा जाता है। योरोप, अमरीका में ज्यादहतर आदमियों की धारणा इसी प्रकार की है। विज्ञान के प्रचार के साथ-साथ ऐसी भावना बढ़ती जाती है। अब भारतवर्ष में भी बहुत से आदमी इसी तरह के विचारवाले हो गये हैं, और होते जाते हैं।

साधारण तौर से यह समझ में नहीं आता कि आदमी को शुरू में एकदम ऐसी बुद्धि, तर्कशक्ति, भाषा आदि हासिल हो गयी कि वह सोच विचार कर करने लगा, और पीछे जाकर उसके गुणों का ह्रास हो गया। यह अनुमान होता है कि आदमी का ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। कुछ बातों में अपवाद मालूम होते हुए भी कुल मिलाकर मनुष्य जाति उन्नति कर रही है, और कई मंजिलें तय करके वह अपनी मौजूदा हालत में आयी है।

इस सम्बन्ध में यह याद रखना जरूरी है कि बिलकुल शुरू में मनुष्य जाति के सब हिस्सों की हालत एकसी थी, पीछे एक हिस्से ने किसी बात में उन्नति की, दूसरे ने किसी और बात में, और कुछ हिस्सों ने बहुत ही कम उन्नति की। यहाँ तक कि इस समय किसी-किसी

देश के आदमी कुछ बातों में ऐसे हैं, जैसे दूसरे देश के आदमी अब से सैकड़ों या हजारों वर्ष पहले थे। बहुधा बोलचाल में कहा जाता है कि अमुक देश विज्ञान की दृष्टि से सतरहवीं या अठारहवीं सदी में है। इसका मतलब यह है कि वह उन्नत देशों की दो सौ तीन सौ वर्ष पहले की अवस्था में है। इस तरह विज्ञान में सब देशों की उन्नति बराबर न होते हुए, तथा बहुत से देशों के बहुत पिछड़े हुए होने पर भी, यह माना जाता है कि मनुष्य जाति विज्ञान में उन्नति कर रही है। इसी तरह दूसरे विषयों का विचार किया जा सकता है।

मनुष्य जाति के प्रगति या उन्नति करने का यह अर्थ नहीं है कि संसार के सभी भागों के आदमियों ने उन्नति की है, या सब की उन्नति समान रूप से हुई है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कोई खास देश पुराने जमाने से बराबर उन्नति ही करता रहा है, या कोई समूह आगे उन्नति ही करता रहेगा। श्री० पासकल ने कहा है कि "सन् १५४० में डे. सोटो और उसके कुछ साथी संयुक्त राज्य अमरीका में कुछ सामान लिये हुए पहुँचे। लेकिन कुछ कारणों से उनके पास योरोप से और सामान न पहुँच सका। उनके घोड़े मर गये, बारूद न रहने पर उनकी बंदूकें बेकाम हो गयीं, उनकी तलवारों को जंग लग गया और वे टूट गयीं। उनके कपड़े और जूते फट गये। बहुत वर्षों के बाद वे देखने में आये तो वे अमरीका के मूल निवासी इंडयनों के साथ चलते फिरते थे, उनकी ही तरह लड़ते थे, और उनके कपड़े और हथियार उन जैसे ही थे।"* इससे मालूम होता है कि आदमी हमेशा आगे ही नहीं बढ़ता रहता।

ऐसी भी दशाएं हो सकती हैं जब मनुष्य जाति का कोई हिस्सा आगे न बढ़ कर पीछे हट जाय। किसी समूह के अकेले पड़ जाने से, समुद्र की भारी बाढ़, विकराल भूकम्प, चारों तरफ रेतीले मैदान के बहुत बढ़ जाने आदि से कभी-कभी कुछ जातियां लुप्त हो गयीं या उनकी उन्नति काफी अर्से तक रुक गयी। लेकिन इससे मनुष्य-समाज की

* The History of Social Development.

प्रगति की बात में अन्तर नहीं आता। अगर गहराई से और व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि कुछ राष्ट्रों या जातियों की मृत्यु से भी मानव समाज की उन्नति नहीं रुकती। भूतकाल में जो सभ्यताएँ लुप्त हो गयीं, उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे वेफायदा हुई या व्यर्थ गयीं। दैवी घटनाओं को छोड़ कर, कोई जाति नष्ट इसलिए होती है कि उसमें कुछ विकार होते हैं, या वह देश काल के अनुसार प्रगति नहीं करती। उसको मैदान से हटा कर, उसकी जगह दूसरी जाति आती है, जिसमें प्रगति करने की योग्यता अधिक होती है, और बहुधा यह जाति उस जाति के गुणों को किसी न किसी रूप में अपना लेती है। इस तरह किसी जाति की योग्यता सर्वथा नष्ट नहीं होती। मानव समाज धीरे-धीरे, प्रकट या गुप्त रूप से आगे बढ़ता रहता है।

दूसरा अध्याय
मनुष्य और प्रगति

मनुष्य ने सदा प्रगति की है; और इस आगे बढ़ने में, इस प्रगति के पथ में उसने जो कुछ सहा, सोचा और समझा है, उसे वह अपने सजातियों को सुनाया चाहता है।

—जयन्ती लाल रुइया

मनुष्य जाति की प्रगति सम्बन्धी अन्य बातों का विचार करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि (१) सृष्टि के सब प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा है, जो लगातार प्रगति करता है, दूसरे जानवरों में सैकड़ों वर्ष में भी कोई परिवर्तन नहीं होता, और अगर कभी कुछ विशेष कारणों से होता भी है तो बहुत ही कम। (२) मनुष्य का प्रगति करना अनिवार्य है, यदि वह प्रगति न करता रहे, नयी-नयी बातों की खोज न करे, काम करने के नये-नये ढङ्ग न निकाले तो उसकी जीवन-यात्रा बहुत

कठिन हो जाय। आदमी हर पीढ़ी में कुछ न कुछ आगे बढ़ता रहता है।

अनुसन्धान करने वालों का मत है कि एक समय ऐसा रहा है—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह कब को या कितने लाख वर्ष पहले की बात है—जब आदमी पशुओं की तरह जीवन व्यतीत करता था। वह नग्न अवस्था में कन्दराओं या गुफाओं में या पेड़ों की छाया में रहता और कुदरती तौर पर पैदा होने-वाले कन्द-मूल, फल या पत्ते आदि खाता था, या छोटे-छोटे कमजोर जानवरों का शिकार करता था। वह भी एक पशु था और उसे अपने भोजन के लिए दूसरे पशुओं से लड़ना-झगड़ना पड़ता था। पुराने जमाने के आदमियों के ढाँचों को देखने से मालूम होता है कि उस समय आदमी और बनमानुष की शारीरिक बनावट में खास फरक नहीं था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस समय आदमी के बड़े बड़े नाखून थे, और शरीर पर बड़े-बड़े बाल थे। वह जङ्गलों में पेड़ों पर रहता था। कमजोर होने के कारण वह जङ्गली जानवरों से बहुत डरता था। रीछ, शेर, चीता आदि बड़े-बड़े शिकारी जानवर तो उसे अपना शिकार ही बना लेते थे। जङ्गली गाय, भैंस, घोड़ा आदि भी उसे अनेक बार मार डालते थे। इनके डर के मारे आदमी गुफाओं में घुस जाता था, या पेड़ों पर चढ़ जाता था; अपनी रक्षा करने का उसके पास और कोई उपाय न था। इन जानवरों का मुकाबला करने के लिए उसका पहला काम मिट्टी या पत्थर का डला या लकड़ी की छड़ी उठाना था। यही उसका पहला हथियार था। आदमी कोई चीज अपने हाथ में इसलिए उठा सकता है कि उसके हाथ की बनावट इस तरह की है कि अँगूठा अँगुलियों के सामने आ सकता है। हाथ की ऐसी बनावट आदमी की एक खास-विशेषता है। [शरीर की बनावट की दृष्टि से आदमी में और भी कुछ विशेषताएँ हैं. मिसाल के तौर पर उसकी पीठ की हड्डी ऐसी है कि बड़ा होने वह पाँवों के सहारे बिलकुल सीधा खड़ा होकर चलता है और उसकी निगाह सामने रहती है।

पशु-पक्षी प्रायः ऐसा नहीं कर सकते] यह ठीक है कि बन्दर या बन-मानुष भी हाथवाले पशु हैं और वे भी कोई चीज पकड़ने, उठाने या फेंकने का काम कर सकते हैं। परन्तु आदमी और बन्दर में एक फरक है, आदमी में विवेक और बुद्धि भी है। वह अपने डण्डे को पत्थर की मदद से ऐसा कर लेता है कि उसे पकड़ने में सुभीता हो, और उसकी नोक तेज हो जाय या उसका दूसरा सिरा खूब मोटा रहे। इस तरह आदमी अपनी बुद्धि से डडे को बर्छी आदि का रूप दे सकता है, और उसे अच्छा, अधिक उपयोगी हथियार बना सकता है। बन्दर अपनी कुदरती हालत में (यानी जब तक उसे खास तौर से सिखाया न जाय) यह काम नहीं कर सकता।

आदमी के हाथ का इस्तेमाल शुरू में खास तौर से पेड़ों पर चढ़ने में ही होता था। पेड़ पर चढ़ कर वह जङ्गली जानवरों से सहज ही अपनी रक्षा कर लेता था, और पेड़ों के फल आदि खाते रहने की हालत में उसे भोजन के लिए भी विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती थी। किन्हीं कारणों से आदमी ने पेड़ों पर रहना छोड़ा, या वह छोड़ने को मजबूर हुआ। इससे उसका हाथ तरह तरह के काम करने के लिए मुक्त हो गया। पेड़ों पर रहना छोड़ने पर जब आदमी ज्यादातर जमीन पर रहने लगा, तो उसकी जिन्दगी में भारी हेरफेर हुआ। जङ्गली जानवरों से अपनी रक्षा करने और अपने गुजारे के वास्ते शिकार करने के लिए आदमी को चतुराई, चालाकी, साहस, सहनशीलता आदि की बहुत जरूरत होने लगी। उनके लिए इन बातों में पशुओं से बढ़ना निहायत जरूरी था, और इन गुणों को आदमी ने बहुत कुछ पशुओं से सीखा है।

पहले कहा गया है कि आदमी में जानवरों के मुकाबले, एक विशेषता है; आदमी में बुद्धि, अक्ल या तर्क शक्ति होती है, जिससे वह सोचता विचारता है, नयी-नयी बातें सीखता है, आविष्कार या ईजाद करता है। यहाँ यह याद रखने की बात है कि जानवरों में भी एक प्रकार की बुद्धि होती है, जिसे सहज ज्ञान, स्वाभाविक बुद्धि या पशु-बुद्धि

(इन्सटिंक्ट) आदि कहते हैं। इस सहज ज्ञान के कारण जानवर जल्दी ही अपनी मा से जुदा रहने के योग्य हो जाते हैं, वे अपने निर्वाह की व्यवस्था करते हैं। वे ऐसे ही घास, फल, कन्द-मूल आदि खाते-पीते हैं कि उनका स्वास्थ्य ठीक बना रहे। अपनी स्वाभाविक अर्थात् जङ्गली दशा में रहते हुए वे बहुत ही कम बीमार होते हैं और यदि संयोग से कभी बीमार पड़ते भी हैं, तो स्वयं अपना इलाज कर लेते हैं। वे अपने खाने-पीने में ऐसा परिवर्तन या कमी कर देते हैं कि उनका रोग दूर हो जाता है। विशेषज्ञों का कथन है कि कुछ जङ्गली चिड़िया अपनी टूटी हड्डी को दुरुस्त कर लेती हैं। उन्हें यह भी मालूम रहता है कि किस ऋतु में कैसी जगह रहना ठीक होगा। कितने ही पक्षी ऐसे होते हैं कि वे साल के कुछ महीने एक जगह और कुछ महीने दूसरी जगह रहते हैं। ये पक्षी अपने आप आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरी जगह चले जाते हैं। अजगर, मगर आदि कुछ जानवर कई कई महीने तक गाढ़ी नींद में सोये रहते हैं। निदान, उन्हें इस बात का स्वयं ही काफी ज्ञान होता है कि स्वास्थ्य रक्षा के लिए क्या कार्य करना चाहिए, क्या खाना चाहिए, और किन बातों से परहेज करना चाहिए।

मुर्गी का बच्चा जरा सा होता है, तभी वह अपने खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेता है। जलचर जीवों के बच्चे अपने खोल में से निकलते ही पानी में कूद पड़ते हैं; और मजे से तैरने लगते हैं। इस तरह पशु-पक्षी अपनी सहज बुद्धि से बहुत जल्दी स्वावलम्बी हो जाते हैं। लेकिन इसके साथ यह बात भी है कि पशु-पक्षी हजारों वर्ष पहले जैसे थे, बहुत कुछ उसी हालत में आज भी हैं, वे कुछ आगे नहीं बढ़े। और, छोटी व बड़ी उम्र के पशु में सिवाय शारीरिक शक्ति के और कोई फरक नहीं है। इसके मुकाबले आदमी की सन्तान आरम्भ में बहुत असमर्थ होती है, वह जानवरों से डरती रहती है, और यदि वह अपनी बुद्धि का विकास और उपयोग न करे, तो वह बहुत से पशु-पक्षियों से सहज ही पराजित हो जाती है। लेकिन आदमी की बुद्धि और शक्ति

का विकास और वृद्धि होती रहती है। यही कारण है कि आदमी के बच्चे और जवान आदमी में, तथा हजार वर्ष पहले और इस समय के आदमी में, बहुत फरक होता है; इसे सभी जानते हैं। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि आदमी की पशु से क्या विशेषता होती है।

इस विशेषता का ही यह फल है कि आदमी, जो कि शुरू में जानवरों से बहुत डरता रहता था, और अकसर उनका शिकार हो जाता था, धीरे-धीरे पशुओं पर विजय पाने में बहुत कुछ सफल हो गया है। अब वह न केवल बड़े-बड़े जङ्गली और मांसाहारी जानवरों तक का शिकार कर सकता है, बल्कि उन्हें पाल कर उनसे तरह-तरह के काम ले सकता है। इस बात का खुलासा विचार पीछे किया जायगा। यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिलाना है कि धीरे-धीरे आदमी जानवरों को अपने वश में कर सका है। आदमी के दांत और नख आदि ऐसे तेज और मजबूत नहीं थे, जैसे शेर-चीते आदि के होते हैं। उसने उस काम के लिए लकड़ी की छड़ी ली। उसकी नोक तेज की, या सिरे पर चकमक या दूसरा कड़ा पत्थर लगाया, पीछे उसने इससे धनुष या कमान के जरिये दूर तक वार करना सीख लिया। कुछ और समय बीतने पर आदमी ने तोप और बन्दूक से ऐसा काम लेना शुरू कर दिया कि उसके सामने जानवरों के दाँत, नख और पंजे सब बेकार हो गये।

हाथों की बात लीजिए। कुदरती हालत में आदमी के हाथ कुछ मजबूत न थे। उसने औजारों के जरिये हाथों की ताकत बढ़ायी, पीछे जब उसने औजारों को मशीन में लगा लिया और मशीन को भाप या बिजली आदि से चलाने लगा तो उसके हाथ का बल सहस्रों गुना बढ़ गया। इसी तरह पावों की बात है। आदमी की टांगे ऐसी मजबूत न थीं, जैसी घोड़े या हिरन की होती हैं। वह मछली की तरह तैर भी नहीं सकता था। आदमी ने अपने लिए मानो कृत्रिम या बनावटी पैर बना लिये। मोटर, रेल और किश्ती या जहाज से वह खुश्की और तरी पर इतना तेज चल सकता है कि अब उसकी टांगे कमजोर होने का

सवाल ही नहीं उठता।

आदमी के, पक्षियों की तरह पर नहीं थे, जिनसे वह उड़ सकें, पर अब आदमी हवाई जहाज में बैठकर इतना तेज उड़ सकता है कि कोई पक्षी उसका मुकाबला नहीं कर सकता। समाचार या संदेश भेजने में भी गजब की उन्नति हुई है। इच्छा होते ही बिजली के जरिये हजारों लाखों मील दूर संदेश भेजा जा सकता है। फिर, आदमी अब बातचीत करता है। वह जानवरों की तरह चिल्लानेवाला या कुछ इशारा करनेवाला नहीं रहा।

इस तरह आदमी ने हर प्रकार से अपनी उन कमियों को पूरा कर लिया, जो उसमें जानवरों के मुकाबले थीं। यही नहीं, अब वह कई एक बातों में जानवरों को पीछे छोड़ आया है और बहुत आगे बढ़ गया है। यह सब इसलिए हो सका है कि उसमें उनकी अपेक्षा कुछ विशेषताएँ हैं। वह अपना विकास कर सकता है, पशुओं में वह बात नहीं है।

अपनी बुद्धि से काम लेते रहने के कारण, आदमी का दिमाग़ क्रमशः बढ़ता गया है। उसे अब शारीरिक शक्ति की आवश्यकता कम रह गयी। उसका प्रभाव उसके शरीर और प्रकृति पर पड़ा। उसने सर्दी-गरमी से बचने के लिए मकान बनाये और पेड़ों की छाल या जानवरों के खाल की पोशाक बनायी। इससे उसे अपने शरीर परवालों की ज़रूरत न रही और वे धीरे-धीरे कुछ पीढ़ियों में उड़ गये। आदमी ने जङ्गली जानवरों से बचने और उनका शिकार करने के लिए हथियार बनाये तो बड़े-बड़े और मजबूत नाखूनों की जरूरत न रही, इसलिए वे छोटे और कमजोर होने लगे। इसी तरह आदमी के दूसरे अंगों में भी परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहा। यह अनुमान किया जाता है कि जब आदमी भविष्य में अपने अंगों से काम लेना और कम कर देगा और हर काम के लिए यन्त्र बनाने में बुद्धि लगाता रहेगा तो कभी ऐसा समय आना स्वाभाविक है, जब कि आदमी के हाथ-पाँव आदि बहुत कमजोर होंगे, शरीर छोटा होगा और दिमाग या सिर बहुत बड़ा होगा। पाठकों ने ऐसे चित्र देखे होंगे। अभी तो यह

केवल कल्पना है; पर उसका सत्य हो जाना स्वाभाविक है।

बुद्धि के सहारे आदमी अपनी व्यक्तिगत उन्नति करने के अतिरिक्त अपना संगठन करता है, और सामाजिक उन्नति में योग देता है। यह ठीक है कि चींटियाँ, दीमक या शहद की मक्खियां आदि भी संगठन-कार्य में बहुत कुशल हैं, परन्तु उनका संगठन जैसा सैकड़ों हजारों वर्ष पहले था, उसी तरह अब भी होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसके विपरीत आदमी समय-समय पर अपने संगठन में प्रगति करता रहा है।

कोई-कोई जानवर किसी एक कला में इतना कुशल होता है कि आदमी को अपनी लाखों वर्ष की उन्नति के बाद भी उसे देख कर दङ्ग रह जाना पड़ता है। मिसाल के तौर पर सङ्गीत में कोयल का पञ्चम स्वर प्रसिद्ध है। आदमी अभी तक उसका मुकाबला नहीं कर सकता। हाँ, वह धीरे धीरे आगे बढ़ता जा रहा है। निर्माण कला की बात लें, जैसे घर बनाना, नगर-निर्माण, नहर, पुल, और बांध बनाना आदि। जानवर अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए इस तरह के कार्य प्राचीन काल से कुदरती तौर पर बिना किसी यंत्र या औजार के करते आ रहे हैं। शहद की मक्खियों, ततैयों, दीमक और चींटियों के घरों की रचना से यह साफ जाहिर है कि वे छोटे छोटे होने पर भी उनमें जो कला है, और जिन सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है, वे किसी प्रकार घटिया दर्जे के नहीं; एक तरह से इस विषय में जानवरों की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। परन्तु जैसा पहले कहा गया है, जानवर जहाँ हजारों लाखों वर्ष पहले थे, वहाँ ही अब भी हैं, आदमी धीरे-धीरे तरक्की करता जा रहा है। सम्भव है किसी समय वह कलाओं में जानवरों की बराबरी कर सके, और उसके बाद शायद कभी ऐसा भी जमाना आ जाय जब आदमी इन जानवरों से आगे बढ़ जाँय।

अब इच्छा और प्रवृत्तियों की बात लें। ये तीन तरह की होती हैं। भारतीय शास्त्रकारों ने इन्हें 'एषणा' कहा है—वित्तैषणा यानी द्रव्य या धन की चाह; दारैषणा या पुत्रैषणा यानी स्त्री पुत्र की चाह, और

लोकेषणा यानी कीर्त्ति या ख्याति पाने की चाह। ये तीनों इच्छाएँ जैसी मनुष्य में हैं, वैसी पशुओं में पायी जाती हैं। मनुष्य और पशु दोनों इन बातों में अपनी उन्नति, वृद्धि या विस्तार चाहते हैं—धन सम्पत्ति में वृद्धि, परिवार में वृद्धि, यश और प्रसिद्धि में वृद्धि। विचार करने पर मालूम होता है कि इन इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं है। सब प्राणी यही चाहते रहते हैं कि कुछ और मिले। कुछ और की माँग कभी समाप्त नहीं होती। इन इच्छाओं को पूरा करने में कुछ पशुओं का ढङ्ग मनुष्य से अच्छा है, यहाँ तक कि उन बातों में आदमी उन पशुओं को अपना आदर्श मानता है। वह उसका अनुकरण करने की कोशिश कर रहा है। लेकिन इसके साथ ही यह भी तो बात है कि आदमी इस विषय में भी धीरे धीरे प्रगति कर रहा है। यद्यपि इस समय पशु पक्षी मनुष्य से आगे हैं, यह आशा की जाती है कि जबकि पशु पक्षी अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़नेवाले नहीं हैं, मनुष्य प्रगति करते-करते कभी-न-कभी न केवल पशुओं तक पहुंच जायगा वरन् इनसे आगे भी बढ़ सकेगा।

फिर जबकि पशु पक्षी अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति में लगे रहते हैं, आदमी यह भी विचार करता है कि जितनी इन इच्छाओं की पूर्ति की जायगी, उतनी ही वासनाएँ बढ़ती जायेंगी; जीवन अधिक चिन्ता और दुख में बीतेगा। धीरे धीरे, बहुधा अनेक दुखों को भोग लेने पर आदमी सोचता है, क्या सर्वत्र दुख ही दुख है। क्या धन-सम्पत्ति, दारा, सुत, परिवार, कीर्ति और यश सब दुख ही देनेवाले होते हैं? सुख कैसे मिले? और सुख वास्तव में है क्या चीज? आदमी को दुख क्यों मिलता है, इससे निवृत्ति कैसे हो? मुझे कौन-कौनसा कार्य करना चाहिए और कौनसा कार्य नहीं करना चाहिए। जिन कामों को मैं कर रहा हूँ, जिन-जिन बातों का मैं विचार कर रहा हूँ, वे कहाँ तक ठीक हैं? अपने कर्तव्य या धर्म के विषय में इस तरह का सोच विचार, तर्क-वितर्क करना मनुष्य की विशेषता है। अन्य प्राणियों में यह बात नहीं पायी जाती।

इस प्रसंग में संस्कृत कवि की वह युक्ति याद आती है, जिसका अर्थ यह है कि खाना, सोना, भय और मैथुन या काम-वासना—ये चारों बातें मनुष्य में और पशुओं में समान रूप से पायी जाती हैं; मनुष्य में धर्म ही विशेष है, विना धर्म के मनुष्य भी पशु ही है। मनुष्य यह सोच सकता है, कि कौनसा काम करने योग्य है, और कौन सा नहीं। वह अपनी गलती पर विचार करके, आगे से उसे न करने का निश्चय कर सकता है, वह यह सोच सकता है कि कौन सा सुख क्षणिक है, और कौनसा स्थायी। इस तरह वह अपनी इन्द्रियों को वश में करके अपनी शक्ति को दूसरों के हित-साधन में लगा सकता है। वह न केवल सब आदमियों में, वरन् पशु पक्षियों तक में अपनेपन का अनुभव कर सकता है। वह अपना जीवन विश्व-कल्याण के हित में लगा सकता है। यह ठीक है कि उसके मन में शंकाएं उठती हैं। वह तर्क-वितर्क करता है, उससे अनेक गलतियां होती हैं। लेकिन वह इन बातों से लाभ उठा सकता है, और धीरे-धीरे अपना सुधार या विकास कर सकता है।

जानवर गलती नहीं करते, जो बातें वे बचपन में करते हैं, उन्हें बड़े होने पर भी करते हैं, और जिन बातों को उनकी एक पीढ़ी करती है, उसी को दूसरी, तीसरी, चौथी पीढ़ी करती है। यहाँ तक कि सैकड़ों-हजारों वर्ष बाद भी उनके कामों में विशेष अन्तर नहीं आता। अनेक कीट-पतङ्ग दीपशिखा को देख कर जिस तरह पहले अपने प्राण गँवाते थे, उसी तरह अब भी गँवाते हैं। सांप सपेरे की बीन की आवाज सुनकर पकड़े जाते हैं, भौंरा कमल के रस का आनन्द लेते-लेते उसमें फंसा रह जाता है। इस तरह अनेक जानवर केवल एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। आदमी पर तो पाँच इन्द्रियों की प्रभुता हो सकती है; यदि वह विवेक बुद्धि से काम न ले, उन्हें वश में न रखे तो उसकी गुजर कैसे हो। लेकिन सौभाग्य से आदमी यह समझ सकता है कि इन्द्रियों के भोगों यानी विषय वासनाओं के पीछे दौड़ना मूर्खता है। यह समझ कर वह इन्द्रियों की दासता से छुटकारा पा सकता है। यह ठीक है कि अधिकांश आदमी

अभी तक इसमें सफल नहीं हुए हैं, लेकिन इस का कारण यह है उन्होंने इसके लिए सच्चा और दृढ़ प्रयत्न नहीं किया है। कोशिश करने पर उन्हें कामयाबी अवश्य मिलेगी। निदान, विवेकशील आदमी बीते हुए कल की भूल पर आज प्रायश्चित करता है, और बचपन की गलतियों को बड़े होकर छोड़ देता है, और हर एक पीढ़ी पिछली पीढ़ियों के काम और विचारों से शिक्षा लेकर आगे बढ़ती हैं; भौतिक जगत में ही नहीं, मानसिक और आध्यात्मिक जगत में भी। यह प्रगतिशीलता ही मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य और पशु में यही खास फरक है।

तीसरा अध्याय
प्रगति की अवस्थाएँ

हमने कहा है कि मनुष्य जाति प्रगति की अनेक मंजिलें तय करके अपनी मौजूदा हालत को पहुँची हैं। प्रगति की इन मंजिलों के बारे में लेखकों और विचारकों में बहुत मत भेद है। बात यह है कि बहुत पुराने जमाने के पूरे और ब्योरेवार इतिहास से हम परिचित नहीं है। जो अनुसंधान या खोज हुई है, उससे एक ही तरह का नतीजा नहीं निकलता। नये-नये अनुसंधान होते जा रहे हैं। बहुत सी बातों में थोड़े-बहुत अनुमान से काम लेना पड़ता है। निदान, एक लेखक प्रगति की अवस्थाओं का एक तरह से बयान करता है, दूसरा दूसरी तरह से।

अधिकांश योरपियन विद्वानों, वैज्ञानिकों और इतिहास-लेखकों का कथन है कि आदमी बहुत समय तक पशुओं की तरह रहा। पीछे उसने धीरे-धीरे सामाजिक जीवन तथा भाषा का व्यवहार आरम्भ किया। उसके बाद उसकी प्रगति की तीन अवस्थाएँ रही हैं—(१) जंगली, (२) बर्बर (असभ्य), और (३) सभ्य। इन तीन अवस्थाओं के तीन तीन भाग किये जाते हैं।

जंगली अवस्था में आदमी के सामने मुख्य कार्य यह था कि वह अपने जीवन-निर्वाह की चीजें पा सके, इसमें जो भौगोलिक या प्राकृतिक बाधाएँ हों, उन्हें दूर करे, या वह स्वयं उनसे दूर चला जाय। इस अवस्था का पहला भाग उस समय समाप्त हुआ, जब आदमी ने आग का आविष्कार किया और उसका उपयोग करना सीखा। अब आदमी फल मूल के अलावा मांस को भून कर खाने लगा। पहले आदमी पत्थर के जैसे-तैसे टुकड़ों से हथियार का काम लेता था, धीरे धीरे वह पत्थर की धार और नोक तेज करके उसकी छुरी और बर्छे बनाने लगा। पर इनसे दूर का निशाना नहीं लगता था। जंगली अवस्था का दूसरा भाग समाप्त होने तक उसने धनुष बाण का आविष्कार कर लिया। पीछे उसने मिट्टी के बर्तन बनाने और उन्हें आग में पकाने की बात मालूम की। इस प्रकार जंगली अवस्था के तीसरे भाग में आदमी अपने खाने की चीजों को भूनने के बजाय मिट्टी के बर्तनों में पकाने लगा।

जंगली हालत पार करके आदमी बर्बर या असभ्य अवस्था में आया, अब उसकी विजय का क्षेत्र पशु, पक्षी, वनस्पति, और खान से निकलनेवाली चीज़ों तक पहुँच गया। इस अवस्था का पहला भाग पशु-पालन के साथ समाप्त हुआ। अब पशुओं की मदद से आदमी खेती करने लगा। उसकी आवारागिर्दी कम हुई। वह घर बना कर रहने लगा। वह पशुओं पर सवारी करने, और माल असबाब ढोने लगा। इस तरह व्यापार का कार्य भी आरम्भ हुआ। बर्बर अवस्था के दूसरे भाग में आदमी खान से कच्चा लोहा निकालने और उसे गला कर साफ करने लगा। लोहे के अनेक औजार, हथियार, सवारियाँ और घरों के सामान बनने लगे। बर्बर अवस्था के तीसरे भाग में व्यापार बढ़ने के साथ पत्र-व्यवहार की भी आवश्यकता हुई। अपने विचार दूर रहनेवालों पर प्रगट करने के लिए लेखन-शैली का आविष्कार हुआ। लेकिन पहले चित्र-लिपि का ही उपयोग हुआ। अक्षर या वर्ण-लिपि तो बर्बर अवस्था के अन्त और सभ्य अवस्था के प्रारम्भ में आयी,

समझनी चाहिए।

बर्बर अवस्था के बाद आदमी ने सभ्य अवस्था में प्रवेश किया। अब उसकी विजय का क्षेत्र अधिक मानसिक और सूक्ष्म हो गया। वह स्थूल पदार्थों के अलावा प्रकृति की शक्तियों का भी अध्ययन और प्रयोग करने लगा। इस अवस्था के प्रथम भाग का अन्त होने तक उसने बारूद का आविष्कार कर लिया। दूसरे भाग में उसने भाप के एंजिनों का प्रयोग किया। तीसरा भाग तो अभी चल ही रहा है, जिसमें गैसों और बिजली आदिसे चलनेवाले नित्य नये यंत्रों का निर्माण हो रहा है, जिनके द्वारा समय और दूरी के अन्तर को मिटाने का प्रयत्न हो रहा है; और, उसमें सफलता मिलती जा रही है।

बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बढ़ने के साथ, आदमी का अपने साथियों से सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध भी बढ़ता रहा है। उसने परिवार, कबीलों और कुलों का संगठन किया। ग्राम और नगर बसाये। नागरिकता की भावना बढ़ायी। नगर-राज्यों और राष्ट्रों का संगठन किया। इस समय तो कई साम्राज्य और संघ-राज्य भी मौजूद हैं; और, विश्व भर में एक राज्य स्थापित करने का विचार हो रहा है।

ऊपर जो प्रगति की तीन अवस्थाओं की बात कही गयी है, वह बहुत स्थूल या मोटे हिसाब से ही है। खासकर जंगली और बर्बर अवस्था का कोई निश्चित विवरण हमारे सामने नहीं है; कारण उसे बीते हुए बहुत मुद्दत हो गयी। फिर, उस समय लेखन-प्रणाली का चलन नहीं हुआ था। और, जो थोड़े-बहुत पुराने निशान अब मिलते हैं, उनसे कुछ ठीक सर्वसम्मत नतीजा नहीं निकाला जा सकता। जंगली, और बर्बर अवस्था की बात तो दूर रही, 'सभ्यता'-काल के भी शुरू के बहुत से हिस्से की हालत का हमें यथेष्ट परिचय नहीं। कितनी ही सभ्यताएँ उत्पन्न हुई और नष्ट भी हो गयीं। जातियाँ बनीं और बिगड़ीं, उठीं और गिरीं, पर प्रायः वे अपने पीछे कोई ऐसा इतिहास नहीं छोड़ गयीं, जो अब तक सुरक्षित रहता और जिसे आधुनिक

मनुष्य अच्छी तरह समझ सकता। इस लिए प्राचीन काल की जातियों के उत्थान और पतन का समय और घटनाएँ भी बहुत कुछ अन्दाज से ही बतायी जाती हैं, और कितनी ही जातियों के बारे में तो कुछ ठीक कहते ही नहीं बनता। अलग-अलग इतिहासकारों के जुदा-जुदा विचार हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मानव प्रगति के विचार से साधारण इतिहास काल के तीन भाग किये जा सकते हैं—

(१) ई० पू० ६००० से, ई० पू० २००० तक—मिस्र, बेबिलन, चीन और भारतवर्ष की सभ्यता का पहला रूप।

(२) ई० पू० २००० से सन् ७०० ई० तक—मिस्र, चीन और भारत की सभ्यता का पिछला रूप; और यूनान, रोम, असीरिया, फोनिशिया और ईरान की सभ्यता का उदय।

(३) सन् ७०० ई० के लगभग से खासकर पश्चिमी सभ्यताओं का उदय।

सभ्यता तीन तरह की होती है। पहली तरह की सभ्यता में भौतिक, आर्थिक या औद्योगिक उन्नति करने का विचार मुख्य होता है। सैनिक शक्ति बढ़ाने पर जोर दिया जाता है; अच्छे बलवान शासक और सेनापति सामने आते हैं। आदमियों का ध्यान ज्यादहतर शारीरिक सुखों की ओर रहता है। दूसरी तरह की सभ्यता का विशेष लक्षण मानसिक उन्नति है। इसमें तर्क, विज्ञान, दर्शन आदि की उन्नति होती है; युद्ध और सेनाओं का महत्व कम हो जाता है। तीसरी तरह की सभ्यता नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की होती है।

ऊपर सिर्फ़ उदाहरण के तौर पर थोड़े से देशों की सभ्यता का समय दिया गया है, और वह भी मोटे अन्दाज़ से। जिन देशों की सभ्यता ने पहले और दूसरे युग में उन्नति की, उनमें से सिर्फ चीन और भारत की ही सभ्यता इस समय तक रह पायी है। यूनान तीसरी तरह की सभ्यता में आने लगा था, पर विशेष आगे न बढ़ा। तीसरे

युग की अर्थात् आधुनिक सभ्यताएँ तो अभी कुछ अंश में पहली और कुछ अंश में दूसरी कोटि में हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने उन्हें पूँजीवादी बनने में सहायता दी है। वे अपने देशों से बाहर बाज़ार ढूँढ़ने और उन पर कब्ज़ा जमाये रखने में लगी हैं। इसके लिए विशाल सेनाएँ और सैनिक सामग्री की ज़रूरत होती है। इन देशों का आपस में तथा दूसरों से संघर्ष होना स्वाभाविक है। इसका नतीजा युद्ध, महायुद्ध और विश्व-युद्ध है।

जब तक किसी सभ्यता में नैतिक गुणों की अपेक्षा भौतिक उन्नति बहुत अधिक रहती है, तब तक उसमें स्थिरता नहीं मानी जासकती; यही शंका रहती है कि वह न मालूम कब नष्ट हो जाय। किसी सभ्यता की स्थिरता इस बात पर निर्भर होती है कि वह भौतिक उन्नति के साथ नैतिक उन्नति भी काफी परिमाण में करे। यह ठीक है कि एक सीमा तक भौतिक उन्नति बहुत ही ज़रूरी है, उसके बिना काम नहीं चल सकता; परन्तु अकेली वही काफी नहीं है। किसी जाति की सभ्यता को विशेष समय तक बने रहने के लिए उसकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी यथेष्ट होनी चाहिए। इसी तरह नैतिक और आध्यात्मिक बातों में लगी रहनेवाली, भौतिक उन्नति की अवहेलना करनेवाली, संसार को मायाजाल समझनेवाली, और परलोक की बातों में ही अधिकतर समय और शक्ति लगानेवाली सभ्यता का जीवन भी कंटकमय ही रहता है। असल में ज़रूरत इस बात की है कि हरेक जाति, देश या राष्ट्र भौतिक, मानसिक, और नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति उचित अनुपात में करे; इन तीनों का ठीक समन्वय ही यथेष्ट प्रगति है।

———

दूसरा भाग

शारीरिक आवश्यकताएँ

जीवन वास्तव में गति है। मनुष्य में गति है, इसी लिए वह अपनी तृप्ति के साधन एकत्रित कर पाता है। उसकी तृप्ति-प्राप्ति के प्रयत्न उसके जीवन के द्योतक हैं।

—इन्द्रप्रताप तिवारी

चौथा अध्याय

भोजन

गाय और भैंस के दूध की बजाय डिब्बे के दूध या दूध के चूर्ण का प्रयोग करोड़ों लोग कर रहे हैं। आजकल और भी अनेक प्रकार के भोजन-सार (कन्सेंट्रेटेड फ़ूड) बन रहे हैं, जिनके द्वारा मनुष्य एक छटांक खाकर ही आधा सेर का काम चला सकता है। ऐसे भोजनों में समय बहुत कम खर्च होगा; चौके चूल्हे, चकला बेलन और तवे की समस्या का अन्त हो जायगा। —सत्यभक्त

दूसरे प्राणियों की तरह आदमी की यह स्वाभाविक इच्छा है कि अपने आप को जिन्दा रखे। इसके लिए वह अपने खाने पहनने और रहने का इन्तजाम करता है। इस काम में आदमी ने क्या प्रगति की है, इसका विचार करने के लिए पहले भोजन का विषय लिया जाता है।

जहाँ तक मालूम हो सका है, और साधारणतः समझ में आता है, शुरू में आदमी के खाने की चीजें या तो जङ्गली तौर पर पैदा होनेवाले पेड़ पौधों के फल मूल कन्द थीं, या जानवरों का मांस और मछलियां। उस समय वह अघोरी यानी सब तरह की चीजें खानेवाला था। उसे जो कुछ मिल जाता, उसे ही खा लेता। वह जानबूझ कर न फलाहारी था और न मांसाहारी ही। उसका भोजन इस बात पर निर्भर था कि जिस जगह वह रहता, वहाँ क्या मिल सकता था। सम्भव है कुछ जगह ऐसी उपजाऊ हो कि वहाँ कुदरती तौर से बहुत समय तक काफी फल,

शाक, मूल, कन्द आदि मिलते रहे। वहाँ आदमी का, मांस न खाना या बहुत ही कम खाना स्वाभाविक था। दूसरी जगहों में जहाँ कुदरती फल आदि की कमी रही, वहाँ आदमी के लिए मांस, मछली खाने के सिवाय कोई चारा ही न था। शुरू में उसे किसी भी पशु पक्षी आदि के मांस से परहेज न था। यह तो खाने की चीजों के भेद की बात हुई। आदमी की खुराक के परिमाण के बारे में बात यह थी कि अगर उसे मिल सकता तो वह अपनी मामूली खुराक से बहुत ज्यादा खा जाता था। लेकिन अकसर ऐसा अवसर आता था कि उसे खाने को काफी नहीं मिलता था, और कभी-कभी तो कुछ भी नहीं मिल पाता था। ऐसी हालत में आदमी कई-कई दिन तक भूख सहता और उपवास या अनाहार करता था। उस जमाने में आदमी के खाने का कोई समय नियत न था; बिलकुल सवेरा हो, कुछ दिन चढ़ा हो, दोपहर हो, तीसरा पहर हो या शाम या रात हो—जब भी कुछ मिल जाता, वह खाने को तैयार रहता था।

आग का आविष्कार होने के पहले आदमी हर चीज़—मांस हो, या जङ्गली फल या अनाज—कच्ची ही खाता था। जब उसे आग का उपयोग करना आ गया, तो वह चीजों को भून कर खाने लगा। इसके भी बहुत समय बाद उसने खाना पकाना सीखा। शुरू में उसके पास मिट्टी या धातुओं के बर्तन तो थे ही नहीं; वह चमड़े के बर्तनों से ही काम चलाता था। वह उनमें पानी डाल कर रख लेता और पास ही आग जला कर पत्थर के टुकड़े खूब गरम करता और उन गरम पत्थरों को लकड़ी या पत्थर के सहारे चमड़े के बर्तनों में डालता, पीछे उन बर्तनों में मांस या अन्न आदि डाल देता। इस तरह पानी उबलने लगता और आदमी का भोजन पकता था।

आदमी धीरे-धीरे तरक्की करके, पशुओं को पालने लगा और चरवाहे का जीवन बिताने लगा। चरवाहा बनकर भी आदमी ने मांस खाया तो सही, पर बहुत ज्यादा नहीं। चरवाहा अपने पशु को मांस के लिए मारने का जल्दी विचार नहीं करता; पशु उसका धन है, जिसे

बढ़ाने की तरफ उसका ध्यान रहता है। चरवाहा किसी जानवर को अकसर उसी हालत में मारना पसन्द करता है जब कि जानवर बीमार हो, या कोई त्योहार या उत्सव हो अथवा किसी 'धार्मिक' काम के लिए कुर्बानी करनी हो। फिर, चरवाहों को दूध का बहुत शौक होता है; इसलिए दुधारू पशुओं की तो जहाँ तक बने वे रक्षा ही करते हैं। अस्तु, चरवाहे की हालत में आदमी ने मांस का उपयोग पहले से कम किया। पीछे जब खेती का काम चल निकला तो पशुओं का, खासकर पाले हुए पशुओं का, मांस खाया जाना और भी कम हो गया। खेती करने वालों का ध्यान खेती की तरफ ही ज्यादा रहता है, वे अकसर उन्हीं पशुओं को पालते हैं, जो खेती के काम आते हैं।

यह जाहिर ही है कि शुरू में आदमी ऐसी चीज खाता था, जिसे पैदा करने के लिए उसे कोई मेहनत करनी नहीं होती थी, यानी जो कुदरती तौर से मिल जाती थी। वह जङ्गल में अपने आप पैदा होने-वाले फल आदि खाता था, या शिकार अथवा मछलियों आदि पर गुजर करता था। खेती की बात मालूम होने पर आदमी तरह तरह के फल, शाक या अन्न पैदा करने लगा। अब वह कुदरती तौर से मिलनेवाली चीजों के अलावा, अपनी मेहनत से पैदा की हुई चीजें भी खाने लगा। ध्यान देने की एक खास बात यह है कि शुरू में आदमी ने अपना रहनसहन और जीवन अपने भोजन को दृष्टि में रखकर उसके अनुसार बनाया। आवश्यकता के अनुसार वह शिकारी, चरवाहा या किसान रहा है। पहले, विद्वानों की प्रायः यह समझ थी कि आदमी शिकारी की अवस्था पार करके चरवाहे की अवस्था में आया और उसके बाद किसान बना; और जो भी समूह इस समय किसान की अवस्था में हैं, वे पहले शिकारी और चरवाहे की दशा में रह चुके हैं। लेकिन जांच और खोज से मालूम हुआ कि यह जरूरी नहीं है कि खेती करनेवाले समूह पहले चरवाहे अवश्य ही रहे हैं। आम तौर से यह कहा जा सकता है कि प्रगति या विकास का कोई एक निश्चित क्रम या सिलसिला नहीं है, बल्कि कई अलग-अलग क्रम हैं; वे देश काल

या वातावरण पर निर्भर रहे हैं। इतिहास में ऐसी भी मिसालें मौजूद हैं कि खेती करनेवाले आदमी पीछे पशु-पालन में लग गये जब कि या तो उनके देश में कोई खास परिवर्तन हो गया या वे दूसरी ऐसी जगह चले गये जहाँ की हालत पशु-पालन के अनुकूल थी।

खेती ने आदमी को अपने भोजन के लिए तरह-तरह की चीजें पैदा करनी सिखायी। अब उसका भोजन उन्हीं चीजों तक परिमित न रहा, जो उसे प्रकृति से खुद ही मिल जायँ। अब उसकी, आविष्कार और प्रयोग करने की प्रवृत्ति को प्रकट होने का खूब मौका मिलने लगा। वह जांच करता कि कौनसी चीज़ खाने में अच्छी है, कौनसी कड़वी, कसैली, चरपरी या जहरीली है और कौनसी स्वादिष्ट, मीठी, पौष्टिक आदि है। अच्छी-अच्छी चीजों को वह पैदा करता गया। आगे और प्रगति का नतीजा यह हुआ कि कुदरती तौर से मिलनेवाली चीजों का भोजन और कम हो गया; ज़्यादातर वे चीजें खायी जाने लगीं, जो आदमी की अपनी मेहनत से पैदा होतीं।

ज्यों ज्यों आदमी का ज्ञान बढ़ा, उसने खायी जाने वाली चीजों के गुणों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया। उसने मालूम किया कि किस चीज को खाने से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, वह शरीर के किस तत्व को बनाने में सहायक या बाधक होती है, और किन-किन चीजों के मिश्रण में क्या गुण या अवगुण हो जाते हैं। भारतवर्ष का आयुर्वेद संसार का बहुत पुराना साहित्य है, इसमें मनुष्य की आयु या स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत उत्तम ज्ञान मिलता है। यहाँ संस्कृत में ऐसा बहुत सा साहित्य है, जिसमें खाद्य पदार्थों के गुण दोष बहुत ब्योरे-वार बताये गये हैं। अब तो सभी देशों में इस तरह का थोड़ा-बहुत साहित्य है, और वह बढ़ता जा रहा है। आदमी इससे ज्ञान प्राप्त करके बहुत लाभ उठा सकता है।

कुछ वर्षों से विटामिन (पोषक तत्वों) की बड़ी चर्चा है। विटा-मिन सभी ताजे पदार्थों में होते हैं, पर अभी तक उन्हें अलग नहीं किया जा सका है। यह माना जाता है कि विटामिन 'ए' शरीर के बढ़ने के

लिए आवश्यक है। यह मक्खन, मलाई, हरे शाक-भाजी, मांस और मछली के तेल में मिलता है। भोजन में इस विटामिन की कमी होने से हड्डियों की बीमारी होती है। चीजों को उबालने, औटाने, तलने या छौंकने से यह विटामिन कम रह जाता है। विटामिन 'बी' पाचन शक्ति या हाज़मे को ठीक करता है। यह फल, सब्जी, अनाज, मटर और सेम की फली आदि में होता है। विटामिन 'सी' खून साफ करता है; यह टमाटर और रसदार फल में, और अन्न के अंकुर निकले हुए रूप में, अधिक होता है। इसी तरह 'डी', 'ई', 'एफ' आदि विटामिन भी हैं। जिन चीज़ों में विटामिन नहीं होते या बहुत ही कम होते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—डिब्बे में बन्द रहनेवाली खुराक, चाय, कहवा, मैदा, बेसन, शरबत आदि। विटामिन के सम्बन्ध में अभी शोध और आलोचनाएँ हो रही हैं, क्रमशः इस विषय पर और प्रकाश पड़ने की आशा है।

इधर कुछ समय से आदमी कृत्रिम भोजन बनाने की फ़िक्र में है। पिछले महायुद्ध के समय जर्मनी ने ऐसा भोजन तैयार किया था। इसमें अभी पूरी सफ़लता नहीं मिली, लेकिन प्रयोग और प्रयत्न जारी हैं। सुना है भारतीय योगी कुछ जड़ी बूटियों का सेवन करते हुए कई-कई दिन या हफ्ते भोजन नहीं करते। वैज्ञानिक यह आशा करते हैं कि धीरे धीरे कुछ समय में ऐसा कृत्रिम भोजन तैयार करने में सफलता मिल जायगी कि उसकी कुछ छोटी-छोटी गोलियाँ खा लेने पर आदमी को दिन भर भोजन की ज़रूरत न होगी। इस समय आदमी की बहुत सी क्रियाएँ भोजन के लिए ही होती हैं। जब ऊपर लिखा कृत्रिम भोजन काम में आने लगेगा तो आदमी के जीवन में कितना परिवर्तन हो जायेगा! घर-घर चूल्हे चौके का ऐसा काम न रहेगा, शहरों में होटल रसोई घर, हलवाई, आदि की ज़रूरत न रहेगी। रोजमर्रा का साधारण काम इनके बिना ही मज़े में चल सकेगा।

वैज्ञानिक भोजन बनने लगने पर एक खास बात यह होगी, कि हर एक आदमी को उसके शरीर और प्रकृति के अनुसार ही भोजन दिया जायगा। अब तो कुछ खास रोगियों को छोड़कर अकसर घर भर के सब

आदमियों के लिए एक ही तरह का भोजन बनता है; चाहे कोई लम्बे कद का हो या ठिंगना, कोई मोटा हो या दुबला, कोई बलवान हो या कमजोर। विज्ञान ऐसी प्रगति की सूचना दे रहा है, जब हरेक आदमी को अलग-अलग ऐसा भोजन मिलेगा, जिसमें उसके लिए सब आवश्यक तत्व हों, और जिसमें कोई भी हानिकर या अनुपयोगी अंश न हो।*

अच्छा, हम भविष्य की बातों को छोड़ कर मौजूदा हालत का विचार करते हैं। इस समय आदमी प्रायः खाने पीने की चीज़ों के गुण दोषों का विशेष विचार नहीं करता। वह खाना खाने में अपनी रुचि, शौक, या परम्परा का ही ध्यान ज्यादह रखता है। वह भूल जाता है कि भोजन के मुख्य उद्देश्य ये हैं—(१) शारीरिक परिश्रम से टूटे हुए शरीर-तंतुओं की मरम्मत करना तथा शरीर को पोषक तत्व प्रदान करना, (२) शरीर की खर्च होनेवाली शक्ति की पूर्ति करना, और (३) शरीर को गरम बनाये रखना। जो आदमी इस बात को जानता है, वह भी अपने खाने की चीज़ों का चुनाव करने में ऐसे विचार को गौण समझता है। उसका लक्ष्य प्रायः यह रहता है कि जीभ को तरह-तरह के पदार्थों का स्वाद मिले। यही कारण है कि अनेक प्रकार के मीठे या नमकीन पकवान बनाये जाते हैं, चटपटी मसालेदार चीज़ों की भी संख्या कम नहीं। आदमी अपने भोजन में कितने ही मसाले खा जाता है, जो शरीर के लिए कुछ लाभदायक नहीं, बल्कि कुछ अंश में नुकसान ही पहुँचाते हैं।

जब आदमी एक ही समय में तरह-तरह की चीज़ें खाता है, तो वह हर चीज को थोड़ी-थोड़ी खाते हुए भी सब मिला कर अपनी

*बारह वर्ष पहले, सन् १९३३ में, डा० हेमचन्द्र जोशी ने 'विश्वमित्र' में लिखा था—'जर्मनी में, पाकशास्त्र में निपुण नारियाँ भोजन बनाने में अपने घर के प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान रखती हैं। मोटा जर्मन सूजी की लप्सी कभी न खायगा और न वह 'केक' और मिठाइयाँ चखेगा। वह तो बिना घी का शोरबा और फीका मांस खायगा।'

जरूरत से ज्यादा खा जाता है। इससे उसका स्वास्थ्य बिगड़ता है और उसका रोगी होना स्वाभाविक है। जब आदमी हर रोज अधिक खाने लगता है तो पीछे उसकी यह आदत छूटनी मुश्किल हो जाती है। मध्य और ऊँची श्रेणी के बहुत से आदमियों की अधिकांश बीमारियों का कारण यही है कि वे तरह-तरह की बहुत सी चीजें खाते हैं और स्वाद के कारण जरूरत से ज्यादा खा जाते हैं। जहाँ तक बने, एक ही समय में बहुत तरह की चीजें न खानी चाहिएँ।

एक और दृष्टि से भी एक समय में अलग-अलग तरह की बहुत सी चीजें खाना अनुचित है। हर एक चीज की अपनी-अपनी विशेषता होती है। कोई चीज जल्दी हज्म होती है, कोई बहुत देर में। पेट में पहुँचने पर कुछ का रस जल्दी बनने लगता है, और कुछ का बहुत देर बाद। इससे पाचन क्रिया में बड़ी गड़बड़ मचती है। इसके अलावा कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं कि उनका एक दूसरे के साथ मेल नहीं बैठता। बेमेल भोजन से शरीर में बहुत विष और विकार पैदा होता है। आदमी को चाहिए कि एक समय में न तो ज्यादह चीजें खाये, और न बेमेल भोजन ही करे, जीभ को वश में रखे, जिससे शरीर के हित के लिए जो चीज जितनी आवश्यक हो उतनी ही, खायी जाय।

लेकिन होता क्या है? अब तो जो अन्न, शाक, भाजी, फल आदि जमीन में पैदा होता है, या दूध और मांस जो पशु पक्षियों से मिलता है, उसको सभ्य आदमी बहुत सी ऐसी क्रियाओं के बाद खाता है कि उनका रूप रंग और स्वाद बिलकुल बदल जाता है। आधुनिक आदमी कितनी तरह की जुदा-जुदा चीजें तैयार करके खाता है, इसका हिसाब लगाना बहुत ही कठिन है। अब यह पशुओं या जङ्गली आदमी की तरह देश काल का बन्धन नहीं मानना चाहता। वह कितनी ही चीजें ऐसी खाता है जो सैकड़ों या हज़ारों मील दूर से आती हैं। मिसाल के तौर पर भारतवर्ष में बड़े-बड़े शहरों में ही नहीं, कितने ही भीतरी कस्बों में जहाँ रेल आदि की पहुँच नहीं है, कंधारी अनार, कश्मीर के सेब, नागपुर के संतरे, कलकत्ते या बम्बई के केले

आदि बिकते हैं। यहाँ हर वर्ष लाखों रुपये की खाने की चीजें विदेशों से डिब्बों में बन्द की हुई आती हैं। बे-मौसमी फलों या शाक-भाजी को खाने में अलग ही शान समझी जाती है। इसलिए कितनी ही चीजें इस अन्दाज से पैदा की जाती हैं कि वे शौकीन लोगों को ऐसे समय में मिल जायँ, जबकि वे आम तौर से नहीं मिल सकतीं। फिर, खाने की एक-एक चीज कई कई तरह से बनायी जाती है। रोटी को ही लीजिए—फुलका, सादी रोटी, पूरी, परांठा, पुआ, मीठी रोटी, नमकीन रोटी, डबल रोटी, बिसकुट आदि कितने ही भेद हैं। शाक, भाजी, मिठाइयां और नमकीन चीजों की कुछ गिनती ही नहीं। चटनी, अचार, मुरब्बे भी बहुत क़िस्म के होते हैं। पीने के लिए सादे पानी या दूध से आधुनिक आदमी को सन्तोष नहीं। हर मौसम में जुदा-जुदा पेय पदार्थों का सेवन किया जाता है; ठंढाई, शर्बत और सोडावाटर बहुत तरह के बनाये जाते हैं। चाय का प्रचार घर-घर हो चला है। शराब पीनेवालों के लिए कई तरह की शराब तैयार है। इस तरह खाने की देशी और विदेशी चीजों का कोई अन्त ही नहीं। पाठक जानते ही हैं कि दावतों में कहीं-कहीं खाने-पीने की तीस चालीस से भी अधिक चीजें परोसी जाती हैं। अगर किसी एक देश की भी खाने-पीने की सब चीजों की सूची बनायी जाय तो आश्चर्य ही होगा कि आदमी कितनी चीजों का उपभोग करता है। जिनके पास काफी धन है उन्हें तो कहीं भी पैदा होने वाली या तैयार की जाने-वाली चीज मिल सकती है। विज्ञान के विविध साधन सेवा के लिए मौजूद हैं।

पिछले दिनों की बात है, करांची में कुछ अमरीकन सैनिक उतरे थे। उनके भोजन का प्रबन्ध एक बढ़िया होटल में किया गया। होटल के मेनेजर को उनके आने की सूचना सिर्फ चौबीस घण्टे पहले मिली थी, और उससे कहा गया था कि भोजन के लिए दूसरी चीजों के अलावा एक खास किस्म की मुर्गी का मांस भी होना चाहिए। मेनेजर ने कई जगह जरूरी (अर्जेण्ट) तार देकर उस मुर्गी के मिलने की बात

पूछी। उसे मालूम हुआ कि वे मुर्गियां इलाहाबाद में मिल सकती हैं। फौरन हवाई जहाज इलाहाबाद भेजकर वे मुर्गियां मँगायी गयीं, और सैनिकों के भोजन के साथ उन मुर्गियों का मांस भी तैयार कर दिया गया।

आदमी के भोजन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि शरीर स्वस्थ रहे और हृष्ट-पुष्ट हो। अनुभव और प्रयोग से यह मालूम हो गया, और मालूम होता जाता है कि खाने-पीने की किस किस चीज में क्या-क्या तत्व है, और शरीर को किन-किन तत्वों की जरूरत होती है। लेकिन कुछ आदमी तो अज्ञान से, और कुछ आदमी शौकीनी या स्वाद के कारण, उस ज्ञान का उपयोग नहीं करते। पाठक अपने देश काल को ध्यान में रख कर, और शरीर-शास्त्र की जानकारी रखने वालों से सलाह-मशविरा करके यह विचार कर सकते हैं कि उन्हें अपने भोजन में क्या सुधार करना है। आदमी ने भोजन के बारे में समय-समय पर परिवर्तन किया है; आदर्श के विचार से उसे अभी काफी मंजिलें तय करनी हैं। आशा है, वह धीरे-धीरे इस ओर प्रगति करेगा।

पांचवां अध्याय

कपड़ा

आगे चल कर कागज़, तरह तरह की धातुओं और कांच के कपड़े पहिनने की सम्भावना पैदा हो रही है। कपड़े चमकीले तो होंगे ही, मैले भी न होंगे, और उनके पहिननेवालों को धोबियों की ज़रूरत बहुत ही कम पड़ेगी। यही बात निकल आदि धातुओं से बने कपड़ों के बारे में समझनी चाहिए। —सत्यभक्त

आजकल करीब-करीब सभी आदमी कपड़े पहिनते हैं। पहले ऐसा न था। शुरू में आदमी पशु पक्षियों की तरह नंगा रहता था।

उसके, नग्न अवस्था को छोड़ कर कपड़ा पहिनने के तीन कारण माने जाते हैं—(१) शरीर की सर्दी-गर्मी से रक्षा, (२) शर्म या लज्जा का भाव, और (३) शरीर की सजावट। आम तौर से इनमें से पहली दो बातों को बड़ा महत्व दिया जाता है। परन्तु इतिहासकारों का कथन है कि आदमी में लज्जा का भाव शुरू में था ही नहीं, यह तो बहुत पीछे पैदा हुआ। यह भाव कपड़ा पहनने का कारण नहीं, बल्कि उसका परिणाम है। इसी तरह सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा की बात है। जब आदमी जङ्गली हालत में रहता था तो उसे सर्दी-गर्मी ज्यादा नहीं सताती थी। उसमें पशुओं की तरह सहन करने की शक्ति काफी थी, पर पीछे धीरे-धीरे कम हो गयी। इस तरह शुरू में आदमी को कपड़े की जरूरत सर्दी और गर्मी से बचने के लिए नहीं थी। चाहे यह बात पाठकों को कुछ अजीब-सी मालूम हो, खोज से यह पता लगा है कि आदमी को पहले-पहल कपड़े पहनने की जरूरत अपना शरीर सजाने की इच्छा से हुई। जब आदमी बहुत समय तक कपड़ा पहनता रहा तो उसे पहनने की आदत हो गयी। यहाँ तक कि कपड़ा न पहनने पर उसे बुरा लगने लगा। धीरे-धीरे वह यह अनुभव करने लगा कि बिना कपड़ा पहने सर्दी लगती है, इसलिए सर्दी से बचने के लिए कपड़ा पहनना जरूरी है। इसके बहुत अर्से बाद आदमी में यह भावना पैदा हुई कि कपड़ा पहनना इसलिए जरूरी है कि उससे लज्जा का निवारण होता है। समाज में जो लोग कपड़ा पहिने न होते, वे निर्लज्ज या बेशर्म समझे जाने लगे। वस्त्र हमारी सभ्यता या शिष्टाचार का चिन्ह या निशानी बन गया।

इस सम्बन्ध में 'चाँद' के मारवाड़ी अङ्क के नीचे लिखे अंश से अच्छा प्रकाश पड़ता है—"अत्यन्त प्राचीन काल में, जब मनुष्य जाति आज की तरह सभ्य नहीं हुई थी और वस्त्रों का निर्माण नहीं हुआ था—तब मनुष्य पशुओं की तरह नंगे रहते थे। धीरे-धीरे मनुष्यों के हृदयों में भावुकता पैदा होने लगी, और शरीर को सजाने तथा कृत्रिम रीति से रंगने की रीति चली। उन्होंने रंग बिरंगी मिट्टी से

शरीर को रंगना शुरू किया। बाद में उन्होंने गोदने गुदवा कर शरीर पर स्थायी रंगीन चिह्न अङ्कित करने भी सीख लिये। इसके बाद उन्होंने यह पसन्द किया कि केवल रङ्ग लगाने की अपेक्षा पत्तियों, वृक्षों की छालों, और पशु-चर्मों से शरीर को जहाँ तहाँ से ढक लिया जाय, जिससे चाहे जब ये आवरण उतार दिये जाँय, और चाहे जब बदल लिये जायँ।

"इस समय तक गुप्ताङ्ग की तरफ किसी का ध्यान न था। पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः टांग सिर एवं गर्दन को विविध वस्तु लपेट कर ढकते और सजाते थे—गुप्तांगों को प्रायः खुला छोड़ देते थे। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि शरीर में उपस्थेन्द्रिय अधिक कोमल है और उसकी रक्षा की खास तौर से आवश्यकता है। इसके सिवा मल मूत्र विसर्जन करना भी एक ऐसी आवश्यकता थी, जिसे मनुष्य विचारशील होने के कारण एकान्त में करना उचित समझने लगे। सर्वत्र मल मूत्र विसर्जन करने से घृणा उत्पन्न होने का भय था। फिर, उन अङ्गों को शुद्ध करना भी आवश्यक था। इन सभी बातों के कारण इन अङ्गों को गुप्त रखने, ढकने आदि की तरफ मनुष्य-समाज का ध्यान बढ़ चला। लज्जा अब तक उत्पन्न नहीं हुई थी। पर यह बात अनुभव से देखी गयी कि इन अवयवों को यत्न से ढकने पर काम के वेग की उत्तेजना मिलती है। इस अनैसर्गिक उत्तेजना के प्रादुर्भाव ने स्त्री पुरुषों में गुप्तांगों को यत्नपूर्वक ढकने की रीति के साथ ही 'लज्जा' का भी समावेश कर दिया। इसके बाद ही वस्त्रों की कड़ी आवश्यकता ने वस्त्रों का आविष्कार करा दिया और मनुष्य जाति सभ्यता के युग में एक कदम आगे बढ़ी।"

जङ्गली हालत में आदमी पहले वृक्षों की छाल या पत्तों को अपने शरीर से लपेट लिया करता था, पीछे वह समूर या चमड़े से काम लेने लगा। स्त्री चमड़े को शरीर पर लिपटे रहने के काबिल बना लेती थी। तेज नोकवाली हड्डी से वह चमड़े के सिरों पर छेद करती, और छेदों में किसी पशु की सूखी हुई नस या किसी पौधे के मजबूत

रेशे पिरोकर सिलाई का काम करती। अब सूई और डोरे का रूप सुधरते-सुधरते बहुत ही बदल गया है, इसके सामने पुराने जमाने के साधन बहुत ही पिछड़ी हुई दशा के सूचक हैं, तो भी उस समय उनका आविष्कार होना बड़ी बात थी। एक-एक काम को करने की विधि, जो अब बिलकुल मामूली दिखायी देती है, आदमी को शुरू में बहुत से प्रयोगों और अनुभवों से मालूम हुई। प्रगति बहुत धीरे-धीरे ही हुई है।

मिसाल के तौर पर चमड़े के कपड़े में बटन लगाने की बात लें। "पुरातत्ववेत्ताओं ने इस बात का पता लगाया है कि बटन का आविष्कार प्रस्तर-युग में हो चुका था—जब मनुष्य पत्थर के सिवा और किसी धातु से परिचित नहीं था। यह अनुमान किया जाता है कि एक दिन शीतकाल में, जब तेज और तीखी हवा चली होगी, और प्रस्तर-युग के किसी एक अपेक्षाकृत समझदार व्यक्ति का चमड़े का लबादा उड़ने से वह जाड़े से ठिठुरने लगा होगा, तो उसने चमड़े की बाईं तरफ एक छेद बनाया होगा, और दाहिनी तरफ का एक हिस्सा उस छेद के भीतर डालकर उसे बाहर को खींच लिया होगा। इस प्रकार कुछ समय तक वह जाड़े से छुट्टी पा गया होगा। पर उसके हिलने डुलने से कुछ ही समय बाद वह फिर खुल गया होगा। उस दिन उस प्रस्तर-युग के बर्बर मनुष्य ने रात के समय अपनी गुफा के भीतर वाली आराम कोठरी में लेटे-लेटे कोई ऐसी तरकीब सोचनी शुरू की होगी, जिससे उसका लबादा हवा के जोर से न खुलने पावे। अंत में निश्चय ही उसे एक तरकीब सूझ गयी होगी। वह तरकीब यह थी—अपने भोजन में से बची हड्डियों से उसने एक छोटी सी खूंटी तैयार की और अपने लबादे के दाहिनी ओर एक स्थान पर एक छोटे से छेद के जरिये से उस खूंटी को जमा दिया। उसके बाद बाईं तरफ वाले छेद के भीतर बटन की तरह उस खूंटी को लगा दिया। तब से उसका लबादा खुलने नहीं पाया। इस प्रकार बटन का आविष्कार हुआ।"*

---

* "साप्ताहिक भारत" से।

अभी तक चमड़े की पोशाक की बात हुई। धीरे-धीरे स्त्री ने भेड़ों से ऊन संग्रह की। उस ऊन के डोरे बनाये और उनका कपड़ा बुना। पीछे कभी किसी समय उसका ध्यान सन या पटसन के पौधे की तरफ गया। उसने देखा कि इसका रेशा बहुत बारीक, मुलायम और मजबूत है। इसका उपयोग कपड़ा बनाने के लिए किया जा सकता है। और यह कपड़ा ऊनी कपड़े जैसा गरम नहीं होता, इस लिए गरमी की मौसम में या धूप के समय भी पहना जा सकता है। इस तरह सन पटसन की खेती की जाने लगी।

संयोग से किसी समय कपास का डोडा देखने में आया। मालूम हुआ कि उसमें से बीज (बिनौला) अलग कर दिया जाय तो उसका रेशा भी कपड़ा बुनने के काम आ सकता है। हाँ, हाथ से उसका एक-एक बीज अलग करना कुछ आसान काम न था। उसमें बहुत देर लगती थी। इसीलिए पुराने जमाने में इसका बहुत से देशों में प्रचार नहीं हुआ। आदमी को यह फिक्र लगी रही कि कपास में से बिनौले अलग करने की कोई आसान तरकीब निकल आये। भारी उधेड़-बुन के बाद चर्खी का आविष्कार हुआ। चर्खी से कपास 'ओटी' जाने लगी, यानी रुई और बिनौले अलग-अलग किये जाने लगे। फिर तो रुई का कपड़ा बनना आसान हो गया। यह काम भारतवर्ष में बहुत पुराने जमाने से होता आ रहा है। मिस्र में भी सूती कपड़ों का इस्तेमाल हज़ारों वर्षों से हो रहा है। योरप वालों ने यह काम बहुत पीछे सीखा; यहाँ तक कि अब से सवा दो हजार वर्ष पहले जब सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में यूनानी यहाँ आये तो उन्हें कपास की खेती देखकर बहुत आश्चर्य हुआ था; उन्होंने कपास के पौधों को 'ऊन के पौधे' समझा था।

रुई के प्रयोग का ज्ञान हो जाने पर इसका प्रचार चारों ओर बहुत तेजी से होता गया। इस समय संसार भर में गर्मियों में पहनने के लिए अधिकाँश कपड़े सूती ही होते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि ये सन पटसन आदि के कपड़ों से बहुत सस्ते पड़ते हैं। बहुत से

आदमी सर्दियों में भी सूत का ही कपड़ा पहनते हैं; हाँ, ठण्ढ से बचने के लिए वे मोटा कपड़ा काम में लाते हैं, या उसे दोहरा बनवाकर बीच में रुई भरवा लेते हैं।

आदमी कपड़ा बनाने के लिए एक कीड़े की भी मदद लेता है। यह है रेशम का कीड़ा। यह कच्चा रेशम कातकर गोली बनाता है, जिसे कोवा या कोश कहते हैं। यह मकड़ी के जाले की तरह होता है। आदमी इस कोवे या कोश को लेकर उधेड़ता है, फिर उसका डोरा बनाकर उससे रेशम तैयार करता है। यह काम, जहाँ तक मालूम हो सका है, संसार में सबसे पहले चीन में हुआ। भारतवर्ष में भी रेशमी कपड़ों का चलन हज़ारों वर्ष से है। इन देशों से रेशम का प्रचार सब जगह हुआ। रेशमी कीड़े की खुराक शहतूत के पत्ते हैं। जो देश गर्म और तर होते हैं, जहाँ शहतूत के पत्ते साल में कई बार आते हैं, वहाँ इन कीड़ों की पैदावार हर महीने हो सकती है। चीन, जापान और भारत-वर्ष इसके लिए बहुत उपयुक्त हैं।

आजकल ज्यादातर कपड़ा ऊन, रेशम, सन और रुई का बनता है। ऊन पशु से तैयार होता है, रेशम कीड़े से, और सन और रुई खेती से। रुई का इस्तेमाल सबसे अधिक होता है। हाँ, अब कुछ चीज़ें नकली भी बनायी जाने लगी हैं। इन चीज़ों के डोरे शुरू में किस तरह काते जाने लगे और फिर उनकी बुनाई का ज्ञान कैसे हुआ, चर्खे और करघे का आविष्कार होने के लिए क्या क्या मञ्जिलें पार की गयीं, आदि ब्योरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो चर्खी, चर्खा और करघा आजकल के सभ्य आदमी की निगाह में बहुत तुच्छ जचते हैं, वे अपने जमाने के बड़े खोजपूर्ण आविष्कार थे।

एक बार चर्खी, चर्खा और कर्घा बन जाने पर आदमी उसका सुधार और उन्नति करने की फिक्र में लगा रहा। इसमें उसे थोड़ी बहुत सफलता तो मिलती ही रही, पर सोलहवीं-सतरहवीं सदी में भाप से चलनेवाले एंजिन के प्रयोग से इसका रास्ता बहुत साफ हो गया।

योरप में, अठारहवीं सदी में भाप के एंजिनों से दूसरे कामों के अलावा कपड़ा बनाने की क्रियाओं में मदद ली जाने लगी। धीरे-धीरे इस काम में उन्नति होती गयी। अब तो बहुत से देशों में कपास ओटने ('जिनिंग') सूत कातने और कपड़ा बुनने के बड़े बड़े कारखाने और मिलें चल रही हैं, उनमें से एक-एक में हज़ारों आदमी इकट्ठे एक जगह काम करते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि इस नयी व्यवस्था में स्त्रियों का काफी भाग है—बहुत सी जगहों में तो कपड़े के कारखानों में काम करनेवालों में से तीन-चौथाई से भी अधिक संख्या स्त्रियों या लड़कियों की है। इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं है। पहले यह काम घरों में होता था, और प्रायः औरतें ही इसे करती थीं। अब यह काम बाहर कारखानों में होने लगा है, वहाँ भी इसे करने के लिए औरतें पहुंच गयी हैं। अमरीका की मिलों में शुरू में केवल औरतें ही कपड़ा बुनती थीं, जब आदमी उनमें काम करने लगे तो लोग उनकी बड़ी हँसी करने लगे और कहने लगे कि अब आदमी भी 'औरतों का काम' करते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय आन्दोलन में जब कुछ आदमी सूत कातने का काम करने लगे तो दूसरों ने बड़ी हँसी की, और कहा कि म० गाँधी आदमियों से औरतों का काम कराते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि यह काम अधिकतर औरतों ने ही किया है, परन्तु अगर आदमी भी इसे करें तो हर्ज क्या है।

कपड़े की बुनाई के साथ साथ रंगाई का भी काम खूब बढ़ा है। आदमी चीजों का इस्तेमाल उनकी उपयोगिता के कारण ही नहीं करता, वह उन्हें इस लिए भी काम में लाता है कि देखने में अच्छा मालूम हो। पुराने जमाने में जब स्त्री कपड़ा बुनने लगी तो वह बर्तनों को रंगा करती थी। उसने कपड़े को भी रंगना चाहा। उसे मालूम हुआ कि कुछ पौधों के फूल, पत्तों या कुछ खनिज पदार्थों को पानी में घोल कर उसमें कपड़ा डुबोने से कपड़े पर रंग आ जाता है, और रंग के पानी में कपड़े को उबालने से रंग गहरा या पक्का हो जाता है।

इस तरह कपड़ा रंगने की कला का आविष्कार हुआ। अब तो यह एक स्वतन्त्र धंधा है, और बहुत से आदमी इसमें लगे हुए हैं।

आजकल कपड़े का इस्तेमाल आदमी अपने पहनने के लिए ही नहीं करता, वह इसे और भी बहुत-से कामों में लाता है। घरों में फर्श पर दरियाँ और चद्दरें आदि बिछायी जाती हैं। छत के नीचे के हिस्से में चाँदनी लगायी जाती है, कुर्सी और मेजों पर कपड़ा लगा रहता है, कमरों के दरवाजों पर पर्दे टाँगे जाते हैं, सन्दूकों और बाजों आदि पर कपड़े का इस्तेमाल बढ़ता जाता है।

कपड़े के इस्तेमाल के बारे में अगर हम पुराने समय की और अब की हालत पर विचार करें तो ये बातें सामने आती हैं—

(१) अब पोशाक में कपड़ों की तादाद बहुत अधिक है। पहले आदमी एक चद्दर और एक धोती में काम चलाता था। आजकल की (विलायती ढङ्ग की) एक पोशाक में देखिये कितने कपड़े चाहिएँ—बनयान, कमीज, वास्कट, कोट, कालर, नेकटाइ, टोप, जाँघिया (अण्डरवियर), पतलून और उसके साथ पेटी या गेलिस, मोजे, गेटिस, और जूते।

२—पहले कपड़ा ढीला-ढाला रहता था, अब ज्यादातर बदन से चिपका हुआ (फिट) कपड़ा अधिक पसन्द किया जाता है।

३—अब फ़ैशन का बहुत ध्यान रखा जाता है। पहले हर एक देश के आदमियों का कपड़ा, वहाँ की आबहवा, रस्म-रिवाज, और वहाँ पैदा होने वाली चीजों के अनुसार होता था और उसमें हेरफेर बहुत ही कम होता था। अब तो नित्य नये फैशन निकलते जाते हैं। धनवान लोग नहीं चाहते कि गरीबों की और उनकी वेश-भूषा एक हो। वे समाज में अलग दिखायी देना पसन्द करते हैं। इसके लिए अगर वे हर समय हीरे-मोती या सोने-चाँदी के बहुत-से जेवर पहनें तो वह अच्छा नहीं लगता। बस, वे अपनी पोशाक के पुराने ढंग को बदल कर नये-नये फैशन चलाते हैं, या बहुत बढ़िया कपड़े पहनते हैं। कुछ आदमी ऐसा कपड़ा इस्तेमाल करते हैं, जो चांदी सोने के

तार मिला होने के कारण बहुत कीमती होता है। योरप अमरीका में बहुत सी स्त्रियाँ अपनी पोशाक में ऐसे परों का उपयोग करती हैं, जो बहुत दौड़धूप और बड़े खर्च से मिलते हैं।

४—पहले दूर-दूर के, आदमियों का आपस में मिलना-जुलना कम था, इसलिए हर देश के आदमियों का रहन सहन और पोशाक जुदा-जुदा ढङ्ग की होती थी। अब लोगों का सम्पर्क बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है, इसलिए किसी जाति या देश का कोई ऐसा पहनावा नहीं रहा, जो दूसरों से पूरी तरह भिन्न या जुदा हो। मिसाल के तौर पर, हैट या टोप पहननेवाले थोड़े-बहुत आदमी सभी जगह मिल सकते हैं। ज्यों-ज्यों दूर-दूर के लोगों का मेलजोल बढ़ेगा, उनके पहनावे का अन्तर दूर होना स्वाभाविक है। हाँ, फैशन, शौकीनी या अमीरी की भावना इस भेद को मिटाने में बाधक है; धनवान लोग दिन में कई बार कपड़ा बदलते हैं, और अलग-अलग अवसर के लिए जुदा-जुदा पोशाक रखते हैं,।

ज़रूरत है कि आदमी जो कपड़ा पहने, वह जलवायु के विचार से अनूकूल हो, स्वास्थ्य के लिए हितकारी हो। हम याद रखें कि कपड़ा शरीर के लिए है, न कि शरीर कपड़े के लिए, और यह कि वह खासकर हमारे लिए है, न कि दूसरों को दिखाने के लिए। जब तक आदमी में इस तरह की भावना न होगी, वह नित्य नये और कीमती कपड़े बनवाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसके साथ ही वह अपने गरीब भाईबन्दों से दूर होता जायगा। मानव प्रगति का उद्देश्य दूर दूर रहनेवाले, सभी जातियों, रङ्गों या धर्मों के आदमियों को एक-दूसरे से मिलाना होना चाहिए न कि उनके बीच की खाई को अधिकाधिक बढ़ाना। अपने पहनावे के बारे में हम इस बात का गम्भीरता से विचार करें।

एक बात और। ऊपर यह बताया गया है कि शुरू में एक समय ऐसा रहा है। जब आदमी कपड़े नहीं पहनता था, नङ्गा रहता था। इस तरह के कुछ आदमी पहाड़ों या जंगलों में अब भी मिलते हैं,

पर तमाम दुनिया की आबादी को देखते हुए उनकी संख्या बहुत कम है, और जो है, वह भी धीरे-धीरे कम हो रही है। जब आदमी ने कपड़ा पहनना शुरू कर दिया तो उसके बाद वह धीरे-धीरे अधिक परिमाण में पहनने लगा और किसी भी समय नङ्गा न रहने लगा। इस तरह वह सूर्य की किरणों से मिलनेवाली रोगनाशक शक्ति से वञ्चित रहने लगा। अब कुछ वर्षों से इसकी प्रतिक्रिया होने लग गयी है। योरप-अमरीका में कितने ही नगर-निवासी धूप का लाभ उठाने के लिए पहाड़ों पर, समुद्र के किनारे, या दूसरी जगह जाते हैं, और कई-कई घण्टे धूप में नंगे पड़े रहते हैं। इससे उनका स्वास्थ्य बहुत सुधर जाता है। बहुत जगहों में बड़े-बड़े मैदान इसलिए सुरक्षित हैं कि पुरुष और औरतें वहाँ नंगे घूम सकें।

कुछ डाक्टरों ने धूप-स्नान का बड़ा महत्व बताया है। उनका मत है कि 'जबसे आदमी ने अपने गुप्त अङ्गों को ढकना और कपड़े पहनना शुरू किया, उसी समय से उसमें विषय वासना बढ़ गयी है और उसके स्वास्थ्य को बड़ा धक्का पहुँचा है; इसलिए आदमी को फिर से नंगा रहने लगना चाहिए।' मनुष्य को अपनी नंगा रहने की हालत छोड़े इतना समय हो गया है और कपड़ा पहनने का उसे इतना अभ्यास हो गया है कि अब फिर शुरू की हालत में जाना उसके लिए करीब-करीब नामुमकिन ही है। तो भी यह विषय विचार करने योग्य है, और इस दिशा में कुछ कदम बढ़ाया जा सकता है। दिन में थोड़ा-बहुत समय आदमी को नंगे बदन अवश्य रहना चाहिए, जिससे उसे धूप और हवा के संसर्ग का अवसर मिले। इसके अलावा हमें अपने बदन को बहुत अधिक या तंग कपड़ों से ढके नहीं रहना चाहिए। इस दृष्टि से खासकर गर्मी में आधी बाँहों की कमीज और हाफ पैण्ट या धोती का पहनावा अच्छा है। हम इस समय पूरे तौर से प्राकृतिक दशा में नहीं रह सकते तो जहाँ तक कृत्रिमता या दिखावटी वेश-भूषा आदि से बच सकें, वहाँ तक तो उसकी कोशिश करनी ही चाहिए।

छठा अध्याय

घर

हाल में स्टाकहाल्म (स्वीडन) में एक दिन जहाँ सवेरे नौ बजे बर्फ से ढकी हुई जमीन थी, सिर्फ सात घंटे बाद वहाँ एक मकान तैयार पाया गया, जिसमें छत, सामने का दरवाजा, रेडिएटर, शीशे की खिड़कियाँ आदि सभी चीज़ें तैयार थीं। —एक समाचार

शुरू में आदमी कहीं एक जगह जम कर नहीं रहता था। जहाँ उसे भोजन के लिए शिकार या कंद मूल फल आदि की सुविधा होती, और जहाँ पीने के लिए किसी नदी या झरने का पानी मिल जाता, वहाँ ही रह जाता। कुछ समय बाद जब एक जगह भोजन की सुविधा न रहती, तो वह किसी दूसरी जगह जा रहता। लेकिन जहाँ भी वह रहता, उसे धूप, सर्दी, वर्षा, ओले आदि से अपनी रक्षा करने की ज़रूरत मालूम पड़ती थी। इस लिए वह या तो किसी पहाड़ या टीले की गुफा में रहता, या जमीन में गड्ढा खोद कर, गुफा सी बना लेता था। कभी-कभी वह किसी छायादार पेड़ के नीचे मोटे पेड़ के खोखले तने में ही अपनी गुजर कर लेता था। इस समय भी संसार के बहुत से हिस्सों में कुछ आदमी जङ्गलों में रहते पाये जाते हैं।

जब आदमी ने पशुओं को पालना शुरू कर दिया और उनके लिए उसे कुछ दिन किसी एक ही स्थान पर रहने की ज़रूरत मालूम हुई तो वह अपने रहने की जगह की तरफ ज्यादह ध्यान देने लगा। चरवाहे या गड़रिये की हालत में उसने लकड़ी के चौखटों पर चमड़ा या खाल फैला कर एक डेरा या तम्बू सा बनाया था। जब आदमी को अपने खाने को, और पशुओं के चरने को एक जगह काफी न रहती और वह किसी दूसरी जगह जाने लगता तो वह इस डेरे को अपने साथ ले

जाता था। डेरे को एक जगह से दूसरी जगह लाने ले जाने की सुविधा रहती ही है।

खेती करनेवाले को एक जगह स्थाई रूप से रहने की जरूरत होती है। ऐसी हालत में रहने का स्थान भी ज्यादह टिकाऊ होना ठीक रहता है। किसान ने झोपड़ियाँ आदि बना कर रहना शुरू किया। आदमी का अपने रहने के लिए जगह निश्चित करना, उसके विकास की एक बड़ी मञ्जिल है। पहले वह सोचता था कि यहाँ थोड़ी ही देर तो रहना है, किसी तरह काम चला लिया जाय। पर जब वह बहुत मुद्दत तक एक ही जगह रहने लगा तो वह उस जगह को अपने लिए अधिक-से-अधिक अनुकूल बनाने की कोशिश करने लगा। वह वहाँ खाने पीने, सोने, बैठने, काम करने—सभी बातों की सुविधा रखने का विचार करने लगा। जहाँ तक उसका वश चला, उसने उस जगह को सर्दी, गर्मी, बरसात सभी मौसमों के लिए अच्छा बनाया।

स्थाई रूप से एक जगह रहने पर आदमी को घर गृहस्थी का सामान जोड़ कर रखने की सुविधा हो गयी, और वह उन चीजों को इकट्ठा करने लगा जो उसे भविष्य के लिए उपयोगी मालूम हुईं। अब आदमी अपने रहने की जगह को ज्यादह-ज्यादह प्यार करने लगा। बात यह है कि जो घटनाएँ हमारे जीवन में विशेष महत्व की होती हैं, उनके साथ हमें उस जगह की भी याद आये बिना नहीं रहती, जहाँ वे घटनाएँ होती हैं। फिर, हम उस जगह को कैसे भूल सकते हैं, जहाँ हम बहुत समय तक रहे हैं, खाया पीया है, खेले कूदे हैं, जहाँ हमने अपने साथियों, सम्बन्धियों या रिश्तेदारों के साथ अपने सुख दुख का बहुत सा समय बिताया है। खासकर अगर हमारा जन्म भी उसी जगह हुआ हो, और हमारे बचपन का ज़माना वहाँ ही गुजरा हो, तब तो उस जगह का महत्व और भी बढ़ जाता है। घर, दौलतखाना, जन्मस्थान, जन्मभूमि, वतन, मातृभूमि आदि का हमारे मन पर कितना प्रभाव है, यह सब जानते हैं।

छोटे-छोटे खेड़े गाँवों की झोपड़ियों से हम इस बात की कल्पना

कर सकते हैं कि बहुत पुराने ज़माने के आदमी ने अपने रहने के लिए कैसा 'घर' बनाया था। उसने मिट्टी या गारे की थोड़ी-थोड़ी ऊंची दीवारें बनायीं, और उनपर फूस या पत्तों का छप्पर सा डाल लिया। इस तरह छोटी-छोटी मड़ैया या झोपड़ी बनने लगीं। इनमें दरवाज़े छोटे-छोटे और कम ऊँचे होते थे। धुआँ निकलने या रोशनी और ताज़ी हवा आने के लिए धुआँरा, रोशनदान और खिड़कियाँ प्रायः होती ही नहीं थी। धीरे-धीरे आदमियों ने इन झोपड़ियों को पासपास बनाना शुरू किया। क्योंकि उन्हें खेती आदि के काम में एक दूसरे की मदद लेने की ज़रूरत होती थी, और पास रहने से यह मदद आसानी से मिल सकती थी। पहले दो-दो चार-चार झोपड़ियाँ एक-जगह हुई फिर धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ने लगी। ये दस-बीस एक ही जगह होने लगीं। इनकी बनावट और शक्ल सूरत में भी सुधार होने लगा।

आदमी ने, कुछ और तरक्की करने पर, झोपड़ियों की जगह घर बनाने शुरू किये। जहाँ पत्थर आसानी से मिल सका वहाँ पत्थर से, और दूसरी जगह ईंटों से काम लिया जाने लगा। ईंटे पहले गारे या मिट्टी की बनाकर धूप में सुखा ली जाती थीं, पीछे वे पजावे या भट्टी में पकाई जाने लगी। छत और दीवारों में बाँस, बल्ली और लकड़ी की मदद ली जाती थी। पहले अच्छी मज़बूत चौरस छत बनाना बहुत मुश्किल था, इसलिए बारिश का पानी आसानी से बहने देने के लिए छत ढलुआँ या तिरछी बनायी जाती थी, या मकान का ऊपर का हिस्सा गुम्बद या मीनार की शक्ल का बनाया जाता था। अब भी बहुत से मंदिर, मसजिद या गिरजों की बनावट इसी तरह की होती है। लोहे का इस्तेमाल मालूम होने पर, उससे मकानों की बड़ी बड़ी चौरस छत बनाने का बहुत सुभीता हो गया है। कई जगहों में, जहाँ लकड़ी बहुत मिलती है, या भूकम्प आदि की शंका रहती है, मकान लकड़ी के बनाये जाने लगे, पत्थर या ईंट का उपयोग बहुत कम किया गया। साधारण तौर से ईंट या पत्थर का चलन अधिक है। चिनाई में सीमेंट

या चूना भी बहुत काम में लाया जाता है। अब तो कहीं-कहीं मकान शीशे आदि के भी बनाये जाने लगे हैं।

पहले मकानों का दरवाजा छोटा और नीचा होता था, जिससे उसे पत्थर आदि से बन्द करने में सुभीता हो। भारतवर्ष में बहुत से मंदिरों का दरवाजा इस समय भी बहुत नीचा है। कुछ लोगों का विचार है कि नीचा दरवाजा होने का उद्देश्य यह है कि दर्शक मन्दिर में झुक कर, सिर नीचा करके (भक्ति भाव से) जावें। हमें तो इससे मकान बनाने की पुरानी शैली की याद आती है।

धीरे-धीरे मकानों की बनावट में उनके छतों, दरवाजों, खिड़कियों, बरामदों, छज्जों आदि का बहुत सुधार हुआ है। अब मकान बहुत लम्बे चौड़े बनने लगे हैं। आजकल मकानों की सजावट भी बहुत होने लगी है। एक खास बात यह है कि पहले मकान एक ही मंजिल के होते थे, अब तो तीन-चार मंज़िल के होना मामूली बात है। अमरीका आदि में तो कुछ मकान पचास-साठ से अधिक मंजिल वाले हैं। इसमें खास उद्देश्य यह रहता है कि जमीन पर जगह कम घिरे। बहुत ऊँचे मकानों की नीचे की मञ्जिलों में हवा इतनी ख़राब हो जाती है कि उनमें रहनेवाले आदमियों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। इसलिए उनमें अच्छी हवा लाने के लिए कृत्रिम या वैज्ञानिक उपायों से काम लिया जाता है। ऊँची मञ्जिलों पर चढ़ने के लिए पहले सीढ़ियाँ या ज़ीने होते थे, अब तो बहुत सी ज़गहों में आदमियों को ऊपर ले जाने के लिए 'लिफ्ट' नाम की मशीन रहती है।

घर बनाने के काम में कितनी प्रगति हुई है, इसका कुछ अन्दाज़ उस योजना से भी होता है जो इंगलैण्ड में इस समय अमल में लायी गयी है। वहाँ राज्य ने विचार किया कि महायुद्ध समाप्त होने पर जब सैनिक घर लौटें, और सिपाहियों की सेवा-शुश्रूषा करने वाली औरतें वापिस आवें तो उन्हें रहने के लिए मकानों की दिक्कत न हो। इसलिए उसने पचास लाख कामचलाऊ मकान तैयार करा लिए। ये इस्पात के बने हुए हैं, इनका हर एक हिस्सा नाप तोल

कर कारखानों में बनाया गया है। ज़रूरत होने पर दो तीन दिन में ही एक साफ सुथरा आरामदेह मकान नट बोल्ट जोड़कर खड़ा किया जा सकता है। इस्पात में, बाहरी हल्ला गुल्ला, सर्दी और गर्मी रोकने के लिए, एल्यूमीनियम की परतें अन्दर की तरफ मढ़ दी गयी हैं। हवा और रोशनी का काफी इंतजाम किया गया है। चौके चूल्हे, स्नान-घर, सामान रखने की आलमारी, पानी बहने की मोरी आदि की व्यवस्था इंगलैण्ड की प्रथा के अनुसार की गयी है।

इमारतों सम्बन्धी नये प्रयोगों से यह आशा की जाती है कि कुछ समय में मकानों का रंगढंग बिलकुल बदलने वाला है। "प्लैस्टिक द्रव्यों (चूना सीमेंट आदि पलस्तर करने की चीज़ों), प्लाईउड, एलुमिनियम, मेग्नेशियम इन सब के प्रयोग से घर बनाने और शहर बसाने की कला एकदम बदल जायगी। एलुमिनियम का प्रयोग अब तक केवल सजावट के लिए कभी-कभी होता था। अब खिड़कियों के चौखट लकड़ी के न होकर एलुमिनियम के ही होंगे। इस्पात की जगह अधिकतर एलुमिनियम से ही काम लिया जायगा। घर की दीवारें, सीढ़ियाँ, किवाड़ चौखट सब इन्हीं से बनेंगे। घरों की छतें एसबेस्टस सीमेंट की होंगी, जिनमें आग नहीं लग सकेगी; पानी, गर्मी या सर्दी का कोई भी असर नहीं होगा। दीवारों पर बैठाने के लिए पटरियाँ सोयाबीन, ईख, या लकड़ियों के गूदे से बनेंगी, पर सुन्दर और मज़बूत होंगी। अनेक प्रकार के कृत्रिम पत्थर अभी से बनाये जाने लगे हैं। फ्लिंट शीशे का व्यवहार होने से घर में आल्ट्रा-वायलेट किरणें भी आती रहेंगी। आज की तरह घरों की दीवारें बराबर एक दूसरे से सटी नहीं रहेंगी—उन्हें जब जी चाहे, उखाड़ा जोड़ा जा सकेगा। इससे कमरों की बनावट इच्छानुसार बदली जा सकेगी। घरों में प्रकाश की बहुतायत होगी। घरों का वजन इतना कम हो जायगा कि उन्हें आसानी से इधर उधर लुढ़काया जा सकेगा। घरों की खरीद बिक्री का रोजगार चल पड़ेगा।"*

---

*प्रो० शचीनाथ झा एम० एस-सी० के, 'बालक' के युद्धांक में प्रकाशित, लेख से।

घरों के साथ साथ गाँवों और नगरों के बारे में भी कुछ विचार कर लिया जाय। पहले ज्यादहतर आदमी खेती करते थे, वे झोपड़ियों या कच्चे घरों में रहते थे, और एक जगह थोड़े से ही घर होते थे। इनके समूह गाँव कहलाते हैं। कुछ जगहों में धीरे-धीरे कारीगरी और उद्योग धन्धे बढ़े, आबादी ज्यादह हुई, मकान पक्के—ईंटों या पत्थरों के—बनने लगे। बस्ती घनी होती गयी, एक दूसरे से मिले हुए, या पास ही हजारों मकान बन गये। इन स्थानों को कस्बे या नगर कहा जाने लगा। शुरू में बहुत से नगर नदियों के किनारे ही बसाये गये। नदियों के पास होने से नगरों की शोभा बढ़ जाती है; व्यापार की सुविधा रहती है। प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी, भक्त और साधु संत भी नदी के किनारे रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। पहले जब हवाई युद्ध नहीं होते थे, नदियों के किनारे बसे हुए नगरों पर हमला करना कठिन होता था। इसलिए राजा महराजा अपनी राजधानी अकसर नदियों के पास ही बनाते थे। इस तरह धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक कारणों से नदियों के किनारे के नगरों का महत्व बहुत रहा है। नदी के किनारे होने से नगर में जो विशेषताएँ हो जाती हैं; वे कुछ अंश में समुद्र के किनारे होने से भी होती हैं। इसलिए कितने ही बड़े-बड़े नगर समुद्र के किनारे भी बसाये गये।

लोहा, ताम्बा, चाँदी, सोना, कोयला, नमक, मिट्टी का तेल आदि किसी चीज़ की खान निकल आने से, या कोई कारखाना बन जाने से किसी जगह बहुत से आदमियों को काम धन्धा मिल गया और वहाँ व्यापारियों और दुकानदारों आदि की खासी संख्या रहने लगी। ये स्थान भी नगर बन गये। नगरों के स्वरूप पर युद्ध के साधनों की प्रगति का क्या प्रभाव पड़ा, यह दूसरी जगह बताया गया है।

अब सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ नगरों की संख्या तथा विस्तार बढ़ता जाता है। एक-एक नगर की आबादी लाखों आदमियों की होती है—और बराबर बढ़ती ही जाती है। जिन देशों में शिक्षा प्रचार कम है, वहां तो जो आदमी कुछ पढ़-लिख लेता है, वही शहर की तरफ

दौड़ता है। लोगों को अपनी विद्या बुद्धि का उपयोग करने, तथा उसे और अधिक बढ़ाने का अवसर नगरों में ही मिलता है। इसी तरह गाँव के जिन लोगों के पास कुछ पैसा जमा हो जाता है, वे भी अपने नये-नये शौक पूरे करने के लिए नगरों में ही रहना पसन्द करते हैं। नगरों की आबादी बढ़ती रहने के कारण उनके स्वास्थ्य की समस्या हल नहीं होने पाती। आदमी बाग बगीचों और खेतों आदि के प्राकृतिक दृश्यों से दूर तो रहते ही हैं, उन्हें रहने के लिए साफ हवादार मकान मिलना भी मुश्किल होता है। हजारों, लाखों आदमियों से काम लेनेवाले कल कारखानों ने जगह की तंगी के सवाल को और भी जटिल बना रखा है। मज़दूरों और साधारण हैसियत के आदमियों के लिए शहरों में कुछ अच्छी तरह गुजर करना करीब-करीब नामुमकिन है। जो बड़े शहर धर्म, व्यापार या शिक्षा आदि के केन्द्र हैं, या बड़ी बड़ी राजधानियाँ हैं, वहाँ मामूली हालत में भी हजारों आदमी बिना घर के रहते हैं। फिर, जब कभी कोई खास उत्सव, जल्सा, त्यौहार, पर्व या समारोह आदि हो तो ऐसे आदमियों की संख्या का क्या ठिकाना है। युद्ध-काल में, खास-खास स्थानों पर दूसरी जगहों से बहुत से आदमी आ जाते हैं और युद्ध कई-कई वर्ष चलते रहते हैं, ऐसी दशा में मकानों की जो कमी होती है, उसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। इस तरह इस समय बहुत से देशों में खास कर नगरों में मकानों की समस्या बड़े विकट रूप में खड़ी है।

कुछ महानुभाव, जगह-जगह 'गांव की ओर' का संदेश पहुँचाने की कोशिश कर रहे हैं। अगर इस तरफ काफी ध्यान दिया जाय तो मकान की समस्या हल होने में कुछ सुविधा हो। जहाँ गाँवों में बहुत सुधार करने की आवश्यकता है, नगरों में भी ऐसे परिवर्तन किये जाने चाहिएँ कि उनमें ग्राम-जीवन की अच्छी अच्छी बातें अधिक-से-अधिक आ जावें। विज्ञान की प्रगति से मकानों के बनाने की विधि में भारी परिवर्तन होने की आशा है, यह पहले बताया जा चुका है। तब शहरों का भी स्वरूप बदल जायगा। जैसा कि प्रो० शचिनाथ झा ने

पूर्वोक्त लेख में लिखा है, 'नये ढंग के घरों के कारण, और समय एवं दूरी का प्रश्न हल हो जाने के कारण, वर्तमान ढंग के शहरों की आवश्यकता नहीं होगी। ये शहर तो उस समय बसाये गये थे, जब मोटरें नहीं थीं, टेलीफोन नहीं थे। अब इनकी आवश्यकता नहीं रहेगी। सामूहिक रूप से विचार स्थिर कर और योजना बनाकर बसने व्यवस्था की जायगी। पार्कों या मैदानों के चारों ओर, नदी के किनारे, पहाड़ों पर, सुविधानुसार घर बनेंगे। सब में रेडियो, टेलीविजन आदि की व्यवस्था होगी। सब में प्रकाश, जल और वायु के वितरण की सुविधा होगी।' इस प्रकार इस समय मकानों की जो समस्या है, वह हल हो जायगी। अवश्य ही ऐसा होने में अभी समय लगेगा, पर उस दिशा में प्रगति हो रही है, इसी बात की ओर हमें यहाँ ध्यान दिलाना है।

सातवां अध्याय

स्वास्थ्य

पिछले अध्यायों में इस बात का विचार किया गया है कि आदमी ने अपने भोजन, वस्त्र और मकान के बारे में अब तक क्या प्रगति की है। आदमी इन चीजों की व्यवस्था इसलिए करता है कि उसकी परवरिश या पालन-पोषण और रक्षा अच्छी तरह हो। अब हमें यह विचार करना है कि आदमी के स्वास्थ्य में समय-समय पर क्या-क्या या किस तरह के परिवर्तन होते रहे हैं।

पशु पक्षी अपना खानपान और रहनसहन आदि ऐसा रखते हैं कि वे कभी बीमार नहीं पड़ते; और अगर कभी किसी खास कारण से कुछ अस्वस्थ होते हैं तो खुद ही अपने खानपान में ऐसा परिवर्तन कर लेते हैं कि जल्दी तन्दुरुस्त हो जायँ। हर प्रकार के पशु पक्षी की

साधारण तौर से एक खास उम्र मानी जाती है, वह अकसर उस उम्र तक जीता है। उनमें अकाल मृत्यु या बेसमय की मौत जैसी कोई बात नहीं होती। यह भी देखने नहीं आता कि मरने से बहुत पहले उनके किसी अंग की शक्ति जाती रहे, और वह अपना काम अच्छी तरह न कर सके। हाँ, यह बात उन्हीं पशु पक्षियों के बारे में कही जा रही है, जो कुदरती तौर से जंगलों में रहते हैं।

शुरू में आदमी प्रकृति के निकट रहता और कुदरती जीवन व्यतीत करता था। इसलिए वह तन्दुरुस्त रहता था, बीमार होने का अवसर बहुत ही कम आता था, उसके सब अंग अन्त तक अच्छी तरह काम देते थे, और, आकस्मिक या अचानक होनेवाली दुर्घटनाओं की बात छोड़ कर, वह अपनी पूरी उम्र तक जीवित रहता था। आदमी की स्वाभाविक उम्र सौ वर्ष मानी गयी है। संसार के पुराने साहित्य से पता चलता है कि पहले आदमी अकसर इतनी उम्र तक जीते थे; और, अच्छी तरह जीते थे, अर्थात् यह नहीं होता था कि बहुत सा समय बीमारी में ही कटे, या शरीर के कुछ अंग अपना काम पूरी तरह न करें। वेदों में यह प्रार्थना आती है, और हिन्दुओं की संध्या का यह एक मंत्र ही है कि 'हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक सुख से रहें, और सौ वर्ष से अधिक समय तक भी।' एक खास बात, जिसकी ओर यहाँ बहुत ध्यान दिया जाता था, वह ब्रह्मचर्य है। शुरू से ही बालकों का पालन-पोषण, रहनसहन और खानपान इस तरह होता था कि उनके मन में सात्विक विचार रहें, उनका जीवन सादा रहे, वे इन्द्रियों को वश में रखें, भोग विलास, व्यसन, फैशन, और शौकीनी में न फंसे। ब्रह्मचर्य आश्रम पुरुषों के लिए कम-से-कम पचीस वर्ष का, और स्त्रियों के लिए सोलह वर्ष का माना जाता था। उस समय यहाँ आदमियों के जीवन की नींव मज़बूत होती थी, और वे खूब तन्दुरुस्त रहते थे।

दूसरे देशों में स्पार्टा (यूनान) में भी पुराने ज़माने में शरीर के स्वास्थ्य और सौंदर्य पर बड़ा ध्यान दिया जाता था। इस बात की पूरी

कोशिश की जाती थी कि बच्चा खूबसूरत और तन्दुरुस्त पैदा हो; यहाँ तक कि जो बालक बदसूरत या रोगी होता था, उसे कुछ दशाओं में मार दिया जाता था। प्राचीन काल में आदमी कपड़ा कम पहनते थे, उनका शरीर सुडौल और हृष्ट पुष्ट होता था, तभी वे सुन्दर दिखाई देते थे। आज कल की तरह नहीं था कि दुबला पतला आदमी अपने शरीर को कपड़ों में ढक कर, अपनी वेशभूषा के सहारे ही सुन्दर दिखने की कोशिश करे। उस समय आदमियों में दिखावट या बनावटीपन नहीं था; वे उस कुदरती खूबसूरती को ही खूबसूरती मानते थे, जो तन्दुरुस्ती में जाहिर होती है।

धीरे-धीरे आदमी प्रकृति से दूर होता गया, उसका जीवन कृत्रिम या अस्वाभाविक होने लगा। आदमी के भोजन, वस्त्र, और मकान आदि में धीरे-धीरे क्या-क्या परिवर्तन हुए, यह हम पिछले अध्यायों में बता चुके हैं। इन परिवर्तनों से उसके रहनसहन में बहुत कृत्रिमता आगयी। इसका नतीजा यह हुआ कि अब किसी का सौ वर्ष या अधिक समय जीवित रहना बड़े आश्चर्य की बात मानी जाती है। किसी देश में इतनी उम्र के आदमी इनेगिने ही पाये जाते हैं। बहुधा किसी का पचास साठ वर्ष तक जिन्दा रहना भी गनीमत समझा जाता है। कितने ही तो भरी जवानी में इस संसार से विदा हो जाते हैं। और, बहुतों को जवानी आती ही नहीं, वे उससे पहले ही मर जाते हैं। कितने ही आदमियों को जवानी से पहले बुढ़ापा आ घेरता है।

प्राचीन काल में आदमी का जीवन प्राकृतिक होने के कारण स्वास्थ्य के बहुत से नियमों का स्वयं ही पालन हो जाता था। ज्यों-ज्यों 'सभ्यता' बढ़ती गयी, जीवन में कृत्रिमता आती गयी। गाँवों का ह्रास होता गया। शहरी जीवन बढ़ गया। शहरों में रहनेवाले सभ्य आदमी प्रायः पैदल बहुत कम चलते हैं, थोड़ी दूर जाने के लिए भी साइकल आदि का उपयोग करते हैं। बहुत से काम मशीनों से हो जाते हैं, इससे आदमी दौड़धूप और मेहनत के दूसरे कामों से भी जी चुराते हैं। बहुधा आदमी दिन भर घर या कारखाने के भीतर काम

करते हैं, जिससे ताजी हवा या आक्सीजन काफी मात्रा में नहीं ले सकते। कितने ही विद्यार्थी और नौकर या कारीगर आदि रात को भी बहुत देर तक काम करते रहते हैं। बिजली की रोशनी होने से इसमें बड़ी सुविधा हो गयी है। इस तरह वे समय पर, और काफी देर तक, नहीं सो सकते। फिर, सिनेमा थियेटर आदि विनोद के साधनभी आजकल बहुत बढ़ गये हैं। ये भी दर्शकों की नींद पूरी होने में बड़े बाधक हैं। इस तरह आदमियों को व्यायाम और विश्राम का अवसर कम मिलता है, और उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जाता है।

तन्दुरुस्ती और दीर्घजीवन के लिए बहुत जरूरी बातों में से कुछ ये हैं—सादा खानपान, शारीरिक परिश्रम या व्यायाम, काफी समय का विश्राम और निद्रा, खुली और ताज़ी हवा में रहना, कुछ अंश तक धूप का सेवन और मन की प्रसन्नता। इन बातों की उपयोगिता विज्ञान ने भली भाँति सिद्ध कर दी है, पर अभी वैज्ञानिक नियमों का प्रचार बहुत कम हुआ है, और कितने ही आदमी यह जानते हुए भी कि अमुक बातें हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं, अपनी आदत या दूसरे कारणों से उन्हें छोड़ नहीं रहे हैं। जिन-जिन देशों में विज्ञान की उन्नति और प्रचार अच्छी तरह हो गया है, और अनुकूल वातावरण बन गया है, उनके निवासियों के स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ और हो रहा है। मिसाल के तौर पर इङ्गलैंड की ही बात लीजिए। 'सन् १८५० ई० में वहाँ लन्दन में सौ में से ७८ बच्चे ५ वर्ष की उम्र में पहुँचने से पहले ही मर गये थे। १९३९ में यह मृत्यु-संख्या घटकर १२ फीसदी रह गयी। १९०० में इंगलैड में ५००० मनुष्य 'टाइफाइड' (मियादी बुखार या मोतीझरा) से मरे, पर १९३७ में कुल २०६ मरे। १९११ और १९३१ के बीच में लीड्स नगर के बारह वर्ष की अवस्था के बच्चों का वज़न प्रायः साढे पाँच सेर बढ़ गया और उनकी ऊँचाई तीन इंच बढ़ गयी। इंगलैंड वालों की औसत उम्र जो कभी आधुनिक भारत के समान कुल २३ वर्ष थी, आज ६० वर्षके करीब है। ब्रिटेन में नाना रोगों से होनेवाली मृत्यु-संख्या इतनी अधिक घट गयी

है कि दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है।* इसी तरह रूस में, स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों की ओर ध्यान देने का नतीजा यह हुआ है है कि 'ज़ार के ज़माने की अपेक्षा समाजवाद के अधीन १६ वर्ष के लड़के लड़की दो इन्च लम्बे और चार पौंड भारी होते हैं।'†

मौजूदा हालत में संसार के बहुत से हिस्से ऐसे हैं, जो न तो पुराने जमाने की तरह प्राकृतिक जीवन ही बिताते हैं और न उनमें स्वास्थ्य-विज्ञान के यथेष्ट व्यवहार के साधन ही हैं। इन हिस्सों में लोगों का स्वास्थ्य बहुत ख़राब है, और औसत उम्र भी बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन देशों में सर्वसाधारण इतने गरीब हैं हैं कि काफी भोजन नहीं मिल पाता। कितने ही आदमियों को साल भर में कभी भी भरपेट भोजन नहीं मिलता।

इसके अलावा बहुत से आदमी जो भोजन करते हैं, उसमें पोषक-तत्व बहुत कम होता है। विज्ञान कई बातों में लोगों को प्राकृतिक जीवन की उपयोगिता बता कर उन्हें अपना खानपान और रहन-सहन सादा बनाने की प्रेरणा करता है। उदाहरण के लिए विज्ञान से मालूम होता है कि मैदे या बेसन का उपयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर है, उसकी जगह हाथ चक्की का पिसा आटा अधिक लाभकारी है, भुने हुए अन्न में पोषक तत्व और भी अधिक होते हैं। तले हुए या छौंके हुए पदार्थ, मिठाई, पक्वान आदि का सेवन जहाँ तक हो सके, न करना चाहिए। हरे शाक, तरकारी फल आदि बहुत गुणकारी है। मिर्च मसाले आदि शरीर के लिए अनावश्यक है। चाय, पान बीड़ी, सिग्रेट, भांग, गांजा, शराब, अफीम आदि तो बहुत ही नुकसान पहुँचाते हैं। इसी तरह आदमी को अपना शरीर हर समय बहुत से कपड़ों से ढका रखना ठीक नहीं; बदन में कपड़ा हलका रहे, और जहाँ तक बने कुछ समय तो उसे खुला रख कर धूप लगने देना चाहिए। 'सभ्य' आदमी ने अर्द्ध-नग्न अवस्था से घृणा की, लेकिन

*'विश्वमित्र' पूजा-दिवाली विशेषांक १९४४

† समाजवाद : पूँजीवाद

विज्ञान ने बतलाया कि स्वास्थ्य की दृष्टि से 'अर्द्ध-नग्न' रहना अधिक लाभकारी है। इसी तरह सभ्यता ने कई-कई मंजिलों के, आसमान से बातें करनेवाले पक्के मकान बनाये, लेकिन यह अनुभव किया जा रहा है कि बहुत ऊंचे कई-कई मंजिलों के मकान बनवाना आदमी की लाचारी है, क्योंकि आबादी बढ़ रही है और जगह की कमी होती जा रही है;* नहीं तो, एक मंजिल के खुले मकान बहुत उपयोगी हैं। और, कुछ बातों में कच्चे मकान, यदि उनकी उचित सार-संभार बराबर होती रहे, पक्के मकानों से भी अधिक लाभकारी हैं।

आदमियों के स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ बातें ऐसी हैं जो अलग-अलग किसी आदमी के वश की नहीं, उनके लिए सामूहिक योजना की ज़रूरत होती है। ज्यों ज्यों बड़ी बड़ी बस्तियाँ बनने लगीं, शहरों का क्षेत्र बढ़ने लगा, त्यों त्यों इस बात की ज़रूरत बढ़ती गयी है कि गन्दे पानी के बहने के लिए पक्की नालियों का अच्छा इन्जाम हो, सड़कें चौड़ी हों, बस्ती खुली हो, बीच-बीच में 'पार्क' (उद्यान, फूल-वाड़ी या बगीचा) हो। इन बातों के लिए जहाँ तहाँ म्युनिसपेल-टियाँ या कारपोरेशन प्रबन्ध करती हैं।

बहुत सी जगह ऐसी है कि वहाँ की जलवायु खराब है। उसमें कुछ बीमारी बनी रहती है। मिसाल के तौर पर कहीं-कहीं मच्छर और मक्खियों की बहुतायत होती है, जिनसे बीमारी बहुत फैलती है। उन्नत देशों में इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। मलेरिया रोकने के लिए प्रयत्न बहुत समय से हो रहे हैं। दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय इस विषय के कुछ विशेष प्रयोग किये गये। एक औषधि का आविष्कार हुआ है, इसे डी० डी० टी० कहते हैं। यह दवा दीवार पर छिड़क दी जाती है तो लगभग दो सप्ताह तक मच्छरों के लिए काल हो जाती है। एक बार छिड़कने पर मक्खियाँ और खटमल तो महीने भर तक

---

*जगह की बचत के लिए अब आदमियों का बहुत सा काम जमीन के नीचे किया जाने लगा है। योरप के कुछ शहरों में रेलें ज़मीन के नीचे चलती हैं। कहीं-कहीं तो आदमियों के रहने के मकान भी ज़मीन के अन्दर ही बनाये गये हैं।

पास नहीं फटकते। मलेरिया वाले एक तीन मील लम्बे और दो मील चौड़े क्षेत्र में यह दवाई हवाई जहाज़ से छिड़की गयी थी। ऐसा करने से वहाँ फौरन ही मच्छरों और उनके बच्चों की सफ़ाई हो गयी। नज़दीक भविष्य में ही इस दवाई के उपयोग से मलेरिया और पेचिश वाले रोगों की जगह बहुत कुछ निरोग हो जायगी, और वहाँ आदमी अपना स्वास्थ्य अच्छी तरह बनाये रख सकेंगे। इसी तरह प्रगति होने पर धीरे-धीरे संसार के सभी स्थान आदमियों के रहने लायक स्वास्थ्यप्रद बनने की आशा है।

स्वास्थ्य-रक्षा का मन की स्थिति से बड़ा सम्बन्ध है। तन्दुरुस्त रहने के लिए चित्त प्रसन्न रखना और निश्चिन्त रहना बहुत ज़रूरी है। कुछ आदमी तरह-तरह की अनावश्यक चिन्ताओं में फंसे रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि शारीरिक सुख के बहुत से साधन रखते हुए भी उनका समय बहुत दुख में बीतता है। आदमी के सामने समय-समय पर ऐसी बातें आया करती हैं, जो उसकी इच्छा या रुचि के विरुद्ध हों, ऐसी हालत में उसे अपने मन में धैर्य और शान्ति बनाये रखने की खास ज़रूरत है। नहीं तो स्वास्थ्य पर उसका बहुत बुरा असर पड़ता है। जो आदमी अपने मन पर काबू रख सकते हैं, जिनकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है, वे अपने कष्टों को, आसानी से सह लेते हैं, और उनमें अपने रोगों को दूर करने की भी बहुत क्षमता होती है। इस विषय पर विशेष 'मनोरञ्जन' के अध्याय में लिखा गया है।

आठवाँ अध्याय
चिकित्सा

प्राचीन काल में आदमी सादगी से रहते और कुदरती जीवन विताने के कारण बहुत तन्दुरुस्त रहता था। पर कभी-कभी वह जैसा भोजन चाहता, वैसा उसे न मिल पाता; या जिस जगह भोजन की

सुविधा होती वह उसकी रुचि प्रकृति या स्वभाव के अनुकूल न होती। ऐसी दशा में आदमी बीमार हो जाता।

धीरे-धीरे आदमी को अपनी बीमारियों के बारे में विचार करना पड़ा। उसने एक-एक बीमारी का एक खास नाम रखा। कुछ खास-खास लक्षणों वाली बीमारी को बुखार, और कुछ दूसरे लक्षणों वाली बीमारी को जुकाम कहा गया। इसी तरह खाँसी, पेचिश, कब्जी, आदि रोगों की बात हुई। पीछे लक्षणों के कुछ-कुछ अन्तर के अनुसार, एक एक रोग के कई-कई भेद किये गये। शुरू में आदमी ने जब इन रोगों से कष्ट पाया तो उसके ध्यान में उसे दूर करने का कोई उपाय न आया। उसने समझा कि यह कष्ट मुझे उठाना ही पड़ेगा। पर उसकी यह मनोवृत्ति हमेशा रहने वाली न थी। धीरे-धीरे वह सोचने लगा कि किस तरह इस दुख से छुटकारा पाया जाय। कभी-कभी किसी रोगी के साथ संयोग से कोई घटना हुई और उसके बाद उसका रोग दूर हो गया तो उसने उस घटना का सम्बन्ध रोग के दूर होने से जोड़ लिया, और उस बात का उसके साथियों में प्रचार हो गया। इस तरह रोगों के इलाज के लिए कुछ ऐसे उपाय चल निकले, जिन्हें जादू या टोना कहते हैं। कई बीमारियों को दूर करने के लिए, कुछ लोगों में जादू-टोना अब भी प्रचलित है; हाँ, कहीं-कहीं उसका रूप कुछ बदल गया है।

आदमी अपनी बुद्धि से दूसरे प्रयोग भी करता रहा। उनमें उसे थोड़ी बहुत सफलता भी मिली। इस समय भी उसके प्रयोग चल रहे हैं, और न-मालूम कब तक चलते रहेंगे। तो भी बहुत से रोगों की औषधियाँ मालूम हो गयी हैं, और आदमी का चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा है। हम यहाँ इस विषय की कुछ मोटी-मोटी बातों का जिक्र करते हैं।

आदमी ने देखा कि ज़मीन पर जंगलों में, और पहाड़ों पर तरह-तरह की जड़ी बूटी, वनस्पति या पौधे उगे हुए हैं। इनमें से कुछ को तो वह अपने रोज़मर्रा के खाने के काम में लाने लगा था। पर इनके अलावा और भी बहुत से शेष थे। धीरे-धीरे आदमी ने इनकी

परीक्षा की। यह ज़रूरी नहीं है कि हरेक परीक्षा जानबूझ कर ही की गयी हो, कुछ परीक्षाएँ बिना विचारे, संयोग से ही हो गयीं। आदमी ने भूल से या कौतूहल से कोई चीज खा ली, उसे उसका शरीर पर खास तरह का प्रभाव पड़ता हुआ, मालूम हुआ। उसने बारबार अनुभव किया कि इस चीज में यह गुण या दोष हैं। इस तरह नयी-नयी चीजों के बारे में प्रयोग हुआ अथवा एक ही वनस्पति के जुदा-जुदा हिस्सों—जड़, पत्ते, फल, फूल, डंठल आदि—के गुणों की खोज हुई। दो-दो या अधिक चीजों की मिलावट के भी गुण मालूम किये गये। धीरे-धीरे यह ज्ञान संचित होने लगा। पीछे जाकर वनस्पतियों के अलावा खनिज और दूसरे पदार्थों—सोना चांदी, अभ्रक, पारा, मूंगा, मोती आदि—की भी उपयोगिता मालूम हुई, उन्हें भी दवाइयों के काम में लाया जाने लगा। बहुत पुराने समय से लेकर, जिन लोगों ने इन बेशुमार चीजों के गुणों की परीक्षा करके यह मालूम किया कि वह किस-किस रोग को दूर करने में सहायक होती हैं, उनके लगातार परिश्रम का अन्दाज लगाना बहुत कठिन है। जो हो, इस तरह धीरे-धीरे चिकित्साशास्त्र का जन्म और विकास हुआ।

भारतवर्ष में आयुर्वेद शास्त्र भी एक उपवेद माना जाता है। यहाँ के बहुत से विद्वान तो इसे अनादि ही समझते हैं, पर आधुनिक इतिहासकारों के मत से भी इस शास्त्र का निर्माण हुए छः हजार वर्ष तो हो ही गये। इस तरह यहाँ इस विषय का उसी समय बहुत ज्ञान हो गया था, जब कि पश्चिमी चिकित्सा शास्त्र का जन्म भी नहीं हुआ था। यहाँ के जो दूसरे ग्रन्थ अब मिल सकते हैं, उनमें से मुख्य चरक संहिता और सुश्रुत संहिता हैं। इनमें चरक संहिता औषधि-प्रधान है, और सुश्रुत में शल्य यानी चीराफाड़ी का विचार किया गया है। इन ग्रन्थों का समय ईसा से एक हजार वर्ष पहले माना जाता है। इस बीच में इन ग्रन्थों में कोई सुधार या संशोधन आदि नहीं हुआ है, फिर भी इनमें बहुत से विषयों का गम्भीर ज्ञान भरा हुआ है। आयुर्वेद का त्रिदोष (वात, पित, कफ) सिद्धान्त शरीर सम्बन्धी ज्ञान का बहुत बढ़िया

उदाहरण है। वैद्यों को नाड़ी का व्यावहारिक ज्ञान होता है, वे बिना किसी यंत्र के सहारे केवल नाड़ी देख कर ही आदमी के शरीर की दशा, विकार या रोग जान लेते हैं।

आयुर्वेद की तुलना में दूसरे चिकित्सा-शास्त्र बहुत थोड़े समय के हैं। तो भी कुछ पद्धतियां बहुत पुरानी हैं। यूनानी चिकित्सापद्धति वैद्यक से मिलती जुलती है; यह यूनान के, खासकर ऊँची हैसियत के आदमियों की प्रकृति और रुचि के अधिक अनुकूल बनायी गयी। अधिकतर दवाइयाँ बहुत जायकेदार चटनी, अर्क, शरबत आदि की होती हैं।

कुछ पश्चिमी चिकित्सा-पद्धतियाँ तो बहुत ही थोड़े समय की हैं। हाँ, थोड़े से समय में ही इसका विकास बहुत हो गया है, बात यह है कि उन देशों में इनके लिए राज्य की ओर से सुविधाएँ काफी परिमाण में मिलती रहीं। जो हो, समय-समय पर जुदा-जुदा देशों में, और कुछ दशाओं में एक ही देश में, कई चिकित्सा-प्रणालियों का उदय और विकास हुआ। इस समय संसार में छोटी-बड़ी दर्जनों प्रणालियाँ प्रचलित हैं। हरेक प्रणाली में शुरू से अब तक क्या-क्या प्रगति हुई, इसका वर्णन करने के लिए तो एक पूरी पुस्तक भी काफी नहीं है। हम यहाँ कुछ खास-खास प्रणालियों के बारे में कुछ मोटी-मोटी बातों का ही जिक्र करेंगे।

आजकल एलोपेथी का चलन बहुत होता जा रहा है। इसका सिद्धांत यह है कि विविध रोगों के कीटाणु* होते हैं, जो भोजन, जल, या वायु आदि के साथ हमारे शरीर में जाते रहते हैं। उनके कारण हम बीमार पड़ जाते हैं। यदि इन कीटाणुओं को मार दिया जाय तो रोग दूर हो जाय। एलोपेथी इन कीटाणुओं को औषधि द्वारा मारने की कोशिश करती है। अब तो कुछ समय से 'इंजेकशन' का उपयोग बहुत अधिक होने लगा है अर्थात् दवाई खाने के बजाय, पिचकारी

*कीटाणु इतने छोटे होते हैं कि खुर्दबीन के बिना दिखाई नहीं देते। एक कीटाणु की लम्बाई एक इंच के पाँच हजारवें हिस्से के करीब, और मोटाई एक इञ्च के पचीस हजारवें हिस्से के करीब, होती है।

द्वारा शरीर के अन्दर दाखिल की जाती है, जिससे उसका असर बहुत जल्दी ही होने लगे।

होम्योपेथी चिकित्सा का आविष्कार करनेवाले श्री० सेमुअल हेनिमन का जन्म सन १७५५ जर्मनी में हुआ था। इनका ध्यान इस बात की ओर गया कि तन्दुरुस्ती की हालत में संखिया खाने से आदमी को दस्त, क्रय (उलटी) और प्यास आदि हैज़े की सी शिकायत होने लगती है; फिर संखिये का उचित उपयोग करने से ये लक्षण दूर हो जाते हैं। इसी तरह कुनैन स्वस्थ शरीर में ज्वर पैदा करती है, और कुनैन ही ज्वर की औषधि है। इस तरह 'समः समं शमयति' सिद्धांत का अनुभव करके श्री० हैनिमन ने होम्योपेथी चिकित्सा-पद्धति की नींव रखी। बहुत से अच्छे-अच्छे वैद्य इनके शिष्य हो गये तो कितने ही अनुदार चिकित्सक और औषधि बेचनेवाले इनकी सफलता देखकर इनसे ईर्षा करने लगे, उन्होंने इनका घोर किया। आख़िर सन् १८२१ में ये निर्वासित किये गये और इन्होंने अपने जीवन के शेष २२ वर्ष फ्रांस में बिताये। पीछे, सन् १८५१ में इनके देश-बन्धुओं ने लिपजिग में इनकी पीतल की मूर्ति स्थापित करके अपने अनुचित व्यवहार का प्रायश्चित किया। इन बातों का जिक्र करने का उद्देश्य यह है कि संसार में मनुष्य जाति के सेवक और हितैषियों से अकसर दुर्व्यवहार होता है, सर्वसाधारण उनके काम का महत्त्व नहीं जान पाते, या बहुत देर में जान पाते हैं। जो हो, होम्योपेथी की विशेषता यह है कि इसमें रोग के इतिहास और लक्षणों का खूब अध्ययन किया जाता है, और औषधि बहुत थोड़ी मात्रा में दी जाती है। सस्ती होने के कारण ग़रीबों की झोपड़ियों तक इसकी पहुँच है।

होम्योपेथी से मिलती हुई एक चिकित्सा-पद्धति बायकेमी है। इसमें यह माना जाता है कि शरीर को ठीक-ठीक चलाने, और सब अंगों का अच्छी तरह पोषण करने के लिए बारह तरह के लवण या नमक की जरूरत होती है। जब ये लवण शरीर में ठीक हिसाब से नहीं रहते, तब आदमी बीमार पड़ जाता है। ओल्डेनबर्ग (जर्मनी) के डाक्टर

विलयम एच० सुसलर ने इन लवणों के आधार पर इस पद्धति का आविष्कार किया। स्थूल मात्रा में शरीर के तन्तु और कोष इन लवणों को ग्रहण नहीं करते। ये बहुत थोड़ी मात्रा में, बहुत महीन पीस कर दूध की चीनी के साथ दिये जाते हैं। पेट में पहुँचने से पहले ही मुँह के भीतर, कंठ, तालु और कोषों में इन्हें ग्रहण कर लिया जाता है। उसी समय से ये रक्त में मिलने शुरू हो जाते हैं, और ठीक ठिकाने पहुँच कर अपनी क्रिया करने लगते हैं।

अब उन चिकित्सा-प्रणालियों को लें, जो प्राकृतिक हैं। आदमी ने देखा कि उसका शरीर पाँच तत्वों से बना है—पृथ्वी (मिट्टी), जल, अग्नि (गर्मी), वायु, और आकाश। आदमी का जीवन इन पाँच तत्वों पर निर्भर है, और मरने पर उसका शरीर इन्हीं तत्वों में मिल जाता है। बस, इन तत्वों के आधार पर कई तरह की चिकित्सा-प्रणालियों का आविष्कार हुआ। पृथ्वी तत्व के विचार से मिट्टी-चिकित्सा प्रणाली शुरू हुई। इसमें रोगों को दूर करने के लिए मिट्टी के तरह-तरह के उपयोग किये जाते हैं। मिसाल के तौर पर गीली मिट्टी से घाव, घाव की सूजन, चोट से होनेवाले बुखार, चर्म-रोग, फोड़े-फुन्सी और दाद आदि में, तथा जानवरों का डंक लगने की दशा में, बहुत जल्दी आराम होता है। इस ज़माने में जल-चिकित्सा प्रणाली को चलानेवाले खास सज्जन लूई-कूने हैं। उन्होंने बहुत परिश्रम करके यह मालूम किया और इसका प्रचार किया कि जल के जुदा-जुदा प्रयोगों से किस तरह बहुत सी बीमारियों का इलाज हो सकता है। इसी तरह अग्नि को लेकर सूर्य-चिकित्सा या धूप-चिकित्सा प्रणाली का आविष्कार किया गया। सूर्य की किरणों में रोगों का नाश करने और खून साफ करने की शक्ति है। इस लिए धूप-स्नान यानी नंगे बदन धूप में बैठना बहुत उपयोगी है, खासकर सवेरे और सायंकाल के समय।* सर्दी की मौसम में तो दिन भर धूप का फायदा उठाया जा

*हिन्दुओं में सवेरे और शाम को संध्या करते समय सूर्य की ओर मुंह करके बैठने का नियम है। इससे जाहिर हैं कि ये सूर्य की किरणों से मिलनेवाले लाभ से, बहुत पुराने समय से, परिचित हैं।

सकता है। डाक्टरों का मत है कि बच्चों के शरीर पर धूप लगने से सूखा, पीलिया, और चर्म रोग दूर होते हैं और उनका शरीर जल्दी बढ़ता है। धूप सेवन से स्त्रियों के मासिक धर्म सम्बन्धी कष्ट दूर होते हैं, माताओं के स्तन में दूध बढ़ता है, और बच्चे हृष्ट पुष्ट रहते हैं।

एक विचार यह है कि आदमी के भोजन में आवश्यक परिवर्तन करने से बहुत से रोगों का इलाज हो सकता है। इस तरह आहार-चिकित्सा का चलन हुआ है। कितने ही रोगों को दूर करने के लिए सिर्फ फल या सिर्फ दूध आदि का सेवन कराया जाता है। इस तरह फल-चिकित्सा, दूध-चिकित्सा, या दही-चिकित्सा आदि का प्रचार हुआ है। चिकित्सा का एक रूप उपवास या निराहार रहना है। इस प्रणाली से शरीर की कई-कई वर्ष की खराबी हटायी गयी है। भोजन-सुधार और प्राकृतिक उपचार आदि से अकसर ऐसे रोग भी दूर हो जाते हैं जो घातक या लाइलाज समझे जाते हों। बात यह है कि प्राकृतिक चिकित्सा में रोग के बाहरी लक्षणों पर ही ध्यान देने से संतोष नहीं किया जाता। इसमें रोग के मूल कारणों की खोज की जाती है, और जिन कारणों से रोग पैदा होता है, उन कारणों को प्राकृतिक उपायों द्वारा दूर किया जाता है।

इस सिलसिले में चीराफाडी या जर्राही के बारे में भी कुछ विचार कर लिया जाय। पहले लिखा जा चुका है कि भारतवर्ष में औषधि-शास्त्र के साथ इसका भी जन्म बहुत पुराने ज़माने में हो गया था। लेकिन पिछली सदियों में यहाँ इसकी उन्नति का सिलसिला नहीं बना रहा। और, योरप और पीछे अमरीका ने इसमें खूब तरक्की की, तरह-तरह के औजार बनाये, प्रयोग और परीक्षाएँ कीं। इस तरह उन्होंने गजब की सफलता पा ली है; यहाँ तक कि अगर एक आदमी के शरीर में खून कम हो तो उसमें दूसरे का खून पहुँचाया जा सकता है। यह भी ज़रूरी नहीं कि जो खून शरीर में पहुँचाया जाय, वह बिल्कुल ताजा ही हो; खास तरीके से, खून को सुखा कर चूर्ण के रूप

में रखा जाने लगा है, वह एक जगह से दूसरी जगह भेजा जा सकता है, और आवश्यकता होने पर चाहे जब काम में लाया जा सकता है। रोगी हृदय को शरीर से अलग करके, उसे निरोग करके फिर शरीर में बैठाने के प्रयोग भी सफल हो चुके हैं। इस तरह आपरेशन से कई प्रकार के जख्मी और रोगी आदमियों का इलाज करने की कोशिश हो रही है।

चिकित्सा सम्बन्धी नये आविष्कारों का एक उदाहरण टूटे हुए अंगों को जोड़ने के लिए टैंटालम धातु की खोज है। यह धातु काले रंग की और सीसे से तीन गुनी भारी होती है। यह इतनी मजबूत होती है कि इससे मनुष्य के बाल से भी पतला तार खींचा जा सकता है। इससे झिल्लीदार कागज जैसी पतली और कोमल चद्दरें भी बन सकती हैं। तार और चद्दरों से डाक्टर घायल सैनिकों के अंगों को जोड़ते हैं। चद्दर से नयी नाक बनायी गयी है। एक डाक्टर ने इससे पेट की दीवारें भी बनायी हैं। पतले तारों से टूटी हुई नसों के सिरे जोड़े जाते हैं। टैंटालम धातु का एक खास गुण यह है कि यह मनुष्य के शरीर के तंतुओं और रस से पूरी तरह मिलती है। यही कारण है कि इससे तंतु ऐसी अच्छी तरह जुड़ जाते हैं कि कुदरती तौर से जुड़े हुए मालूम होते हैं। यह धातु अभी आस्ट्रेलिया की खानों से निकाली जाती है। धीरे-धीरे दूसरी जगहों में भी इसका पता लगाया जायगा। इन थोड़े से उदाहरणों से यह साफ जाहिर है कि चिकित्सा के विषय में नित्य नये आविष्कार होते जा रहे हैं। चिकित्सा-विज्ञान में अभी और बहुत प्रगति होगी, और इसका विस्तार भी बढ़ेगा।

अभी तक औषधियों और चीराफाड़ी की बात हुई। चिकित्सा के और भी उपाय हैं। भारतवर्ष में प्राणायाम और योग-साधन का चलन लम्बे समय से है। परन्तु यहाँ इसका सार्वजनिक या व्यापक रूप से उपयोग नहीं होता। और, जो आदमी ये क्रियाएँ करते हैं, वे ज्यादहतर धार्मिक भावना से करते हैं। योरप, अमरीका में इन बातों को वैज्ञानिक रूप देकर इनका सर्वसाधारण में प्रचार किया जा रहा है। 'हिप्नोटिज्म' या 'मेस्मेरिज्म' आदि क्रियाओं से बहुत सी बीमारियों

का इलाज किया जाता है। बहुत से शिक्षा-प्रेमी डाक्टरों का मत है कि व्यायाम की तरह योग-साधन पर जोर दिया जाना चाहिए, योग का विषय विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इस दिशा में आगे अधिकाधिक प्रगति होगी।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले एक बात का और विचार कर लिया जाना चाहिए, वह है बुढ़ापा। यह वह अवस्था है, जब आदमी को बहुत सी बीमारियाँ घेरती हैं। उसे रोकने या युवावस्था बनाये रखने के लिए समय-समय पर कैसे उपाय काम में लाये गये हैं? भारतवर्ष में, वैद्यक-शास्त्र में कायाकल्प का विस्तार से वर्णन है। इसके अलावा यहाँ काम में आनेवाली दवाइयों मे च्यवनप्राश नाम की एक मशहूर दवाई है, जो च्यवन ऋषि के नाम से चली है, जिसका गुण बूढ़े को जवान करना है। आजकल जितने आदमी इस दवाई का सेवन करते हैं, वे सब बूढ़े से जवान तो नहीं होते, तो भी औषधि बहुत गुणकारी है। वैद्यों का कथन है कि अगर इसमें सब चीज़ें बहुत उत्तम और शुद्ध हों, और इसे उचित रीति से बनाया जाय तो इसका बहुत अधिक गुण हो। खैर, दूसरे देशों में भी समय-समय पर इस तरह की औषधियों का आविष्कार और चलन हुआ है। बहुत से दवाखाने अमर घुटी, संजीवनी, प्राणदा आदि नाम की दवाइयाँ बनाते और बेचते हैं, और उनके विज्ञापनों में बूढ़े को जवान करने का दावा करते हैं।

श्री० इलाचन्द्र जी जोशी ने मई १९३३ के 'विश्वमित्र' में लिखा था कि "ब्राउन सेकार नाम के एक डाक्टर ने बुढ़ापे के निराकरण के लिए एक विशेष प्रकार के इन्जेकशन का आविष्कार किया है। उसने यह विचार किया कि वृद्ध पुरुष की दुर्बलता का कारण अण्डग्रन्थि के रस क्षरण की कमी ही है। इसलिए उसने कुत्तों तथा खरगोशों की अंडग्रन्थियों के रसों के मिश्रण द्वारा एक एमलशन (पीने की चीज़) तैयार करके इन्जेक्शन की सलाह दी। उसने स्वयं अपने ऊपर इस इन्जेक्शन का प्रयोग किया। तब उसकी अवस्था ७२ वर्ष की थी।

इन्जेक्शनों के बाद उसने यह अनुभव किया कि उसके शरीर में पुनः यौवन की तरंगें हिलोरें मारने लगी हैं। इसके बाद बहुत से वृद्धों ने इस नये उपचार का प्रयोग किया। और, एक जमाने में बूढ़ों को इस प्रकार के इन्जेक्शन देने का फैशन ही चल गया था। पर जैसी आशा इससे की गयी थी, डाक्टरों ने दीर्घ परीक्षा के अनन्तर वैसी नहीं पायी।"

इसके बाद और भी प्रयोग होते रहे हैं। आस्ट्रिया के डाक्टर वोरोनीफ ने यह राय जाहिर की कि आदमी से सब से ज्यादह मिलता हुआ जानवर बन्दर है, इसलिए उसकी कुछ खास माँस-ग्रंथियों को आदमी के शरीर में लगा देने से बूढ़े आदमी में जवानी आ जाती है। यह डाक्टर भारतवर्ष आया था, और उसने बहुत भारी फीस लेकर इन्दौर के सेठ हुकुमचन्द और उनकी पत्नी पर अपना प्रयोग किया था। इससे इस दम्पति का स्वास्थ्य कुछ अंश में सुधरा तो सही, पर असली जवानी वापिस आना और ही बात है। अस्तु, डाक्टर अब इस बात से असंतुष्ट होकर नहीं बैठ गये हैं। वे नये-नये प्रयोग करते जा रहे हैं; आशा है धीरे-धीरे अधिक अधिक सफ़लता मिलेगी।

जैसा कि हमने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में कहा है, इस दिशा में मनको शान्त और प्रसन्न रखने, चिन्ताएँ न करने, ईर्षा न करने इन्द्रियों को वश में करने आदि से बहुत सहायता ली जा सकती है, और लेने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। भारतवर्ष में राजयोग और हठयोग आदि के जो उपाय प्रचलित हैं, उन्हें अच्छे वैज्ञानिक ढंग से अमल में लाने की आवश्यकता है। योरप अमरीका में इस तरह का काम हो रहा है, और यह आगे और अधिक होने की सम्भावना है।

आदमी में हमेशा जवान बने रहने की लालसा है। इसी तरह अगर उसे अपने जीवन में कोई कष्ट या दुख न हो तो वह अमर होना चाहता है। अकसर आदमी को अपने घरवालों, रिश्तेदारों, और मित्रों आदि का, तथा अपने गाँव या नगर आदि के वातावरण का इतना मोह

हो जाता है कि अगर उसका वश चले तो वह कभी न मरे। चिकित्सकों ने समय-समय पर ऐसे उपाय खोजने की कोशिश की है कि कि आदमी की मृत्यु न हो, या उसे मरने पर फिर जिन्दा किया जा सके। इस दिशा में अभी सफलता नहीं मिली है, फिर भी यह तो सिद्ध हो गया कि कभी-कभी जिस आदमी को आम तौर से मरा हुआ समझा जाता है, वह असल में मरा हुआ नहीं होता, अगर उसकी नये-से-नये और उन्नत साधनों से आवश्यक चिकित्सा की जाय तो कुछ दशाओं में वह मौत के मुँह में जाने से बच सकता है; उसकी मृत्यु कुछ समय तक टल सकती है। आगे इसमें और अधिक प्रगति होने की आशा है।

—:०:—

नवाँ अध्याय

मनोरंजन

पिछले एक अध्याय में स्वास्थ्य के बारे में लिखा गया है। वहाँ उसके जिन उपायों का खास ज़िक्र किया गया है, उनके अलावा मनोरञ्जन की भी बहुत आवश्यकता है। इस अध्याय में इसके बारे में कुछ विस्तार से विचार करना है।

आदमी के शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर तन्दुरुस्त रहने से मन प्रसन्न रहता है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि मन प्रसन्न न रहने का स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। इसलिए आदमी के वास्ते मन की प्रसन्नता का महत्व स्पष्ट है। मनोरंजन की आवश्यकता आदमी को स्वभाव से ही, कुदरती तौर पर, होती है। शुरू-शुरू की हालत में आदमी को शारीरिक परिश्रम बहुत करना पड़ता था, दिन भर उसे खाने पीने की चीजों की तलाश करनी होती थी। इसमें दौड़-धूप और उछल-कूद आदि का उसे काफी अवसर मिल जाता था। उस समय आदमी को व्यायाम या मनोरञ्जन की अलग जरूरत नहीं रहती

थी। पीछे खेती का आविष्कार होने पर, जब कुछ आदमी धनवान या ज़मींदार बन गये, या गुलामों के मालिक हो गये तो इन्हें दिन भर कोई काम करने को न रहा। इन्हें अब मनोरञ्जन की विशेष या अलग आवश्यकता हुई। इसके लिए इन्होंने दूसरों से गाने बजाने और नाचने का काम लिया। इस तरह अब कुछ लोगों के लिए मनोरञ्जन दूसरे कामों से अलग हो गया, और कुछ आदमी केवल ऐसा धंधा करने वाले हो गये; जिससे दूसरों का मनोरंजन हो। पर ये दोनों ही तरह के आदमी कुल मिलाकर समाज में बहुत ज्यादह नहीं हुए। ऐसे आदमियों की संख्या ही अधिक रही, जिनका रोजमर्रा का मुख्य समय अपनी-अपनी ज़रूरतें पूरी करने में ही बीतता था। इन्होंने अपने काम के साथ ही अपना थोड़ा-बहुत मनबहलाव करने का रास्ता निकाला। अकसर देखने में आता है कि औरतें हाथ-चक्की से आटा पीसने के साथ-साथ गाती भी रहती हैं। इसी तरह किसान खेत में पानी देने के लिए चरस चलाते समय, और मजदूर भारी बोझ ढोते समय कुछ खास तरह का गीत गाते रहते हैं, इससे उन्हें अपने काम में विशेष थकान नहीं होता।

अकसर आदमियों को अपने काम-धंधे से किसी समय थोड़ी देर की छुट्टी मिल जाती है। ऐसे समय का उपयोग बहुत से आदमी विश्राम या मनोरञ्जन के लिए कर लेते हैं। प्रायः हरेक समाज ने हफ्ते का कोई एक दिन, या महीने की खास-खास तिथियाँ ऐसी निश्चित कर दी हैं, जिनमें रोजमर्रा के काम-धन्धे से छुट्टी रहे; जैसे ईसाइयों ने रविवार का दिन, और हिन्दुओं में अष्टमी, पूर्णमासी और अमावश्या अवकाश के दिन माने जाते हैं। इसके अलावा तरह-तरह के त्योहार, पर्व, उत्सव आदि भी निश्चित कर लिये गये हैं, उनका भी एक उद्देश्य यही है कि आदमी काम-धंधे की चिन्ता से मुक्त रहकर खेल तमाशे आदि में अपना मन बहलावे। समय-समय पर मन-बहलाव के अनेक उपाय निकाले गये हैं।

अपनी-अपनी स्थिति और सुविधा के अनुसार आदमी कई

तरह के मनोरञ्जन किया करते हैं—(१) अपने घर में ही; जैसे ताश शतरञ्ज, चौपड़, केरमबोर्ड, संगीत, हारमोनियम, ग्रामोफोन आदि। इनमें कोई व्यायाम नहीं होता। (२) घर से बाहर चौक या मैदान में तरह-तरह के खेल जिनमें शारीरिक व्यायाम होता है, जैसे कबड्डी गेंद-बल्ला, क्रिकेट, फुटबाल, हाकी, वालीबाल, गोली-टीप आदि। (३) प्राकृतिक दृश्यों के देखने के लिए नदी के किनारे, पहाड़ पर, समुद्र के किनारे या जंगल में घूमना; पैदल, साइकल पर, घोड़े पर, या मोटर आदि में। (४) सामूहिक मनोरञ्जन जैसे नाटक, सिनेमा, टाकी, टेलीविज़न आदि। (५) घुड़दौड़ आदि जिसमें मनोरञ्जन के साथ, जुये से धन कमाने की भी इच्छा रहती है।

अब मनोरंजन के कुछ साधनों के आविष्कार और विकास का विचार करें। पहले ताश की बात लें। ताश का खेल बहुत पुराना है, और इसका बड़ा प्रचार है। यह कहा जाता है कि इस की शुरूआत अरब में हुई। वहाँ किसी बादशाह को अपनी दाढ़ी के बाल नोचने की आदत थी। हाथ खाली होते ही, वह दोनों हाथों से बाल नोचने लगता। इस तरह उसकी दाढ़ी गञ्जी हो चली। मुसलमानों में दाढ़ी का रिवाज है। यह सोचकर बादशाह के चतुर मंत्री ने ताश का खेल निकाला। अब बादशाह के हाथों को बड़ा मनोरञ्जक काम मिल गया, और दाढ़ी का पिंड छूट गया। यह सत्य हो या न हो, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस खेल से मनुष्य जाति की सामाजिक स्थिति पर रोशनी पड़ती है। एक पत्ता गुलाम होता है, यह इस बात की याद दिलाता है कि किसी समय कुछ देशों में समाज में गुलामी का बड़ा चलन था। गुलाम को बेगम भी मार डालती है; इससे गुलामों का ओछा दर्जा साफ़ जाहिर है। बेगम बादशाह से पिटती है, इससे स्त्री पुरुषों की असमानता का परिचय मिलता है। बादशाह इक्के से हारता है, इससे यह शिक्षा मिलती है कि एकता या सङ्गठन में इतना बल होता है कि उसके सामने बड़े से बड़े शासक की भी कुछ नहीं चलती।

शुरू में ताश का खेल बहुत सीधासादा रहा होगा। पीछे धीरे-धीरे इसके बहुत से रूप प्रचलित होगये। इन खेलों में दो से लेकर छः आदमी तक भाग ले सकते हैं, और कुछ हालतों में खेलनेवालों को, जीतने के लिए, काफी चतुराई से काम लेना पड़ता है। इस तरह खेल-खेल में बुद्धि के विकास का अवसर मिलता है।

अब गाने-बजाने के बारे में विचार करें। पहले, आदमी को गाने के साथ किसी बाजे आदि बाहरी साधन की ज़रूरत न थी। उसके मन में लहर आयी, वह कुछ गुनगुनाने लगा। उससे उसका मन प्रसन्न हुआ, जी बहला। उसका गाना सुन कर दूसरे आदमी को आनन्द हुआ, उसने भी वैसा गाना गाने की कोशिश की, और कुछ हालतों में सफल भी हो गया। अब भी बहुत से आदमी गाने के साथ कोई बाजा नहीं बजाते, और न दूसरों से ही बजवाते हैं। तो भी बाजे का चलन, और उसका गाने के साथ सम्बन्ध बहुत समय से है। आदमी ने देखा कि उसके गाने के साथ किसी चीज के बजने की आवाज का अच्छा मेल बैठता है, बस उसने गाने के साथ बजाने का सिलसिला बैठा दिया। गाना बजाना दोनों काम एकसाथ होने लगे, कुछ हालतों में बाजा बजाने का काम अलग भी हुआ, और अब भी होता है।

शुरू में आदमी जंगल में रहता था। पशुओं के चमड़े और हड्डियों आदि के अलावा सींगों से भी उसे काम पड़ता था। किसी समय उसने अनुभव किया कि खास तरह के सींग में फूंक मारने से बड़ी अच्छी आवाज़ आती है, उसने उसका फिर प्रयोग किया। धीरे-धीरे उसे मन बहलाने का अच्छा साधन, नरसिंहे आदि के रूप में, मिल गया; पीछे वह उसमें सुधार करता रहा। इसी तरह किसी समय आदमी को दूसरे अनुभव हुए। उसने देखा कि जङ्गल में हवा चलती है, और खासकर, जब वह बांसों के छेदों में से होकर गुजरती है तो खास तरह की सुरीली आवाज निकलती है। उसने बांस का टुकड़ा लिया; उसमें छेद किये, और अपने मुंह से उसमें फूंक मार कर आवाज करने के प्रयोग किये। इसके फलस्वरूप बांसुरी का आविष्कार हुआ। भारतवर्ष में कृष्ण

की बांसुरी ने कैसा चमत्कार दिखाया ! पुरुषों और स्त्रियों का ही नहीं, पशु, पक्षियों तक का उसने मन मोह लिया। इस देश में संगीत विद्या ने बहुत पुराने ज़माने में ही अच्छी उन्नति करली थी। यहाँ वेदों में, जो संसार का सब से पुराना साहित्य है, एक वेद सामवेद है, जिसमें गानविद्या का विस्तार से विचार किया गया है।

यों तो गाना बजाना आदमी के लिए स्वाभाविक है, पर मालूम होता है कि इसका विकास दूसरे देशों में भारतवर्ष के बहुत पीछे हुआ। यद्यपि योरप अमरीका में आजकल तरह-तरह के बाजों का चलन है, और उन बाजों का संसार के दूसरे देशों में भी बहुत प्रचार है, तो भी वे कला की दृष्टि से इतने ऊँचे दर्जे के नहीं हैं, जितने भारतवर्ष के सारंगी, सितार आदि हैं। यहाँ के आदमियों ने बहुत पुराने जमाने में यह जान लिया था कि शब्द किसी वस्तु के कम्पन या थरथराहट से पैदा होता है। वस्तु के कम्पन से वायु में कम्पन होता है। वायु के कम्प हमारे कान के परदे से टकराते हैं, और उसमें कम्प पैदा कर देते हैं। परदे के कम्पन से हमें वही शब्द सुनाई देता है, जो उस वस्तु से पैदा हुआ है। इस तरह हम शब्द सुनते हैं। इसी सिद्धान्त पर अनेक शब्द-यंत्र बने हैं।

बोलनेवाले यंत्र या बाजे बनाने में, संसार में समय-समय पर कैसी प्रगति हुई, इसका कुछ अनुमान आगे दी हुई घटनाओं से लग जायगा। "कहा जाता है कि अब से तीन हजार वर्ष पहले चीन में शब्द-विज्ञान का अच्छा प्रचार था। एक बार एक अफ़सर ने दो हजार मील की दूरी से चीन के राजा के पास संदेश भेजने का विचार किया। उसने दूत पर विश्वास न किया और एक संदूक देकर उससे कह दिया कि राजा इस बक्स को खोलकर मेरा संदेश सुन लेंगे। दूत ने वह बक्स राजा के सामने ला रखा। राजा ने उसे खोला और उस अफ़सर की सारी बातें साफ़-साफ सुन लीं। इस तरह राजा के पास अफ़सर के शब्द बक्स में बन्द होकर आगये। पुस्तकों से मालूम होता है कि चीन में गुप्त समाचार भेजने की यह प्रथा पुराने ज़माने में बहुत प्रचलित

रही। योरप में भी प्राचीन काल से फोनोग्राफ बनाने के प्रयत्न हो रहे थे। सन् १२६४ ई० में राजर वेकन ने एक प्रतिमा ऐसी बनायी थी, कि वह बात करती थी। इटली निवासी पोर्टो ने सन् १५८० में नल में शब्द बन्द किया था, और नल से शब्द सुनवा कर उसने मनुष्यों को आश्चर्य में डाला था। सन् १६८२ में ग्रेंडलर नाम के एक जर्मन डाक्टर ने शीशे की बोतल में शब्द बन्द किया था। जब वह बोतल खोलता था, उससे शब्द निकलता था और आदमी अचम्भे में पड़ जाते थे। लियोनार्ड ह्वीलर ने १७६१ में बोलती हुई कल बनाने के उपाय समाचारपत्रों में प्रकाशित किये थे। उन उपायों के आधार पर सन् १७६७ में एक विज्ञान-परिषद ने सफलता पूर्वक बोलनेवाली कल बनायी। सन् १८५६ में जर्मनी निवासी केनिङ्ग और इंगलैंड निवासी स्काट ने मिल कर बोलती हुई कल बनायी थी।

"आधुनिक फोनोग्राफ के आविष्कार का श्रेय अमरीका निवासी थामस एलवा एडिसन को दिया जाता है। वैज्ञानिकों ने पहले वायु में होनेवाले कम्पों के चित्र उतारने का उद्योग किया। जब कम्प चित्र-कारी में पूर्ण सफलता मिल गयी, तब इस बात की चिन्ता हुई कि इन शब्द-चित्रों को फिर शब्द में कैसे परिणत किया जाय। यह कठिन कार्य एडिसन ने किया। उन्होंने सन् १८७६ में फोनोग्राफ या ग्रामोफोन का आविष्कार किया। धीरे-धीरे इसमें कई सुधार हुए और इसका रूप भी बहुत सुन्दर, और, आकार सुविधाजनक किया गया। छोटी सी घड़ी के रूप में भी ग्रामोफोन मिलता है। फोटोफोन नाम की कल द्वारा, गाना सुनते हुए गानेवाले का चित्र भी दिखायी देता है। सिनेमा में टाकी (वाक् पट) का आविष्कार इसी कला द्वारा हुआ है। ग्रामोफोन का प्रचार अब सभी देशों में हो गया है। बड़े-बड़े शहरों में ग्रामोफोन कम्पनियाँ है। आगे इसकी और भी अधिक उन्नति तथा प्रचार होने की आशा है।"*

ग्रामोफोन की तरह आजकल हारमोनियम का भी बड़ा प्रचार है।

---

*श्री वासुदेवसहाय बी० ए० की 'आधुनिक आविष्कार' पुस्तक के आधार पर।

इसका आविष्कार सौ वर्ष से ज्यादा हुए, पेरिस (फ्रांस) निवासी एलेग्जेंडर डिवेन ने किया था। पीछे इसमें समय-समय पर सुधार होता रहा। संगीत-मंडलियों द्वारा इसका खूब उपयोग होता है। बहुत सी जगहों में, खास तौर से लड़कियों को इसकी शिक्षा अवश्य दी जाती है।

ऊपर सिनेमा का जिक्र आया है। इसका आधार फोटोग्राफी है।* पिछली सदी से फ्रांस और इंगलैंड के वैज्ञानिक कुछ रसायनों पर सूर्य की किरणों का प्रभाव देखने लगे थे। सर इम्फ्रे डेवी ने यह बात मालूम की कि यदि किसी कागज को सिलवर-नाइट्रेट में भिगो लिया जाय और उस पर किसी वस्तु की छाया डाली जाय तो कुछ समय के लिए उस वस्तु का छाया-चित्र उस कागज पर उतर आयेगा। पीछे नीप्स नाम के एक फ्रांसीसी ने स्थायी चित्र उतारने की विधि निकाली। लेकिन उसे चित्र उतारने में दस घंटे लगते थे। इस लिए वह अचल या स्थिर वस्तुओं का ही चित्र ले सकता था, प्राणियों का नहीं। लुई जेक्स डेगरे के आविष्कारों से यह बाधा भी दूर हुई। अब छाया-चित्रण या फोटोग्राफी का मार्ग सरल हो गया। बाद में सिनेमा की भी उन्नति होने लगी। एक वस्तु के अनेक स्थितियों में शीघ्रता से अनेक चित्र लिये जाने लगे। इन चित्रों को बिजली के द्वारा शीघ्रता से घुमाया गया और उनका प्रतिबिम्ब परदे पर डाला गया। इस प्रकार फिल्म के तेजी से घूमने के कारण परदे पर चलते हुए आदमी, लहराते हुए सांप, उड़ते हुए पक्षी, कलोल करते हुए बालक दर्शकों को आनन्द देने लगे। बाद में छाया-चित्रों के साथ ही साथ शब्द-चित्र भी लिये जाने लगे। इन दोनों की सहायता से परदे पर प्रतिबिम्ब शब्द भी करता है। बोलती हुई फिल्म को 'टाकी' कहते हैं।†

अब इसमें और प्रगति होकर टेलीविज़न का आविष्कार हो चुका है। सिनेमा-घरों में तो फिल्मों में लिए हुए बासी (पुराने) चित्र ही

* कुछ आदमियों के लिए फोटोग्राफी भी मनोरंजन का साधन है; ये अपने केमरे से तरह-तरह के दृश्यों के चित्र उतारा करते हैं।

† 'आधुनिक आविष्कार' के आधार पर।

देखने को मिलते हैं। टेलिविज़न-घरों में तो बिलकुल ताज़े दृश्य देखे जा सकते हैं, बहुत दूर के स्थान पर कोई आदमी व्याख्यान दे रहा है तो उसी समय वह दृश्य दिख जाता है, और उसकी वाणी भी सुन ली जाती है। अभी बहुत दूर के दृश्य साफ दिखायी नहीं देते; चित्र छोटे तथा हिलते हुए नजर आते हैं। आशा है, इसमें क्रमशः सुधार होगा, फिर सिनेमा पुराने जमाने की चीज समझी जायगी।

इस कल-कारखानों के ज़माने में मनोरंजन ने एक खास महत्व प्राप्त कर लिया है। श्रमजीवियों की थकावट दूर करने समस्या को हल करने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचे जा रहे हैं। कहीं-कहीं काम के घंटों के बीच में विश्राम के साथ संगीत की व्यवस्था की जा रही है। खासकर अमरीका में किये गये विविध प्रयोगों से मालूम हुआ है कि अगर श्रमजीवियों की मानसिक प्रसन्नता का प्रबन्ध रहे तो कारखानों में उनके काम का परिमाण बहुत बढ़ सकता है। अस्तु, मानसिक प्रसन्नता केवल आर्थिक लाभ के लिए ही नहीं, शारीरिक स्वास्थ्य और जीवन को सुखमय बनाने के लिए भी बहुत आवश्यक है। इस ओर अब वैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान दिया जा रहा है; भविष्य में इसमें और भी अधिक प्रगति होगी।

हमने कहा है कि आदमी के लिए मनोरंजन आवश्यक है। पर वह समय पर, तथा उचित परिमाण में होना चाहिए, और हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं उसका मूल उद्देश्य न भुला दिया जाय। असल में चाहिए यह कि जो आदमी शारीरिक श्रम का धंधा करते हैं, वे ऐसे काम से मनोरंजन करें जिसमें शरीर की मेहनत न करनी पड़े; और जो लोग मानसिक कार्य करते है, उन्हें शारीरिक श्रम वाला मनोरंजन करना चाहिए। इसके अलावा, मनोरंजन न तो इतना खर्चीला हो कि हमें उसके लिए अपनी दूसरी ज़रूरतें पूरी करने में बाधा हो, और न वह इतने अधिक समय तक रहना चाहिए कि वह हमारे रोजमर्रा के कामों में या हमारे विश्राम में बाधक हो। उदाहरण के तौर पर आजकल सिनेमा या टाकी में बहुत से आदमी अपना बहु

समय खर्च कर देते हैं, जो उन्हें सोने में लगाना चाहिए। कितने ही आदमियों को उसका ऐसा व्यसन हो जाता है कि वे कई-कई दिन लगातार उसे देखते जाते हैं। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, साथ ही, वे अपनी या अपने बाल बच्चों की जीवन-रक्षक या शिक्षा संबन्धी ज़रूरतों को पूरा करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे मनोरञ्जन से यथासंभव बचे रहना चाहिए।

दूसरे मनोरञ्जन, जिनसे बचे रहने की आवश्यकता है, वे हैं, जिनमें जुए का, यानी जल्दी ही, बिना मेहनत धन हासिल करने का भाव है। जुए के खेल बहुत तरह के हैं, और ये किसी-न-किसी रूप में बहुत पुराने जमाने से चले आते हैं। भारतीय पाठक जानते हैं कि पांडवों ने जुए में अपना सब राजपाट गंवा दिया था, यहाँ तक कि वे द्रौपदी को भी हार बैठे थे। इस समय यहाँ कितने ही आदमी और नहीं तो दीवाली के अवसर पर अवश्य ही जुआ खेलते हैं। दूसरे देश भी इससे बचे हुए नहीं हैं। इसके नित्य नये रूप निकलते रहते हैं। यही नहीं, सार्वजनिक रूप से भी जुआ खूब होता है। मिसाल के तौर पर घुड़दौड़ जो पहले शारीरिक व्यायाम और साधारण मनोरञ्जन का काम था, अब एक सामूहिक जुआ हो गया है। यह जुआ बड़े-बड़े अधिकारियों के नाम और सहयोग से होता है, और इसमें लोगों का बेशुमार धन नष्ट होता है। हमें ऐसा ही मनोरञ्जन करना चाहिए, जिससे कोई नैतिक या आर्थिक हानि न हो, और मन को आनन्द मिले। अच्छा तो यह है कि हमारे काम में ही हमारा मनोरञ्जन हो। हम बाहरी साधनों पर निर्भर न रह कर खुद ही अपना मनोरञ्जन कर सकें। मनोरञ्जन और काम-धन्धे का ठीक मेल या सामंजस्य होना मानव जीवन की भारी सफलता है।

———

तीसरा भाग

जीवन-निर्वाह



खेती की सृष्टि करके मनुष्य ने शरीर-रक्षा का अमोघ साधन निकाला। तब से उसे फिर इस बात की चिन्ता नहीं रही कि शरीर को बचाये रखने के लिए देश विदेश में घूमते रहना पड़ेगा। वह स्थिर हुआ। स्थिर हो जाने के बाद, मन जो कभी स्थिर नहीं रहता, इस नवीन अवस्था को अधिकाधिक आकर्षक, सुखप्रद और स्थायी बनाने के लिए तरह तरह की उधेड़बुन में फंस गया। धीरे-धीरे वह अपनी कल्पनाओं को कार्य रूप में परिणत करने लगा।

—देवदत्त मिश्र

दसवाँ अध्याय
आदिम अवस्था

मनुष्य जाति ने अब तक क्या प्रगति की है, इसका कुछ ठीक अनुमान करने के लिए यह जान लेना ज़रूरी है कि आदमी बिलकुल शुरू की हालत में किस तरह का जीवन बिताता था, और उसमें पहले किन बातों में कुछ फरक पैदा हुआ।

मनुष्य जाति चिरकाल से यात्रा कर रही है। हम कहाँ से रवाना हुए थे, इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं है। वह स्थान और परिस्थितियां इतनी दूर रह गयी हैं कि उनका ठीक-ठीक हाल जानने के लिए अब काफी साधन नहीं हैं। मौजूदा स्थिति में जिन-जिन आधारों से उस समय की बात का अनुमान हो सकता है, उनसे ही किसी नतीजे पर पहुँचने की कोशिश की जाती है। स्थान-भेद के अनुसार मनुष्य की जीवन-यात्रा का प्रारम्भिक स्वरूप कुछ जुदा-जुदा होना भी सम्भव है। निदान, इस विषय में लेखकों में बहुत मतभेद है। तो भी मोटी-मोटी बातों में आधुनिक विचारकों का मत बहुत कुछ मिलता है।

यह समझा जाता है कि शुरू में आदमी की एक बहुत बड़ी जरूरत अपना निर्वाह करने की थी। उसे हर समय खाने-पीने की चीजें तलाश करने की धुन रहती थी। आदमी के पीने के लिए पानी तो एक ही स्थान पर, नदी या झरने से, बहुत दिन तक मिल सकता है; लेकिन खाने के लिए फल आदि बराबर नहीं मिलते रह सकते। थोड़े-बहुत दिन में एक जगह के पेड़ों के फल समाप्त हो जाते, फिर उनकी तलाश में दूसरी जगह जाना पड़ता। इसी तरह शिकार की खोज के लिए घूमना-फिरना जरूरी था। बस, आदमी का किसी एक जगह जमकर रहने से काम नहीं चल सकता था। उसे बराबर घूमना-फिरना होता

था। बिना घूमे-फिरे उसके पास अपने जीवन-निर्वाह का कोई अन्य साधन न था। सुनसान जङ्गल में रहने या घूमने में कठिनाई होती है, इसलिए आदमियों को टोलियां बनाना ठीक जंचा। अपने खाने-पीने की जरूरतें पूरी करने के लिए आदमी को नये-नये स्थानों में जाने का, और वहां का अनुभव करने का अवसर मिला। इससे उसकी सोचने-विचारने की ताकत बढ़ी।

आदमी की बुद्धि का पहला चमत्कार आग का आविष्कार करना था। शायद शुरू में किसी ज्वालामुखी की लपटों से आदमी को आग का अनुभव हुआ हो, या सम्भव है, पहले-पहल किसी जङ्गल में पेड़ों पर बिजली गिरने या बांस आदि की रगड़ से आग पैदा हुई हो, जिसमें अनेक पेड़ों के जलने के अलावा बहुत से आदमी और पशु-पत्ती जल मरे हों। ऐसी दुर्घटना का आदमी की प्रगति में बड़ा अजीब महत्व है। इससे उसे कहीं कोई अधजला जानवर मिल गया। उसने खाकर देखा तो कच्चे मांस के मुकाबले में उसे ज्यादा स्वादिष्ट पाया। फिर तो उसे भुने मांस की चाट पड़ गयी। धीरे-धीरे वह जङ्गली अनाज को भी आग में भून कर खाने लगा। आग से आदमी का सर्दी से बचाव होता था। इसके अलावा उसकी, जङ्गली जानवरों से भी, रक्षा होती थी। जङ्गली जानवर आग के पास नहीं आते, इसलिए आग आदमी के लिए एक रक्षक था या पहरेदार का काम देने लगी। आग से अंधेरे के समय उजाला या रोशनी भी होती है। इस तरह आग बहुत उपयोगी है। जहाँ आग होती, वहाँ आदमी इकट्ठे हो जाते थे। आग ने आदमी को गुफा के एकान्त जीवन की जगह सामाजिक जीवन प्रदान किया, और उसकी प्रगति में एक नया युग शुरू कर दिया। कोई आश्चर्य नहीं कि आग के इस महत्व के कारण ही आदमी उसके प्रति बड़े आदर और भक्ति का भाव रखने लगा, और उसे देवता के रूप में पूज्य मानने लगा हो।

मुमकिन है कि आग का आविष्कार हो जाने के समय से ही पुरुष और स्त्री के काम में अन्तर आने लगा हो। पहले स्त्री पुरुष के साथ,

जङ्गल में घूमती, शिकार करती, मछलियाँ पकड़ती, और कन्द-मूल-फल संग्रह करती थी। लेकिन अब आग की उपयोगिता मालूम होने पर आग को हर समय बनाये रखने का काम था। आजकल तो आदमी चाहे जब दियासलाई * जला कर आग पैदा कर सकता है, पर उस समय एक बार आग बुझ जाने पर आदमी के लिए बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती होगी। आगको बनाये रखने के लिए उसमें लकड़ी, घास-फूस या कंडे आदि डाले जाते होंगे। आदमी धातुओं का इस्तेमाल जानने से पहले पत्थर का ही उपयोग बहुत करता था, उसी के वह औजार या बर्तन बनाता था। शायद पत्थर में आग की चिनगारी निकलते देखकर उसे मालूम हुआ हो कि पत्थर की रगड़ से, और खास कर चकमक पत्थर से, आग पैदा की जा सकती है। पर जब तक यह मालूम नहीं हुआ था, तब तक तो आदमी के सामने यह समस्या थी ही कि किस तरह आग बराबर बनी रहे, बुझने न पाये।

आग की रक्षा करने का काम स्त्री को दिया गया। इसका कारण यह भी था कि जब तक बच्चे चलने-फिरने योग्य नहीं होते, माँ को उसकी सार संभार करनी पड़ती है। वह घूमने-फिरने का विशेष कार्य नहीं कर सकती। वह बहुत कुछ एक ही जगह रहने को मजबूर होती है। इस प्रकार स्त्री एक जगह रहती हुई बच्चों की देख-भाल करने के साथ आग को बनाये रखने का भी काम करने लगी। क्योंकि आग को दूर-दूर के स्थानों में ले जाना बहुत कठिन था, और उसके बुझ जाने की सम्भावना थी, अब टोली के आदमियों का पहले की अपेक्षा एक ही जगह अधिक लगाव हो गया। आदमी शिकार के लिए घूमते फिरते, और उस काम से निपट कर अपनी आग और बच्चों

*जिस पाकेट साइज की दियासलाई को आजकल हम लोग काम में लाते हैं, उसका आविष्कार १०० साल से पहले नहीं हुआ था। उसके पहले बड़े लंबे आकार की दियासलाइयां प्रचलित थीं। जब छोटे आकार की दियासलाई का आविष्कार हुआ तो प्रारंभ में बहुत से लोगों ने उसका विरोध इस दलील पर किया था कि उनसे चोरों और बदमाशों को अधिक सुविधा मिलेगी। —'भारत'

के पास लौट आते। जब शिकारियों को दूर से अपनी आग चमकती हुई दिखाई देती तो उन्हें खुशी होती। वह जान जाते कि सब व्यवस्था ठीक है, कोई गड़बड़ नहीं है, औरतें और बच्चे उसकी इन्तजार कर रहे हैं। अगर रोशनी न दिखाई देती, आग बुझी हुई होती तो उन्हें यह अन्दाज हो जाता कि उनकी गैरहाजिरी में दुश्मन आये हैं, और स्त्रियों और बच्चों को भगा ले गये हैं, या जंगली जानवर उन्हें खा गये हैं। इससे मालूम होता है कि उस जमाने में आदमी के लिए आग का कितना महत्व था। आग की जगह को वह घर की तरह प्यार करने लग गया।

हमने ऊपर कहा है कि आदमी आग की उपयोगिता जानकर उसे हर समय बनाये रखने लगा। लेकिन एक विचार यह भी है कि आदमी आग की ओर, उसकी उपयोगिता के कारण, आकर्षित नहीं हुआ। आदमी का मूल निवास पृथ्वी के ठंडे हिस्सों में नहीं था, इसलिए उसे गरमी की खास जरूरत नहीं थी। रही खाना पकाने की बात। जङ्गली हालत में आदमी किसी ऐसे कार्य के लिए मेहनत करना नहीं चाहता, जिसका उसे पहले से अभ्यास न हो। इस विचार-धारा के अनुसार आदमी आग की तरफ़ शायद इसलिए आकर्षित हुआ कि उसकी रोशनी उसे अच्छी लगी, आग की लौ में लाल, गुलाबी, पीला आदि तरह तरह के रङ्ग होते हैं। उसका रूप लगातार बदलता रहता है। जो चीज उसमें आती है, वह जलती रहती है। इससे बड़ा तमाशा मालूम होता है। बालक बहुत दफा केवल इस तमाशे के लिए ही घास-फूस इकट्ठा करके इसमें आग लगाया करते हैं। फिर, उन्हें अन्धेरे से बहुत डर लगा करता है और आग से अंधेरा दूर होता है। इसलिए वे आग को पसन्द करते हैं। मुमकिन है कि जङ्गली आदमी भी शुरू में तमाशे और रोशनी के कारण ही आग की तरफ आकर्षित हुआ हो। जो हो, जब आग बनाये रखने की बात उसके सामने आयी, तो यह कार्य प्रायः औरत के सुपुर्द किया गया।

कपड़े के बारे में पहले लिखा जा चुका है। शुरू में कपड़े का काम

चमड़े से लिया गया। अस्तु, कपड़ा प्रकृति से बना-बनाया नहीं मिलता। कपड़ा बनाने का काम पहले स्त्री ही करती थी। वह आदमी के मारे हुए जानवर पर से खाल उतारती, उसे गरम करके उस पर से बाल हटाती और तेज पत्थर से काटकर उसे जैसी ज़रूरत होती वैसे ही आकार का बनाती। पहले उसी ने समूर तैयार किया, और चमड़ा और रस्सी बनायी।

गरम देशों में समूर या चमड़े का पहनना ठीक नहीं रहता। वहाँ स्त्री ने बुनने का काम किया। उसने जङ्गली घास या पौधों के सूखे हुए रेशे लिये और उन्हें एक-दूसरे के ऊपर-नीचे दायें-बायें करके उनसे चटाई सी बना ली। उसका कपड़े के तौर पर इस्तेमाल होने लगा। इसी तरह स्त्री ने भेड़ों की ऊन बंटकर डोरे तैयार किये और उनसे बुनकर कम्बल या कपड़ा तैयार किया। सम्भव है, उसे बुनने की कल्पना मकड़ी को जाला बनाते हुए देखकर हुई हो।

शुरू में स्त्री के पास चीज़ रखने का कोई साधन न था। आदमी को प्यास लगने पर नदी या चश्मे के पास जाना पड़ता था। ज़रूरत थी कि पानी किसी बर्तन में लाया जाय, वह पानी पास रखा रहे और जरूरत के समय काम आवे। इसी तरह अनाज आदि चीज़ें बिखरी पड़ी रहें, तो ख़राब और नष्ट होती हैं; इसे रोकने के लिए उन्हें टोकरी में रखना अच्छा रहता है। ऊपर, स्त्री के बुनाई के काम का जिक्र किया गया है, उसने उसी तरह अपनी बुद्धि का उपयोग करके टोकरियाँ बना ली। इससे यह भी फायदा हुआ कि दूर से जङ्गली फल या दूसरी चीजों को टोकरी में इकट्ठा करके लाने का सुभीता हो गया। यह टोकरी सिर पर या पीठपर रखकर लायी जा सकती थी। इसी तरह बहुत सी चीजें एक ही बार में आ जाती थीं, बारबार जाना आना नहीं पड़ता था।

कुछ टोकरियों की बुनाई बहुत घनी यानी पासपास की गयी, और उन पर गोंद आदि का लेप करके उन्हें ऐसा बना लिया गया कि उनमें पानी या दूध जैसी बहनेवाली चीजें रखी जा सकें। स्त्री को

मालूम हुआ कि अगर पत्थर में गड्ढा हो तो उससे भी पानी रखने का का काम लिया जा सकता है; यही नहीं, कुछ पत्थर ऐसे भी है कि उन्हें एक खास किस्म के सख्त पत्थर से खोदकर उनके तरह तरह के वर्तन बनाये जा सकते हैं। कुछ समय बाद यह अनुभव हुआ कि खास-खास पत्थरों के बर्तनों में पानी भर कर आग पर गरम किया जा सकता है। यह जान लेने पर स्त्री ने अनाज को पानी में उबालना शुरू कर दिया। सख्त पत्थर के दो चौरस टुकड़ों की चक्की बनाकर स्त्री ने अनाज को दलना या पीसना भी शुरू कर दिया। पहले आदमी कच्चा माँस या कच्चा अनाज खाता था। बाद में भुनी हुई चीज़ें खाने लगा। अब तो कई तरह का पका हुआ भोजन तैयार होने लगा।

ऊपर की पंक्तियों से जाहिर है कि जुलाहे, कुम्हार, रसोइये और पीसनहारे का काम शुरू में स्त्री ने ही किया। उसने तरह-तरह की चीजें संग्रह करके रखी, जिससे पीछे सर्दी या बरसात में ज़रूरत पर काम आवें। उसने सर्दी से बचने के लिए कपड़ा बनाया, खाना पकाने के लिए अच्छे तरीके निकले और सब चीजों को रखने के लिए बर्तन या टोकरी आदि बनायी। इस तरह उसने आदमी और बच्चों के लिए सुख का सामान पैदा किया, उसे जरूरत के वक्त के वास्ते जोड़ कर रखा और सभ्यता की गाड़ी आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भाग लिया।

जङ्गली हालत में औरत ने कितना काम किया है, इसकी एक मिसाल आगे दी जाती है।* सन् १७७० के लगभग एक अंग्रेज स्त्री ने, जिसका नाम हर्न था, कनाडा में खोज के लिए यात्रा की। उसके दल ने बर्फ में एक अजीब तरह के जूते के निशान देखे। उन निशानों के रास्ते चलने पर उन्हें वहाँ की एक मूल निवासी इण्डियन औरत मिली, जो बिलकुल अकेली थी। श्रीमती हर्न के दल के इण्डियनों ने उससे बात चीत की तो मालूम हुआ कि उस औरत को दुश्मन का कबीला उड़ा लाया था। मौका पाकर वह औरत उस कबीले के पास से भाग आयी और उसने अपने घर जाने की कोशिश

*एम० जे० रेनल्डस की 'हाऊ मेन कांकर्ड नेचर' पुस्तक से।

की। लेकिन उसे रास्ता नहीं मिला। अब उसे बिलकुल अकेले रहते हुए सात महीने हो गये थे। उसके पास कोई बन्दूक या किसी किस्म का हथियार नहीं था। लेकिन उसने फन्दे बना लिये थे और अपने खाने के लिए काफी खरगोश और तीतर पकड़ लिए थे। खरगोशों के चमड़े से उसने साफ़ गरम कपड़े बनाये और उन पर कुछ झालर भी लगायी। उसने अपने रहने के लिए झोपड़ी बनायी और पत्थर से आग तैयार की। वह औरत अपने साथ चार पाँच इञ्च लोहे के तार और तीर की नोक ला सकी थी। इन्हीं चीजों से औजार का काम लेकर उसने अपने वास्ते बर्फ पर चलने के जूते बनाये, जिनको पहिन कर वह बर्फ पर घूमती और शिकार का ध्यान रखती थी। अपनी फुरसत के वक्त में उसने बेत की लकड़ी के छिलकों से एक जाल बनाया, जिससे वह बसन्त ऋतु में मछलियाँ पकड़ सके। उसने छः सौ फीट रस्सी तैयार कर ली थी। उसका स्वास्थ्य अच्छा था और वह अपने घर जाने योग्य थी। इस उदाहरण से साफ ज़ाहिर है कि जंगली हालत में स्त्री ने बड़ा काम किया है।

शुरू में आदमी मांस लाया करता था, और स्त्री शाक, भाजी, फल आदि संग्रह करने का काम करती थी। यह एक विचित्र संयोग है कि अब भी बहुत-कुछ वही पुरानी बात हमारे सामने है। अब भी शिकार करने और मछली पकड़ने के शौकीन आदमी ही पाये जाते हैं चाहे अब भोजन के लिए इन कामों की ऐसी ज़रूरत नहीं रही); और देहातों में बेर आदि फल लाने का काम ज्यादातर औरतें करती हैं, जैसा कि वे हज़ारों वर्ष पहले किया करती थीं।

अच्छा, शुरू के ज़माने में पुरुष ने क्या-क्या काम किया। पहले कहा जा चुका है कि वह शिकारी, माहीगर (मछुआ) और योद्धा था। उसने इन कामों के लिए अपनी बुद्धि का विकास किया। उसने पशुओं को पकड़ने और मारने के हथियार या औज़ार बनाये। शिकार करने के लिए आदमी के पास जो भी औज़ार थे, वे पहले पत्थर या लकड़ी के ही थे। खासकर पत्थर के हथियारों से ही आदमी हाथी जैसे बड़े

जानवरों का शिकार करता था। तीर कमान या धनुष बाण आदि का आविष्कार तो बहुत मुद्दत के बाद जाकर हुआ। आजकल के पाठकों को तीरंदाजी का महत्व बताने के लिए यह याद दिलाया जाता है कि बारूद का उपयोग होने तक सब बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में अच्छे तीर-चलानेवालों को ही सफलता मिलती थी। अब भी गाँव के आदमी तीर कमान के भरोसे भयानक-से-भयानक जङ्गली जानवरों का सामना कर लेते हैं। निदान, शुरू में आदमी घातक शस्त्रों की खोज में रहा है, स्त्री ने ऐसे कामों में बहुत कम भाग लिया है। आदमी ने मछलियाँ पकड़ने के लिए नाव या किश्ती भी बनायी। पहले वह तालाब या नदी के किनारे पर बैठकर ही मछली पकड़ता था। पीछे जब उसने अनेक बार नदियों में लकड़ी के लट्ठे तैरते देखे तो उसे भी तैरने, और नदी में तख्ते डालकर उन पर सवारी करने का विचार आया। अब वह पानी के अन्दर जाकर भी मछलियाँ पकड़ने की सोचने लगा। उसने पहले बेढङ्गी सी किश्ती बनायी, उसे बल्ली या लकड़ी के सहारे चलाया; पीछे सुधार करते-करते वह जहाज तक का उपयोग करना सीख लिया।

इस अध्याय को पढ़ने से मालूम हो गया कि आदमी ने, और उससे भी ज्यादा स्त्री ने आरम्भ में कैसी-कैसी चीज़ें बनायीं और क्या-क्या आविष्कार किये। उन्होंने किस प्रकार का जीवन बिताया। मनुष्य जाति इस अवस्था से अब बहुत आगे बढ़ गयी है, यहाँ तक कि साधारणतया अब उसके पुराने स्वरूप की कल्पना करना भी कठिन है। परन्तु अब भी जगह-जगह ऐसे आदमी मिलते हैं, जो इस जमाने में भी मनुष्य की आदिम अवस्था का जीता-जागता परिचय दे रहे हैं। भारतवर्ष में पहाड़ी और जङ्गली इलाकों में कुछ ऐसे आदमी मौजूद हैं, जिन्हें आधुनिक सभ्यता का कुछ स्पर्श नहीं हुआ है। इसी तरह अमरीका के भीतरी भागों में मध्य और दक्षिणी अमरीका के कुछ हिस्सों में और बहुत से टापुओं में भी ऐसा ही है। विशेष रूप से आस्ट्रेलिया के मूलनिवासी, आदिम अवस्था

के मनुष्यों के अच्छे नमूने हैं। वे लोग प्रायः वृक्षों की छाल पहनते हैं; जङ्गली जानवरों का, और कुछ दशा में आदमी का भी मांस खाते हैं। खेती करने की बात तो दूर रही, इन्हें पशु-पालन का अभ्यास नहीं है। इनमें विवाह शादी करने या पारिवारिक या सामाजिक जीवन बिताने का चलन नहीं है। इन लोगों का अपना अजीब और निराला जीवन बिताने का कारण यह है कि इनका 'सभ्य' मनुष्यों से संसर्ग नहीं हुआ है।

भरसक विरोध करते रहने पर भी आदिम अवस्था के आदमियों का क्षेत्र दिन पर दिन संकुचित या सीमित होता जा रहा है। उनमें से कुछ तो सभ्य आदमी के साथ संधि करते हैं, और कुछ मौत के घाट उतरना पसन्द करते हैं। इस तरह उनकी संख्या और स्थान का क्रमशः ह्रास हो रहा है। सम्भव है, जैसे दूसरे बहुत से स्थानों में हुआ, ऐसे ही कुछ समय बाद उन स्थानों में भी जङ्गली आदमी बिलकुल न रहें, जहाँ वे अब पाये जाते हैं। अस्तु, अभी तो कहीं-कहीं उनका अस्तित्व बना हुआ है और वे मनुष्य जाति के उस बचपन के समय का चित्र उपस्थित कर रहे हैं, जब उसने अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ ही की थी। जो विद्वान चाहें, वे उस चित्र को अध्ययन करके स्वयं यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य ने अब तक कितनी प्रगति की है।

ग्यारहवाँ अध्याय

औज़ारों का उपयोग

पिछले अध्याय में आदमी की आदिम अवस्था का विचार किया गया है। उस अवस्था में भी आदमी ने अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए औज़ारों का उपयोग किया था, पीछे इस काम में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। उसी का यहाँ विचार करना है।

औज़ारों का उपयोग आदमी अपने हाथ की खास तरह की बनावट के कारण ही कर सका है। इसका कुछ जिक्र पहले किया जा चुका है। जब आदमी हाथ में पत्थर लेकर काम करता है, तो मानो उसे पत्थर वाला हाथ मिल जाता है। पीछे, जब वह चाकू लेकर काम करता है तो यह समझा जा सकाता है कि उसने पत्थर वाले हाथ से काम लेना बन्द कर दिया है, और अब चाकू वाले हाथ से काम करने लगा है। इस तरह कई तरह के औजारों से काम ले सकने के कारण ऐसा मालूम होता है कि मानो उसके अनेक भुजाएँ हैं; वह जब चाहे जिस भुजा से काम ले सकता है। हिन्दुओं ने आठ भुजाओं वाली दुर्गा की तथा सहस्रबाहु नामक राक्षस की कल्पना की है। असल में हर एक आदमी ही सहस्र-भुजाओं वाला ऐसा व्यक्ति कहा जा सकता है, जिसके एक समय में, या एक साथ सिर्फ दो हाथ काम कर सकते हों।

आदमी हाथ से अनेक काम करता आ रहा है, लेकिन इसके साथ ही उसे औजारों की ज़रूरत रही है। बिना किसी साधन के, केवल हाथ से विशेष काम नहीं हो सकता। यह ज़ाहिर ही है कि औजारों के लिए पहले उन्हीं चीजों को काम में लाया गया, जो सीधे प्रकृति से मिल सकती थीं; जैसे लकड़ी, पत्थर और पशु। शुरू में आदमी ने लकड़ी की मदद ली। उसने पेड़ों की डाली, शाखा, तना, लता, काँटों आदि का कई तरह उपयोग किया। शाखा या टहनी मारने, फेंकने, मिट्टी खोदने आदि का काम देती थी। जब तक आदमी पत्थर का उपयोग न कर सका, उसने हड्डी से ही लकड़ी को नोकीला या तेज किया। जब लकड़ी को मोड़ने की ज़रूरत हुई तो उसे मद्दी आंच पर सेक कर मोड़ा गया। धीरे-धीरे लकड़ी की गदा, बर्छी, हल, तीर कमान, फूंकनी (आग में फूंक मार कर उसे तेज करने के लिए) आदि बनायी गयी है।

जहाँ आदमी को पत्थर मिलने लगा, वहाँ औजार बनाने में वह उसका उपयोग करने लगा। पत्थर का टुकड़ा बिना सुधारे ही चोट

पहुँचाने या फेंक कर मारने का काम दे सकता है। इस तरह आदमी ने उससे, ऊँचे ऊँचे पेड़ों के फल तोड़े और जानवरों का शिकार किया। पत्थर से फलों के कड़े छिलके या दूसरी चीजें तोड़ते-तोड़ते कभी पत्थर ऐसा टूट गया कि वह नोकदार या तेज हो गया। आदमी को उससे दूसरी चीजें काटना आसान मालूम हुआ। अब वह अपनी ज़रूरत के लिए कुछ पत्थरों को तेज किनारे या नोक वाला बनाने लगा। धीरे-धीरे अनुभव और प्रयोग करके आदमी ने पत्थर के चाकू, आरा, रेती, हथौड़ा, कुल्हाड़ी, खूंटा, फच्चर, और गदा आदि बनायीं। पत्थर के साथ लकड़ी का उपयोग होने से इनमें से कई औजारों का बहुत सुधार हो गया। पत्थर के बर्तन बनाये जाने की बात पहले कही जा चुकी है। इस तरह उस जमाने में पत्थर का इतना उपयोग हुआ कि उसे इतिहास में 'पत्थर का युग' कहा जाता है।

पशुओं से मिलनेवाली चीजों—दाँत, हड्डी, सींग, नख और पंजों आदि—से पत्थर और लकड़ी के औजारों का सुधार होने में मदद मिली। कुछ दशाओं में उनका अलग भी उपयोग किया गया, पर उनसे कोई खास नये औजार नहीं बनाये गये। चमड़े की पोशाक बनाने की बात पहले कही जा चुकी है; चमड़े के थैलों से सामान लाने-लेजाने की सुविधा हुई।

हजारों, और शायद लाखों वर्ष आदमी 'पत्थर के युग' में रहा। पीछे उसने और आगे कदम बढ़ाया। धीरे-धीरे उसे धातुओं का पता लगा। धातुएँ जमीन में अशुद्ध रूप में मिलती है, इनके साथ दूसरी चीजें मिली रहती हैं। आदमी ने इनका उपयोग पहले अशुद्ध रूपमें ही किया। पीछे आग का आविष्कार होने पर वह इन्हें शुद्ध करके अधिक उपयोगी बनाने लगा। बहुत से स्थानों में आदमी ने पहले ताम्बे या कांसे की चीजें बनायीं। पीछे विविध प्रयोग करके उसने इन धातुओं में दूसरी धातु मिला कर इन्हें कड़ा करना सीखा। फिर, वह इनका नया-नया उपयोग करने लगा। तो भी औजारों के लिए पत्थर उस समय तक थोड़ा-बहुत काम में आता ही रहा, जब तक कि लोहे

का आविष्कार नहीं हो गया। लोहे की खोज हो जाने पर औज़ार (और मशीनें) ज्यादहतर इसी धातु की बनायी जाने लगीं। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता कि हर जगह धातुओं में पहले ताम्बे का ही उपयोग हुआ, और लोहे का उसके बाद। कहीं कहीं आदमियों ने पहले लोहे से ही काम लिया है, पीछे उन्हें दूसरी धातुओं का ज्ञान हुआ। किस जगह के आदमियों ने पहले कौनसी धातु का इस्तेमाल किया, यह वहाँ की भौगोलिक और खनिज स्थिति पर निर्भर रहा है।

आदमी बहुत समय से लोहे का इस्तेमाल कर रहा है। अब तो कुछ थोड़े से जंगली कबीलों को छोड़कर सभी जातियों के आदमी इसे खान से निकालते और शुद्ध करके काम में लाते हैं। टीन, सोना, चाँदी आदि धातुएँ तो कहीं-कहीं ही पायी जाती हैं और लोहा दुनिया के करीब-करीब सभी हिस्सों में थोड़ा या बहुत पाया जाता है। लेकिन पहले हजारों वर्ष तक इसका इस्तेमाल बहुत कम हुआ है। प्रायः इसके छोटे छोटे औज़ार—चाकू, कैंची, बर्छी, हथौड़ा आदि ही बनाये गये हैं। हाँ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से साबित होता है कि भारत-वर्ष में अब से कम-से-कम सवा दो हज़ार वर्ष पहले भी अनेक धातुओं का उपयोग किया जाता था, और लोहे की बहुत सी चीज़ें बनायी जाती थीं। तो भी इसमें शक नहीं कि पिछले दो सौ वर्ष में लोहे के इस्तेमाल में 'दिन-दूनी, रात-चौगुनी' वृद्धि हुई है। आजकल औजारों का कोई अन्त ही नहीं। हर काम या पेशे वाले कुछ न कुछ औज़ार काम में लाते हैं। नाई का उस्तरा कैंची, या बाल काटने की मशीन होती है। दर्जी को सूई, कैंची, कपड़ा सीने की और उस पर स्त्री करने की मशीन चाहिए। धोबी को कपड़े पर स्त्री करने की मशीन की ज़रूरत होती है। डाक्टर के पास तो छोटे बड़े कितने ही प्रकार के औज़ार होते हैं। सुनार चाहे सोने चाँदी आदि किसी भी धातु के ज़ेवर बनावे, उसे कुछ औज़ार रखने ही होते हैं। इसी तरह खेती करने, कपास ओटने, सूत कातने और कपड़ा बुनने आदि दस्तकारियों के औज़ारों का उल्लेख किया जा सकता है। अब मशीनों

का युग है, हर काम के लिए मशीनें बन रही हैं। ज्यादहतर मशीनें और औज़ार लोहे के बनते हैं, या उनमें कुछ-न-कुछ लोहे की ज़रूरत होती है।

आदमी अपने पुराने जमाने के औजारों और हथियारों में समय-समय पर सुधार करता रहा है। हमारे वर्तमान साधन पहले किस रूप में थे, और अब हम कहाँ आ पहुँचे हैं, यह बहुत मनोरञ्जक विषय है। लेकिन हमें इसके ब्योरे में न जाकर कुछ मुख्य-मुख्य बातों का ही विचार करना है। याद रहे कि बहुत से औज़ारों को बनाने के लिए आदमी ने अपने मन में कोई खास योजना नहीं की थी। उसने यह निश्चय नहीं किया था कि अब मुझे इस तरह के औजार की ज़रूरत है, इसे बनाया जाना चाहिए। समय-समय पर कोई औज़ार संयोग से ही बन गया, और जब उससे कोई काम अच्छी तरह होने लगा तो फिर उस काम की दृष्टि से उस औजार में और भी सुधार किया जाता रहा। इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी औज़ार अधिक उपयोगी होते गये।

कुछ लोगों का मत है कि आदमी ने अपने शरीर के अंगों को देख कर, उनके नमूने पर ही औजार बनाये हैं—मिसाल के तौर पर मुट्ठी या घूंसा देख कर गदा बानयी गयी, दाँतों को देख कर चिमटा, और फैले हुए हाथ को देख कर छड़ी आदि। जंगली आदमी के अविकसित मन में ऐसे सूक्ष्म विचार आये हों, इस की संभावना बहुत कम है। इसके अलावा, ऐसे सिद्धान्त से बहुत थोड़े ही औजारों के बनने की बात समझायी जा सकती है, और उसमें भी बहुत कल्पना या अटकल से काम लेना पड़ता है। इसलिए ऐसा सिद्धान्त विशेष मान्य नहीं है। हाँ, यह सम्भव है कि बहुत अर्से के बाद जब आदमी की बुद्धि का काफी विकास हो गया तो उसे, पशु पक्षियों के और खुद अपने शरीर के विविध अंगों को, और उनसे होने वाले कामों को, देख कर कुछ औज़ार आदि बनाने का ध्यान आया हो। मिसाल के तौर पर पक्षियों को उड़ते देख कर आदमी के मन में यह इच्छा पैदा

हुई हो कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे, जिससे मैं भी उनके जैसे पंख लगा कर हवा में उड़ सकूं। इस इच्छा के पैदा होने पर, धीरे-धीरे अनेक प्रयोग हुए, जिनका आखरी नतीजा यह है कि हवाई जहाज के रूप में आदमी ने पंख हासिल कर लिये हैं, और वह दूर-दूर तक न केवल हवाई यात्रा कर सकता है, बल्कि भारी-भारी बोझ भी आसानी से ले जा सकता है।

औजारों ने आदमी को अवकाश या फुरसत दी है। बड़ी मुश्किल से होनेवाले अनेक कामों के लिए आदमी को अब कुछ खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। लेकिन असल में औजारों से लाभ तभी है, जब आदमी उनके उपयोग के कारण मिलनेवाली फुरसत के वक्त को लोक-हित के कामों में लगावे। फुरसत वाले आदमी मनुष्य जाति के लिए बड़ी समस्या हैं; इनसे समाज की बहुत भलाई हो सकती है; लेकिन अगर ये अपने अवकाश का दुरुपयोग करें तो ये समाज पर भारी भार हैं। हमें चाहिए कि अपनी फुरसत के समय को मनुष्य-जाति के हित और प्रगति में लगावें।

बारहवाँ अध्याय

पशुपालन

शुरू में आदमी ने कैसी जिन्दगी बितायी; औजारों का कैसा उपयोग किया, यह पिछले दो अध्यायों में बताया जा चुका है। पीछे की प्रगति की एक खास बात यह है कि जानवरों को पाला गया, और उनसे कई तरह का लाभ उठाया गया। इस अध्याय में इसी बात का विचार करना है।

आदमी पहले पशु पक्षियों का एक ही उपयोग जानता था, उन्हें मार कर उनके मांस को खा जाना, और उनके चमड़े को ओढ़ना-बिछाना। धीरे-धीरे उसे मालूम हुआ कि कुछ जानवर ऐसे हैं कि

उन्हें मारकर उनका उपयोग करने से उन्हें पालकर रखना ज्यादह लाभदायक है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि आदमी ने जानवरों को, उनकी उपयोगिता के विचार से पालना शुरू किया। लेकिन शुरू में जब कि आदमी को उनकी उपयोगिता मालूम नहीं हो पायी थी, उसने उनको क्यों पाला? सम्भव है, किसी समय शिकारी के पास कभी इतने पशु हो गये कि उसे, खाने के लिए, उन सब को मारने की ज़रूरत न हुई; कुछ पशु बच रहे। उसने उन्हें भविष्य में अपनी ज़रूरत पूरी करने के लिए रख छोड़ा। कुछ छोटे पशुओं से आदमी के बच्चे खेलते रहते। बच्चों को छोटे जानवर बहुत प्यारे होते ही हैं।* कुछ समय पास रहने पर आदमी भी उनसे प्रेम और सहानुभूति करने लगा।

एक दूसरी बात भी हो सकती है। शिकारी के पास उसके पकड़े हुए बहुत से जानवर रहते थे, इनमें से कुछ, आदमी से हिल-मिल गये। मिसाल के तौर पर कुत्ता आदमी के साथ बहुत रहने लगा। आदमी उसे मारने के बजाय उसे अपना बचाखुचा खाना देने लगा। धीरे-धीरे आदमी ने कुत्ते को शिकार में मदद देने और रात को चौकसी करने या पहरा देने का काम सिखाना शुरू किया। कुत्ता सध गया। आदमी को कुत्ते की उपयोगिता का अनुभव हो गया; और, वह उसे पालने लग गया। इसी तरह आदमी को मालूम हुआ कि बिल्ली पालने से यह फायदा है कि खाने की चीज़ों की चूहों से रक्षा हो सकती है। चूहे कितना नुकसान करते हैं, यह सभी जानते हैं, और इनसे अनाज आदि की रक्षा करने का और कोई उपाय इतना सफल नहीं

*हाल की बात है—मेरे एक मित्र का लड़का एक पिल्ला पकड़ लाया और उनसे कहने लगा कि बाबू जी हम इसे पालेंगे। उसके छोटे भाई ने भी यह इच्छा जाहिर की। मेरे मित्र ने बात टालने के लिए कहा कि इसके लिए दूध कहाँ से आवेगा। लड़के ने फ़ौरन जवाब दिया कि जो दूध मुझे मिलता है, वह इसे पिला दिया जायगा, मैं बिना दूध के ही रह सकता हूँ। छोटे भाई ने भी यही बात कह कर अपने त्याग और पशु-प्रेम का परिचय दिया।

होता। मुर्गी से बहुत दिन तक अंडा मिल सकता है। गाय भैंस बकरी आदि दूध देनेवाले पशुओं के पालने से मांस के लिए बच्चे, और पीने के लिए दूध मिल सकता है। इसी तरह घोड़ा, गधा, बैल, भैंसा आदि से सवारी तथा सामान ढोने का काम लिया जा सकता है। इस ज्ञान के होने पर जानवरों को पालने की बात चल निकली।

आदमी को पहले अपने ही खाने-पीने की फिक्र रहती थी। जब वह जानवरों को पालने लग गया तो उसे उनके भोजन की भी फिक्र रहने लगी। उसे पशुओं के चारे के लिए अच्छी पैदावार वाली जमीन खोजने की भी ज़रूरत मालूम होने लगी। वह टोली बनाकर, पशुओं को साथ लिये घूमता रहता। उस समय आदमी घर बना कर कहीं एक जगह नहीं रह सकता था। जहाँ उसे मालूम हुआ कि इस जगह कुछ दिन के लिए जल और भोजन मिल जायगा, वहाँही वह डेरा डाल देता था। जब आवश्यक सामग्री के मिलने में बाधा हुई तो उसे लाचार दूसरे स्थान की यात्रा करनी पड़ती थी। उसे अपने साथ अपने औज़ार या हथियार आदि भी लेजाने होते थे। और, अगर कुछ खाने पहिनने का सामान बचा होता तो उसे भी छोड़ा नहीं जा सकता था। जब तक इन चीज़ों को ढोने के लिए कोई साधन न हो, आदमी के लिए एक जगह से दूसरी जगह जाकर रहना बहुत ही कठिन था। आदमी को एक साधन की ज़रूरत थी; लद्दू जानवरों ने उसकी ज़रूरत पूरी की।

दुनिया के हर हिस्से में आदमी ने किसी न किसी जानवर को पालकर उससे सामान ढोने का, और अपनी सवारी का, काम लिया है। जलवायु के अनुसार कहीं घोड़ा बहुत उपयोगी हुआ है, कहीं बैल, कहीं ऊँट, कहीं हाथी, कहीं गधा या खच्चर आदि। कुत्ता, बारासींगा, और बकरे आदि से भी खूब काम लिया गया है। इन पशुओं ने अपनी पीठ पर सौदागर और सौदागिरी का सामान ढोकर व्यापार में, और उसके साथ दूर-दूर के आदमियों का आपस में सम्बन्ध बढ़ाने में, खूब मदद दी है।

धीरे-धीरे आदमी के मन में यह विचार आया कि घोड़े, भैंसे या खच्चर आदि की पीठ पर एक ही आदमी अच्छी तरह सवारी कर सकता है। बहुत हुआ तो दो आदमी उस पर बैठ जायँ। इसी तरह उसकी पीठ पर थोड़ा सा ही सामान लादा जा सकता है। घोड़े आदि में ताक़त तो इतनी है कि वह बहुत अधिक बोझ ले जा सकता है। इसका उपयोग किस तरह किया जाय? आदमी ने देखा कि अगर बहुत से सामान की गठरी या संदूक में रस्सी बांध कर, रस्सी के सिरे को घोड़े की पीठ से बांध दिया जाय तो घोड़ा उसे घसीट ले जा सकता है। इसके प्रयोग करने पर इसको कुछ असुविधाएँ मालूम हुई। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि अगर संदूक में पहिए लगे हों तो उसे ले जाना आसान हो जायगा। पहले पहिए बड़े भद्दे और वज़नी थे; धुरी आदि भी ठीक न थी। पर ज्यों-ज्यों इस तरीके से काम लिया गया, कुछ सुधार की बात सामने आती गयी। एक के बाद दूसरा सुधार होता रहा। होते-होते अच्छी सुन्दर बैल गाड़ी, भैंसा गाड़ी, रथ, इक्का, तांगा, बग्गी आदि कई तरह की गाड़ियाँ बनने लगीं, जिनमें से कुछ तो आदमी की सवारी के काम आयीं, और कुछ माल ढोने के, या दोनों ही बातों के लिए।

प्रकृति पर आदमी की यह बड़ी विजय थी कि वह जंगल से जानवरों को लेकर उन्हें पाल सका और अपना सेवक बना सका। शुरू में जिन कबीलों या कुलों को अधिक अच्छे जानवर मिल गये, उन्होंने दूसरे कबीले या कुलों के मुकाबले अधिक तरक्की करने में कामयाबी हासिल की। और, जिस देश में जो जानवर अधिक उपयोगी हुआ, उसकी रक्षा करने का रिवाज पड़ गया; उसके मारे जाने का धर्म ने निषेध या मनाही कर दी। भारतवर्ष में गाय को पवित्र माना जाता है; इसका रहस्य इसी में है कि इसका दूध बहुत उपयोगी है—बच्चों, बूढ़ों और रोगियों के लिए तो यह बहुमूल्य ही है। इसके अलावा बैलों से खेती की जाती है, और सामान ढोया जाता है।

संसार के कुछ हिस्सों में खूब खुले मैदान थे, पेड़ कम थे, और

पशुओं के चरने के लिए हरी-हरी घास काफी थी। इन जगहों में आदमी ने शिकार करना जल्दी छोड़ दिया; वह चरवाहा या गड़रिया हो गया। पशु-पालन मनुष्य का सब से पहला धन्धा है। बाद में पशुओं द्वारा खेती करना ज्यादह लाभदायक साबित हुआ। जब आदमी पशुओं को मारने के बजाय उनके द्वारा अनाज और दूसरी चीज़ें पैदा करनेवाला बन गया तो मनुष्य जाति की तरक्की अधिक होने लगी। खेती के अलावा व्यापार बढ़ाने में भी पशुओं ने बहुत मदद दी है, इसके बारे में विस्तार से आगे लिखा जायगा। सारांश यह है कि पशुओं ने मनुष्य जाति की प्रगति में बड़ा भाग लिया है। जो लोग अपने साथ एक देश से दूसरे देश कुछ पशुओं (या पौधों) को ले गये, उन्होंने बड़े लोकहित का कार्य किया है;* इतिहास-लेखक उनकी काफी प्रशंसा करें या न करें!

पशुपालन का आदमी के सामाजिक जीवन पर क्या असर पड़ा? पशु पालन का काम बढ़ने पर आदमी को उन्हें चराने के वास्ते जंगल में ले जाने, वहाँ उनकी देखरेख करने, और फिर शाम को घर लाने के लिए दूसरों की मदद की ज़रूरत होने लगी। स्त्री आदमी की पहले भी मदद किया करती थी, पर अब आदमी के ध्यान में यह बात आयी कि उस पर और बच्चों पर स्थायी रूप से अधिकार जमा कर उनकी मेहनत का अधिक उपयोग करे। पहले स्त्री के लिए कोई बन्धन नहीं था कि वह कितने समय कहाँ रहे; बच्चे भी किसी खास आदमी के अधिकार में नहीं रहते थे। अब यह बात न रही। पशु-पालन करनेवाला आदमी स्त्री और उसके बच्चों को (चाहे उन बच्चों का पिता कोई भी हो) अपने ही अधीन रखना चाहने लगा। इस तरह पुरुष और स्त्री के स्थायी सम्बन्ध की परिपाटी शुरू हुई; विवाह के लिए स्त्री को कभी राजी से, कभी जोर-

*कहा जाता है कि गौरांग लोगों के अमरीका पहुँचने से पहले वहाँ कोई गाय नहीं थी। कोलम्बस पहला आदमी था, जो अपनी दूसरी यात्रा में अपने साथ अमरीका में मवेशी लाया।

जबरदस्ती से, लड़झगड़ कर, और कभी उसे या उसके माता पिता को कुछ प्रलोभन देकर लाया जाने लगा।

अब पशु-पालन के दूसरे नतीजे की बात लें। पहले आदमी में निजी मिलकियत या स्वत्व आदि की भावना न थी। शिकार के लिए जो पशु लाये या मारे जाते थे, उन पर समूह के सभी आदमियों का अधिकार होता था। जब आदमी पशुओं को पालने लग गया तो पाले हुए पशुओं पर पालनेवाले का ही अधिकार माना जाने लगा। इससे लोगों में निजी सम्पत्ति या स्वत्व की भावना होने लगी। जिसके पास अधिक पशु हुए, वह अपनी मंडली में दूसरों से ऊंचा, प्रतिष्ठा-वान या धनवान समझा जाने लगा। धनी और गरीब, ऊंच और नीच का भेद-भाव शुरू हुआ। धनवान अपने पशुओं की सार-संभार तथा दूसरा काम गरीब या कमजोर आदमियों से लेने लगे। वे कुछ आदमियों को इन्हीं कामों के लिए अपने अधीन रखने लगे। इस तरह मालिक और नौकर की भावना आरम्भ हुई। यह दासता या गुलामी का बीज था, जो पीछे जाकर मानव समाज में बेहद फला फूला। इसके बारे में खुलासा आगे लिखा जायगा।

तेरहवां अध्याय

खेती

पिछले अध्याय में बताया गया है कि पशु-पालन के कारण शिकारगाहों की जगह चरागाह बढ़ने लगे। आदमी की प्रगति में अकसर इसके बाद वह अवस्था आयी कि चरागाहों की जगह खेतों ने लेनी शुरू कर दी। खेती का आविष्कार और उन्नति किस तरह हुई?

आदमी बहुत समय तक उन्हीं चीजों से गुजारा करता रहा, जो उसे कुदरती तौर से मिल जाती थीं, जिन्हें पैदा करने के लिए उसे

कुछ मेहनत नहीं करनी होती थी। पीछे कभी ऐसा हुआ कि कुछ अन्न आदि आदमी के खाने से बच रहा, उसे उसने पीछे खाने के लिए रख छोड़ा। कुछ चीजें उसने जमीन में दबा कर रख दीं। बरसात होने पर उनमें अंकुर निकल आया और वे उगने लगीं। आदमी को बड़ा कौतुहल हुआ। उसने यह भी देखा कि पेड़ से फल गिरने पर उसका बीज एक जगह पड़े रहने और पानी और मिट्टी का संग साथ होने से पौधा उग आता है, और धीरे-धीरे बड़ा होने पर उसमें कुछ समय बाद उसी तरह के फल लगने लगते हैं। बारबार ऐसी बातों को देखकर आदमी ने सोचा कि अनाज या दूसरे फलों के बीज बोये जा सकते हैं। उसने प्रयोग किया, एक चीज बोकर देखी, फिर दूसरी। सलफता मिलने पर आदमी ने अपने प्रयोग का क्षेत्र बढ़ाया। इस तरह खेती का आविष्कार हो गया।

पहले जमीन पर, खासकर गर्म हिस्सों में जंगल था। आदमी ने मेहनत करके जंगलों को काटा, घासफूस हटाया और जमीन साफ करके खेती के लिए जगह निकाली।* खेती करने के लिए एक खास ज़रूरत पानी की थी। जहाँ बारिश समय पर और ठीक परिमाण में हो जाती, या जहाँ नदी या तालाब पास में होता वहाँ तो पानी की कठिनाई न होती; लेकिन बहुत सी जगह ऐसी थी, जहाँ जमीन की सतह पर पानी खेतों से कई-कई मील के फासले पर था। शुरू में उस पानी को काम में लाने के लिए आदमी में योग्यता और साधन न थे। उसे मालूम हुआ कि जमीन के नीचे थोड़ी या बहुत गहरायी पर पानी हर जगह मौजूद है। उसके लिए कुएँ खोदे गये, और उनमें से पानी निकालने के लिए तरह-तरह के तरीके काम में लाये गये। ढेंकली का उपयोग करके आदमी ने अपनी ही मेहनत से कुएँ से पानी निकाला। जब आदमी को पशुओं का उपयोग करना आ गया तो मोट

* अब तो आदमी ने बहुत से स्थानों में जंगलों को इतना ज्यादा काट डाला है कि वहाँ बारिश कम होती है, और इसलिए खेती अच्छी नहीं होती। ऐसी जगहों में नये-नये पेड़ लगाने की ज़रूरत मालूम हो रही है।

या चरस और रहट आदि से पानी निकाला जाने लगा। धीरे-धीरे और प्रगति हुई। हाथ से, या भाप या बिजली की शक्ति से, चलने-वाले पम्पों का उपयोग होने लगा, और अब तो इनकी खूब उन्नति और प्रचार हो रहा है।

बहुत सी रेतीली जगहों में खेती करने के लिए दूर दूर की नदियों में से नहरें लायी गयीं। अब बहुत से इलाक़ों में नहरों से लाखों एकड़ भूमि में आबपाशी होती है। कितनी ही जगह बाँध बनाकर बंजर भूमि को खूब हरी भरी और उपजाऊ बना लिया गया है। तो भी अभी संसार के बहुत से हिस्सों में सूखे मैदान या रेगिस्तान पड़े हुए हैं, जो आबपाशी की बड़ी बड़ी वैज्ञानिक योजनाओं की प्रतीक्षा में है। जो हो, खेती के लिए पानी की समस्या का हल करते हुए आदमी ने यह भी मालूम कर लिया कि किस फसल के लिए कैसी मिट्टी वाली ज़मीन अच्छी होती है, और मिट्टी को वैसे गुण वाली बनाने के लिए कैसा खाद देने की ज़रूरत है। अब बहुत तरह के कृत्रिम, रासायनिक या वैज्ञानिक खाद बड़े पैमाने पर बनाये जाते है।

पहले आदमी खेत में बीज बोने के लिए, जब मिट्टी को नर्म और भुरभुरी करना चाहता था तो फावड़े आदि से ही करता था, इसमें मेहनत बहुत करनी होती थी। धीरे-धीरे उसने हल से काम लेने की बात सोची। जब उसे लोहे का उपयोग मालूम हो गया तो लोहे के फालवाला हल बनाया जाने लगा और वह पशुओं से चलाया जाने लगा। इससे बड़े-बड़े खेतों की जुताई आसान हो गयी। पर अब तो वैज्ञानिक जगत में उसकी बात पुरानी हो गयी है। अब कई कई फालों वाले बड़े बड़े हलों (ट्रेक्टरों) से काम लिया जाता है, जो मोटर-एंजिनों से चलते हैं। उनसे बहुत जल्दी ही हज़ारों बीघे ज़मीन की बहुत बढ़िया जुताई हो जाती है।

खेती के सम्बन्ध में आदमी धीरे-धीरे और भी कई सुधार करने में सफल हुआ है। दो अलग-अलग तरह के फूलों के रज से वह एक नयी तरह का ही फूल का पौधा पैदा कर सकता है। इसी तरह

एक वर्ग के दो तरह के पेड़ों की डालियों को मिलाकर उनसे एक नयी तरह का 'कलमी' पेड़ पैदा कर सकता है। साधारण कुदरती तौर पर पैदा होनेवाले पेड़ के फलों का जो रूप रंग और स्वाद होता है, उससे अलग तरह के रूप रग और स्वादवाले फलों को पैदा कर सकना आदमी के ज्ञान की अनोखी विजय है। अब तो कई छोटे फलों को बड़े आकार का पैदा किया जा सकता है, उनका रंग और स्वाद बदला जा सकता है। अगर फल में बहुत बीज होते हैं या उस पर कांटे होते हैं तो उसे कम बीज वाला और बिना कांटों वाला भी पैदा किया जा सकता है। जितने समय में कोई फल कुदरती तौर से पककर तैयार होता है, उतने समय तक उसकी इन्तज़ार करते रहने में इस युग के आदमी को अपना अपमान मालूम होता है; वह उसे कृत्रिम रूप से गर्मी पहुँचा कर बहुत थोड़े समय में पका लेता है। ये प्रयोग अभी थोड़ी सी चीज़ों के बारे में हुए हैं, और कुछ खर्चीले भी पड़ते हैं; पर आदमी आगे-आगे बढ़ता जा रहा है। अब तो ऐसा समय आने की आशा की जाने लगी है, जब किसी फल फूल या शाक भाजी की ज़रूरत होने पर आदमी उसके बीज़ मिट्टी में डालकर, बिजली की किरणों से उसे कुछ घंटों में ही पैदा कर सकेगा।

बहुत मुद्दत हुई, आदमी का ध्यान इस ओर गया था कि पौधों में कुछ रोग लग जाते हैं, और उनसे फ़सल ख़राब हो जाती है। धीरे-धीरे उसने जाँच और प्रयोगों से पता लगाया कि किस फ़सल को कौनसा कीड़ा ख़राब करता है; और उस कीड़े को किस तरह नष्ट किया जा सकता है।

अस्तु, खेती की कई अवस्थाएँ रही हैं—(१) जहाँ जगह मिल गयी, खेती करना। खुर्पे आदि से मिट्टी नर्म करना, फालतू घास फूस निकाल देना; इसके सिवा ज़मीन में हल आदि न चलाना, खाद भी न देना। कुछ समय तक एक जगह खेती करके पीछे नयी ज़मीन में काम शुरू करना। (२) जंगल काट कर, खेती के लिए ज़मीन साफ करना, उसमें हल चलाकर, खाद और पानी देकर खेती करना;

पीछे कुछ समय तक उस जमीन को पड़ती छोड़कर उसे कुदरती तौर पर उपजाऊ होने देना। फसलों का हेरफेर करके खेती करना। (३) ज़मीन के छोटे छोटे टुकड़ों में गहरी खेती के ढंग पर काम करके तरह-तरह के शाक भाजी, अन्न या फल आदि पैदा करना, जिससे परिवार का भरण पोषण अच्छी तरह हो सके। (४) व्यापार के लिए खेती करना। कुछ खास-खास चीज़ों को बड़े परिमाण में पैदा करना, और उन्हें बेचकर नफा कमाना। इसमें अपनी ज़रूरत का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता, खास उद्देश्य बाहरी माँग की पूर्ति करना होता है। इसमें मशीनों और वैज्ञानिक उपायों का खूब उपयोग होता है (५) राज्य भर के लोगों की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखकर, बड़े-बड़े खेतों में सामूहिक पद्धति से खेती करना। इसमें भी मशीनों और वैज्ञानिक उपायों का भरसक उपयोग किया जाता है। रूस और अमरीका आदि में ऐसी खेती बहुत की जाती है। रूस का जो सब से बड़ा फार्म (खेत) है, वह संसार भर में गेहूँ पैदा करने वाला सब से बड़ा क्षेत्र है। वह पचास मील लम्बा और चालीस मील चौड़ा है। उसमें सतरह हज़ार आदमी काम करते हैं। एक बड़ी मशीन फ़सल काटती है, दाने को भूसे से अलग करती है, और उसे फटक कर पछोड़ती-छानती है। उस मशीन को एक आदमी चला सकता है, और वह इतना काम करती है, जितना सौ आदमी कर सकते हैं।

अब इस बात का विचार करें कि खेती के आविष्कार और वृद्धि का आदमी के सामाजिक जीवन पर क्या असर पड़ा—उत्पादन पद्धति में परिवर्तन होने पर समाज के आर्थिक जीवन में, और पीछे सारे सामाजिक जीवन में परिवर्तन होता ही है। खेती का काम शुरू होने पर आदमी का, घर बना कर, एक जगह रहना ज़रूरी हो गया; यह बात पशु-पालन के समय से होने लगी थी; अब और ज्यादह हो गयी। बात यह है कि खेती के लिए जमीन तैयार करनी चाहिए, जोतने, बोने, और पानी देने (सिंचाई) का काम करना चाहिए।

इसके बाद फसल पकने तक उसकी जंगली जानवरों से रक्षा करनी चाहिए। तब फसल काट कर अन्न और भूसा आदि इकट्ठा किया जा सकता है। इन कामों को करते हुए आदमी को जहाँ-तहाँ घूमते रहने की सुविधा नहीं होती। और, घूमना पहले भोजन के लिए ही तो होता था, अब भोजन खेती से मिलने की दशा में घूमने की ज़रूरत भी नहीं रही। खेती ने आदमी को एक जगह स्थायी रूप से रहने के लिए मज़बूर किया। अब उसे अपने रहने के लिए (और साथ में अपने पशुओं को रखने के वास्ते) एक स्थान निश्चित करना पड़ा। इस तरह आदमी झोपड़ा या घर बनाने लगा। मकान के, तथा ग्राम या नगर के निर्माण के बारे में पहले लिखा जा चुका है।

ज्यों-ज्यों खेती होने लगी, त्यों-त्यों पशुओं को रखना आसान होता गया। घोड़ा, गधा, गाय, बैल, भेड़ बकरी आदि के लिए भी अब अनाज, घास तथा चारे का इन्तजाम हो गया। पशुओं के बढ़ने से आदमी को अपने कामों में कैसी सुविधा हुई, व्यापार और उसके साथ ज्ञान और सभ्यता का कैसा प्रचार हुआ, यह दूसरी जगह बताया गया है। खेती गरम देशों में अच्छी होती है, जहाँ पानी भी काफ़ी हो। यही वजह है कि शुरू जमाने में सभ्यता के केन्द्र ऐसे ही स्थान रहे, जहाँ बड़ी-बड़ी नदियाँ या तालाब हो। भारतवर्ष में पाँच नदियों वाला पंजाब, सिन्धु नदी वाला सिन्ध प्रान्त, और गंगा-ब्रह्मपुत्र की घाटी, चीन में यांटिसिक्याँग और ह्वाँगहो की घाटी, पश्चिमी एशिया में दजला और फ़ुरात की घाटी, मिस्र में नील नदी की घाटी इस तरह की अच्छी मिसालें हैं। ऐसी जगहों में पैदावार अच्छी होने से आदमी खूब बसे और बढ़े।

पिछले अध्याय में बताया गया है कि पशु-पालन के साथ-साथ पुरुष स्त्री का सम्बन्ध स्थायी होने लग गया था। अब स्थायी विवाह का चलन और ज्यादह होने लगा, क्योंकि किसान को अपने काम में स्त्री और बच्चों की मदद की ज़रूरत बहुत होती है। स्थायी विवाह के अलावा एक बात और हुई। जब जमीन पर खेती होने लगी,

और मकान बनाये जाने लगे तो ज़मीन भी पशुओं की तरह बड़ी सम्पत्ति बन गयी; ज्यों-ज्यों आदमी एक जगह अधिक समय तक रहा, उसका उस ज़मीन से अनुराग बढ़ता गया, वह उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाता गया। इस तरह ज़मीन का मूल्य बढ़ता रहा। धीरे-धीरे आदमियों की आबादी बढ़ी। ज़मीन का परिमाण नपा-तुला था, खासकर खेती के उपयोग में आनेवाली अच्छी ज़मीन की हर जगह एक सीमा थी। उसकी माँग बढ़ने लगी। अब आदमी उस पर अपना अधिकार जमाने लगे। हरेक यह चाहने लगा कि जितनी ज्यादह ज़मीन मेरे कब्जे में आ जाय, उतना ही अच्छा है।

अब बलवान या लड़ाकू आदमियों ने बढ़िया ज़मीन अपने कब्जे में कर डाली। पशुपालक समाज में जो धनी-निर्धन या बड़े छोटे आदि की भावना उदय हुई थी, वह अब और बढ़ी। जिन लोगों के पास ज़मीन ज्यादह हुई, वे समाज में बड़े और प्रतिष्ठित माने जाने लगे, उन्होंने अपनी ज़मीन में खेती कराने के लिए दूसरों से, अनाज या मज़दूरी देकर, काम लेना शुरू किया। इनमें दूसरों को अपना नौकर या दास बना कर रखने की सामर्थ्य हो गयी। इन्हें खुद कोई मेहनत का काम करने की जरूरत न रही; दिन भर फ़ुरसत रहने लगी। इन लोगों ने अपनी फ़ुरसत का उपयोग कलाओं का आनन्द लेने में, अपना मनोरञ्जन करने में, किया। कलाएँ सभ्यता का निर्माण करनेवाली होती हैं। इस तरह देखा जाय तो खेती ही सभ्यता की जननी है, और किसान सभ्यता का अग्रदूत है। लेकिन समय की बलिहारी! सभ्यता का विशाल भवन बन जाने पर किसान को उसमें स्थान नहीं मिला। वह बेचारा तो असभ्य और गँवार ही कहलाया; और उसकी मेहनत से लाभ उठानेवाले, उसकी पैदा की हुई फसल का बहुत सा हिस्सा किसी न किसी बहाने ले लेने वाले ज़मींदार, जागीरदार, राजकर्मचारी या राजा आदि 'सभ्य' गिने गये।

खेती ने आदमी के खाने के सामान की बहुतायत करते हुए मिट्टी को मानो सोना बना दिया, लेकिन इसके साथ ही इसने दासता को

बढ़ाकर आदमी की समता और स्वाधीनता को मिट्टी में मिलाने के उस काम में मदद दी, जो पशु-पालन के समय से होने लगा था। दासता को हटाने तथा समता और स्वाधीनता पाने के लिए समाज में तरह-तरह के आन्दोलन हुए। अब खासकर योरप और अमरीका के बहुत से किसान बहुत खुशहाल हैं। वहाँ किसान पढ़ा लिखा होता है, उसे अपने काम में राज्य से पूरा सहारा मिलता है। उसे जो बात जाननी होती है, वह सहज ही उसे मालूम हो सकती है। उसके पास मोटर होती है, उसके घर में टेलीफोन और रेडियो आदि की व्यवस्था होती है। उसके खेत से थोड़ी ही दूर रेल, तार, डाक आदि का इन्तजाम रहता है। वह मोटर में बैठ कर खेत पर जायगा, वहाँ मशीनों की मदद से खेती का काम बहुत आसानी से कर लेगा, और समय पर घर आ जायगा। उसकी खेती वैज्ञानिक ढंग से होगी। कटाई, सफ़ाई सब काम मशीन से हो जायगा। वह अख़बार पढ़ता है, और रेडियो समाचार सुनता है। उसे मालूम है कि चीज़ों का बाजार भाव क्या है। उसे कोई ठग नहीं सकता। वह व्यापारी से, टेलीफोन से बात करके, उसके पास मोटर लारी आदि में माल भेज देगा, उसे रक़म मिल जायगी। उसे खाने पीने की कोई क़मी नहीं। वह तो मनोरञ्जन के बढ़िया साधनों का उपयोग करता है, यहाँ तक कि मकान को सर्दी में गरम और गर्मी में ठंडा रखने के साधन उसे प्राप्त हैं। वह अपने बाल बच्चों की अच्छी तरह परवरिश करता है, और उन्हें जैसा चाहता है लिखा-पढ़ा सकता है। उसका सुखी जीवन खेती सम्बन्धी प्रगति के परिणाम का सुन्दर उदाहरण है; हाँ, उसके दूसरे देशों के भाई उसके मुक़ाबले में बहुत पीछे हैं; जमीन आसमान का, या स्वर्ग नरक का अंतर है। जो हो; यह साफ जाहिर है कि आधुनिक उन्नत देशों का किसान पुराने जमाने के किसानों से, और इस समय के भी बहुत से किसानों से, कितना आगे बढ़ा हुआ है।

चौदहवाँ अध्याय
उद्योग धन्धे

खेती के बारे में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। हरेक देश में पहले या पीछे बहुत सा समय ऐसा रहा है, जब ज्यादहतर आदमी या तो खेती करते थे, या किसी-न-किसी तरह खेती के काम में मदद देते थे। लोगों की ज़रूरतें बहुत कम थीं। उनका बहुत सा काम उन्हीं चीजों से चल जाता था, जो खेती से पैदा होती थीं; धीरे-धीरे खेती के काम में उन्नति हुई। पैदावार के साधनों का विकास हुआ। पत्थर के औजारों की जगह तांबे और लोहे के औजार, हथियार और बर्तन आदि बनाये जाने लगे। घरू उद्योग धन्धों का काम शुरू हुआ। भेड़ों का ऊन तैयार करने, कातने और बुनने का काम होने लगा। इसी तरह और भी चीजें बनायी जाने लगीं।

नयी-नयी चीजें बनायी जाने का एक कारण यह भी था कि पशु-पालन और खेती से कुछ आदमी दूसरों की अपेक्षा अधिक धनवान हो चले थे। उन्हें अपनी शौकीनी या विलासिता के लिए तरह-तरह की चीजों की ज़रूरत होने लगी। अब उनके लिए कोई आदमी एक चीज बनाता कोई दूसरी। पहले की तरह उत्पत्ति अब भी छोटी मात्रा की ही होती थी, पर वह ज्यादहतर खेती से पैदा होनेवाली चीजों की नहीं होती थी, उसमें धीरे-धीरे कारीगरी की चीजों का अनुपात बढ़ रहा था। इस दशा में हर एक कारीगर या उसका परिवार स्वतंत्र रूप से अपना काम करता था। वह उस काम का खुद ही निरीक्षण और प्रबन्ध करता था। वह अपनी पूँजी लगाता, और अपनी बनायी हुई चीज के नफे-नुकसान का मालिक होता। जिस जगह किसानों की बस्ती कम, और कारीगरों की बस्ती अधिक होती थी, उसे कस्बा या

नगर कहने लगे। कारीगर जो चीजें बनाते थे, उन्हें अपने नगर में अथवा आसपास में बेच लेते थे। धीरे-धीरे कपड़ा, तेल, बरतन, गुड़ आदि के बहुत से धंधे हो गये।

किस देश में कौन सा उद्योग धंधा कब जारी हुआ, यह बहुत विस्तार का विषय है, और इसके लिए तो अलग ही पुस्तक चाहिए, बल्कि कई पुस्तकों की ज़रूरत होगी। फिर, इस विषय की ब्योरेवार बातों में मतभेद की भी बहुत गुंजायश है। तो भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब से लगभग छः हजार वर्ष पहले बहुत से धंधे शुरू ही नहीं हो गये थे, इनकी अच्छी उन्नति भी हो गयी थी; सिंध और पञ्जाब में पिछले वर्षों में दो शहरों के इतने समय पहले के खांडहर मिले हैं। इनमें दूसरी चीजों के अलावा सोने चांदी के गहने, तांबे, रांगे और सीसे के मेल के बरतन और हथियार पाये गये हैं। इससे मालूम होता है कि इन स्थानों के उस समय के आदमी धातुओं का इस्तेमाल जानते थे। मिट्टी के तरह-तरह के खिलौने और बरतन भी उन खंडहरों में मिले हैं। खास बात यह है कि वहाँ चर्खों और सूती कपड़ों के नमूने भी मिले हैं।

अकसर विद्वानों का यह मत है कि जिस तरह रेशमी कपड़ा सब से पहले चीन में बनाया गया, उसी तरह सूती कपड़ा सबसे पहले बनाने का गौरव भारतवर्ष को है। संसार का सब से पुराना साहित्य वेद है, और उनमें भी कपड़ा बनाने का साफ तौर से जिक्र आया है। इससे जाहिर है कि जब वेदों की रचना हुई, उस समय भारतवर्ष में यह व्यवसाय अच्छी तरह चल निकला था। वैदिक साहित्य के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बहुत से उद्योग धंधों की जन्मभूमि भारतवर्ष ही है। कई देशों में इनका ज्ञान पहले पहल यहाँ से ही गया; फिर उन देशों से संसार के दूसरे देशों में, और एक हिस्से से और दूसरे हिस्सों में फैला। किसी-किसी देश ने किसी-किसी धंधे में थोड़े ही समय में दूसरे देशों के मुकाबले में बहुत ज्यादह तरक्की कर ली, यहाँ तक कि कुछ हालतों में तो यह कहावत ठीक उतरी कि

गुरू गुड़ ही रह गये, और चेला चीनी होगये। अब कितने ही देशों के इतिहास से यह तो मालूम होता है कि वहाँ किस धंधे का ज्ञान किस देश से आया, पर अकसर यह पता नहीं लगता कि बिलकुल शुरू में उस धंधे का आविष्कार किस देश में हुआ।

उद्योग धंधों में औजारों से काम लेना ज़रूरी था। औजारों के बारे में पहले लिखा जा चुका है, उन्हें आदमी पहले हाथ से ही चलाता था। जब आदमी पशुओं को पालने लग गया तो औजार चलाने का काम बहुत-कुछ उनसे लेने लगा। धीरे-धीरे आदमी को मालूम हुआ कि डोंगी या किश्ती चलाने आदि के काम में हवा की ताकत या नदी के प्रवाह से काम लिया जा सकता है। अब वह इनका भी उपयोग करने लगा। तो भी ज्यादहतर काम पशुओं से (या गुलामों से) लिया जाता रहा। यह सिलसिला हजारों वर्ष चलता रहा। आदमी को इनसे अच्छी कोई दूसरी शक्ति का ज्ञान अब से दो सौ वर्ष पहले तक न हुआ। वह खोज में लगा था। सोलहवीं और सतरहवीं सदी में किये गये प्रयत्न सफल नहीं हुए, अन्त में अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में भाप के जोर से चलनेवाली मशीनों का प्रयोग सफल हो गया तो कल-कारखाने बढ़ने लगे। भाप से उद्योग-धंधों को बेशुमार ताकत मिल गयी। एक स्टीम एंजिन क्या बन गया, हजारों या लाखों आदमियों के बराबर काम करनेवाला साधन तैयार हो गया।

पीछे तेल के एंजिन का आविष्कार किया गया। अब तो बहुत से देश बिजली की शक्ति का भी स्वागत करते जा रहे हैं। कितनी ही बड़ी-बड़ी कपड़े की मिलें और दूसरे कल-कारखाने अब बिजली से चल रहे हैं। शक्ति के इन नये साधनों के उपयोग का यह नतीजा होना स्वाभाविक ही था कि कल-कारखानें बड़े-बड़े बनें, और माल की उत्पत्ति बड़े पैमाने पर हो। कल-कारखाने शहरों में बने; अथवा, जिन जगहों में वे कायम हुए, वहाँ धीरे-धीरे शहर बस गये। विज्ञान की उन्नति के साथ मशीनों में सुधार होता गया। मशीनों से, शुरू-शुरू में, चीजें

साफ सुन्दर नहीं बनती थीं, बहुत भद्दी होती थीं। पर धीरे-धीरे उन्नति होती गयी। कुछ समय बीतने पर तो वे इतनी अच्छी बनने लगीं कि हाथ से बनी चीज उसके सामने कुछ न जचे। फिर, जब वे सस्ती भी हों तो हाथ के काम या दस्तकारी को कौन पूछने बैठा! निदान, कल-कारखानों के माल की माँग बढ़ने लगी। एक कारखाना अच्छी तरह चला, उसकी देखादेख दूसरा खुला, फिर तीसरा और चौथा। इस तरह वे बढ़ते रहे। उनका आपस में मुकाबला भी हुआ। जिसके पास मज़दूरी, पूँजी और व्यवस्था के अच्छे और अधिक साधन हुए, उसका माल बढ़िया और सस्ता रहा। जिनका माल घटिया या महँगा रहा, वे कारखाने टिक न सके, उखड़ गये। और, नये-नये कारखाने बनते रहे।

अभी तक बहुत से कल कारखाने भाप से चलते हैं। लेकिन अब बिजली का उपयोग बढ़ता जा रहा है। योरप के तो बहुत से देशों में जल-प्रपातों से बिजली पैदा करके उसी से रेलगाड़ियाँ और कितने ही कल-कारखाने चलाये जाते हैं। दूसरे देशों में भी पहाड़ी नदियों के बांध बनाकर; उनके कृत्रिम जल-प्रपातों से बिजली पैदा की जा रही है। इस दशा में प्रगति होने पर औद्योगिक जगत में भारी हेरफेर होगा। मिसाल के तौर पर भारतवर्ष में भावी कारखाने बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदनगर आदि में न होकर पहाड़ों की तलैटी पर कायम होंगे, जहाँ उनके लिए बिजली की शक्ति नाममात्र के मूल्य पर मिल जाया करेगी, और कोयले के धुएँ की भी झंझट न रहेगी। कारखानों में रोशनी करने के लिए भी बिजली ही काम देगी।

औद्योगिक उन्नति का सामाजिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा? पहले कहा जा चुका है कि खेती का काम शुरू होने पर पुरुष और स्त्री के कार्यक्षेत्र अलग-अलग होने लगे थे। दस्तकारियों के बढ़ने पर पुरुषों के काम भी बँट गए। जुलाहा, तेली, ठठेरा, बढ़ई, लुहार, धोबी, रंगसाज आदि की अलग-अलग श्रेणियाँ बन गयीं। भारतवर्ष आदि में तो इन श्रेणियों के काम वंश-परम्परानुसार चलने लगे; काम-धंधे के अनुसार आदमियों की जुदा-जुदा जातियाँ बन गयीं। जो हो,

इस तरह श्रम-विभाग आगे बढ़ता गया। पीछे अठारहवीं सदी से भाप आदि से चलनेवाले कल-कारखानों और मशीनों का आविष्कार होने पर श्रम-विभाग का काम और भी आगे बढ़ा। पहले आदमी एक काम के सब हिस्सों को पूरा करता और कोई चीज़ बनाता था। वह पूरी चीज के लिए जिम्मेवार होता था। अब एक काम के हिस्से अलग-अलग आदमियों के सुपुर्द होने लगे। एक आदमी सिर्फ अपने हिस्से का काम करने लगा; इस काम का उसे बहुत अभ्यास होता है; बहुत सी दशाओं में वह इस काम का विशेष शिक्षा पाया हुआ होता है। हाँ, उसे कोई चीज पूरे तौर से बनानी नहीं आती। श्रम-विभाग की वर्तमान अवस्था में बहुत से आदमियों के सहयोग से ही कोई चीज बन पाती है; पर वह बहुत बड़े परिमाण में तैयार हो जाती है। उदाहरण के लिए, पहले एक आदमी अपने परिवार वालों के साथ मिल कर कपड़ा तैयार कर लेता था। अब कल-कारखानों में इस एक काम के बहुत से हिस्से करके उन्हें अलग-अलग समूहों को सौंपा जाता है। हर एक समूह में सैकड़ों या हज़ारों आदमी काम करते हैं। और, जब सब समूह अपने-अपने हिस्से का काम कर लेते हैं, तब कपड़ा तैयार होता है। इस तरह आदमी किसी चीज को बनाने में दूसरों के सहयोग पर बहुत अधिक आश्रित रहता है। कल-कारखानों में औरतें भी काम करती हैं, इस लिए श्रम-विभाग की बात उन पर भी लागू होती है।

औद्योगिक प्रगति पर नजर डालें तो मालूम होता है कि पहले जुदा जुदा आदमी कोई चीज बनाते थे। हर एक आदमी (या उसका परिवार) अपना धंधा अलग-अलग करता था। वह स्वतंत्र था; चाहे जब, चाहे जितने घंटे काम करे, और चाहे जब विश्राम करे। उस चीज का वही मालिक होता था, उसे वह खुद ही बेचता था, और जो आय होती थी, उस पर उसी का अधिकार होता था। धीरे-धीरे कुछ आदमी किसी खास चीज को ही बनाने लगे, और कुछ आदमी किसी दूसरी चीज को। इस तरह कारीगरों की—लुहार, बढ़ई, जुलाहा,

कुम्हार, दर्जी आदि—अलग-अलग श्रेणियाँ, समूह या जातियाँ बन गयीं। बहुत समय तक यह स्थूल श्रम-विभाग चलता रहा। पीछे, खासकर अठारहवीं सदी से, भाप आदि की शक्तियों का आविष्कार हो जाने पर, कल-कारखाने बनने लगे। कारखाने में काम करनेवाला स्वतन्त्र न होकर नौकर या मजदूर रह गया। उसका, मिलों या कारखाने में बननेवाले माल पर कोई अधिकार नहीं होता; जो माल वहाँ तैयार होता है; वह सब कारखाने के मालिक का होता है। मजदूरों को तो निर्धारित मजदूरी मिलती है, चाहे उससे उनका गुजारा भी न हो। अकसर कारखाने के जीवन से उनका स्वास्थ्य और चरित्र बिगड़ जाता है, बच्चों की भी ठीक सार-संभार नहीं होती। इन बातों का सुधार कराने के लिए मजदूरों ने अपनी सभाएँ या ट्रेड-यूनियन बनायीं। उनके लगातार आन्दोलन से औद्योगिक राज्यों में कारखाना-कानून बन गये। उनमें समय-समय पर सुधार होता रहता है। इससे मजदूरों की दशा सुधर रही है। तो भी उनकी समस्या पूरी तरह हल नहीं हुई है। अधिकतर कारखाने वाले या पूंजीपति अपने स्वार्थ का बहुत ध्यान रखते हैं, वे मजदूरों सम्बन्धी कानून में काफी सुधार नहीं होने देते, या उससे बचने के उपाय निकाल लेते हैं। इस तरह अब मजदूरों और पूंजीपतियों में संघर्ष है। इसके बारे में विशेष विचार आगे किया जायगा।

आधुनिक उत्पादन पद्धति में श्रम-विभाग बहुत सूक्ष्म रूप से काम में आने लगा है। अब मजदूर एक धंधे के किसी खास हिस्से को करने लगा और उसी के लिए शिक्षा या अनुभव पाकर विशेषज्ञ होने लगा; उस काम के दूसरे हिस्सों से उसका कुछ मतलब न रहा। इस समय एक काम के कई हिस्से अलग-अलग हैं और सब हिस्सों को मिला कर पूरा काम सामने आता है। हर हिस्से का काम करनेवाला यह देखता है कि मेरे काम का दूसरों के काम से सम्बन्ध है, वह पूर्ण नहीं, दूसरों के काम के साथ मिल कर पूर्ण होगा। आदमी को यह जानने और विचारने का अवसर मिलता है कि मैं स्वयं अपूर्ण हूँ;

मेरा दूसरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, मैं समाज का एक अंग हूँ। लेकिन यह जान कर भी आदमी अभी तक यह अनुभव नहीं करने लगा कि मैं सिर्फ अपने लिए नहीं हूँ, समाज के हित में ही मेरा भी हित है। यदि आदमी इस बात को अच्छी तरह हृदय में धारण करले और उसके अनुसार व्यवहार करने लगे तो औद्योगिक जगत के सब कष्टों का अन्त हो जाय। पर अभी तक आदमी उस अवस्था को नहीं पहुँचा है। यह आशा की जा सकती है कि वह उस दिशा में जा रहा है, चाहे उसकी गति बहुत मन्द हो, और चाहे उसे उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अभी बहुत सी बाधाओं को दूर करना बाकी हो।

—:०:—

पन्द्रहवां अध्याय

व्यापार



पिछले दो अध्यायों में खेती और उद्योग धंधों के बारे में लिखा जा चुका है। जब आदमियों की ज़रूरतें कुछ बढ़ीं, और उनका अपनी ही पैदा की हुई या बनायी चीजों से काम न चला तो वे एक दूसरे की चीज़ें लेने लगे। किसान ने जुलाहे से कपड़ा ले लिया, और उसे अनाज दे दिया। चीजों का इस तरह का अदल-बदल ही शुरू का व्यापार था।

पहले व्यापार यानी अदल-बदल पास-पास के आदमियों में ही हुआ; धीरे-धीरे कुछ दूर रहनेवालों से होने लगा। पहले पहल व्यापार खुश्की के रास्ते से ही होना शुरू हुआ। उस समय आदमी बिक्री का सामान खुद ही एक जगह से दूसरी जगह अपने हाथ में, कंधे, पीठ या सिर पर रखकर ले जाता था। जब आदमी पशुओं का पालन करने लग गया तो वह उनकी पीठ पर सामान ढोने लगा। पीछे

गाड़ी ठेलों आदि का उपयोग किया जाने लगा। इन्हें खींचने के लिए ज़्यादहतर बैल या घोड़ों से काम लिया गया; लेकिन बहुत सी जगहों में दूसरे जानवरों से यह काम लेने का सुभीता रहा। गाड़ियों में एक दो जानवरों से ही इतना सामान ढोया जाने लगा, जितने को बिना गाड़ी के ढोने के लिए उनसे कई गुने ज़्यादह जानवरों की ज़रूरत होती।

गाड़ियों के चलने से सड़क बनाने की ओर ध्यान देना जरूरी हो गया। आदमी या जानवर बहुत तंग और ऊंचे नीचे रास्ते से भी आ जा सकता है। घोड़े, टट्टू, खच्चर, गधे या ऊंट आदि के जाने के लिए भी पगडंडी से काम निकल सकता है। पर गाड़ियों के लिए तो रास्ता चौड़ा होना चाहिए, और हमवार भी। इन रास्तों को बारबार सुधारने की जरूरत न रहे, इस लिए सड़कें यथासम्भव पक्की बनाने की कोशिश की जाने लगी। अभी बहुत सी जगहों में पुराने जमाने की कच्ची सड़कें ही मौजूद हैं, तो भी अच्छी सड़कों का परिमाण बढ़ता जा रहा है; कहीं पत्थर की सड़कें हैं, कहीं कंकरीट की, कहीं सीमेंट की और कहीं तारकोल या रबर आदि की।

विज्ञान की उन्नति होने पर ट्राम, रेल, मोटर आदि बनायी जाने लगीं। मोटरों के लिए अच्छी पक्की सड़कें होना अनिवार्य ही है। ट्राम और रेलों के लिए तो लोहे की पटरी बिछायी जाती है। अब रेलों के ज़रिये हर रोज़ तरह-तरह का लाखों मन माल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भेजा जा सकता है। खासकर रेलों ने देशों के भीतरी व्यापार में बड़ी क्रान्ति कर दी है।

यह तो स्थल-मार्ग या ख़ुश्की के रास्ते से होनेवाले व्यापार की बात हुई। धीरे-धीरे आदमी ने किश्ती या नाव चला कर जल के रास्ते से भी व्यापार करना शुरू किया—अब नावों का विकास हुआ। भाप आदि शक्तियों का आविष्कार किया गया। फिर तो जहाज और स्टीमर आदि बनाये गये, जो बड़े-से-बड़े समुद्र में बेखौफ तेज़ी से चलते हैं, और लाखों मन सामान हर रोज एक देश से दूसरे देश में पहूँचाते हैं।

पहले आदमी के ध्यान में एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए दो ही तरह के रास्ते थे—खुश्की का और पानी का। धीरे-धीरे अनेक प्रयोग, परीक्षा और कोशिश करके, और बहुत इन्तजारी के बाद उसने हवा के रास्ते से भी यात्रा और व्यापार करने का उपाय ढूंढ़ निकाला।* शुरू में हवाई जहाज सिर्फ यात्रा के ही काम आता था। धीरे-धीरे उसमें सुधार किया गया, और वह माल भी ढोने लग गया। रेल या जहाज से जो सफ़र दिनों में तय होता था, वह हवाई जहाज से घंटों में तय हो जाता है। इनका प्रचार बढ़ता जा रहा है। जगह-जगह इनके उतरने या ठहरने के अड्डे बनाये जा रहे हैं। हवाई जहाजों की बनावट में नये-नये सुधार किये जा रहे हैं; अब वे समुद्र में भी उतर सकते हैं, और वहाँ से ही उड़ भी सकते हैं। पहले हवाई जहाजों में डाक या सोने-चांदी आदि का कीमती माल ही ले जाया जाता था, जो वज़न में हल्का होता था। अब तो उनमें कच्चे माल आदि का भारी सामान भी ढोया जाने लग गया है। भविष्य में उनकी उन्नति और प्रचार बहुत अधिक होने की आशा है। हवाई जहाज, और उनके अड्डे आदि बनाने में आगे-आगे खर्च कम ही होगा, उनका किराया भी कम ही रहेगा, उनसे यात्रा करने की सुविधाएँ बढ़ जायँगी और खतरे भी कम हो जायँगे। इस तरह आनेवाले जमाने में देशी और विदेशी दोनों तरह का व्यापार वायु-मार्ग से बहुत अधिक होगा, और उसमें हवाई जहाजों का खास भाग रहेगा।

अब हम व्यापार सम्बन्धी दूसरी बातों का विचार करते हैं। पदार्थों के अदल-बदल की बात पहले कही गयी है। ज्यों-ज्यों लोगों की जरूरतें बढ़ीं; चीजों का अदल-बदल कठिन होने लगा। जो चीज हमारे पास अधिक हो, उसके लेनेवाले सब जगह और हर समय मिलना जरूरी नहीं। फिर, जिन लोगों को हमारी चीज की ज़रूरत हो,

*आम तौर से यह माना जाता है कि हवाई जहाज का निर्माण इसी सदी में हुआ। पर भारतवर्ष में इसकी चर्चा बहुत समय से है; वाल्मीकि रामायण में, जो संसार का बहुत पुराना महाकाव्य है, विमानों का खूब ज़िक्र आया है।

वे सभी हमारी ज़रूरत की चीजें नहीं दे सकते। इस लिए हमें ऐसा आदमी ढूंढ़ना पड़ता था जिसमें दोनों बातें हों—वह हमारी चीज ले सके और बदले में हमारी ज़रूरत की चीज हमें भी दे सके। इसके वास्ते अलग-अलग जगहों में अलग-अलग चीजें विनिमय की माध्यम बनायी गयीं। अकसर स्थानीय और छोटे व्यापार में अन्न ने माध्यम का काम दिया। लेकिन पीछे जब व्यापार का परिमाण बढ़ा, और वह दूर-दूर के आदमियों से होने लगा तो अन्न से माध्यम का काम चलना मुश्किल हो गया। बहुत सोच विचार और अनुभव के बाद धातुओं से काम लेने का निश्चय किया गया। थोड़ी कीमत चुकाने के लिए ताम्बा, और अधिक कीमती चीज़ों के वास्ते चाँदी और सोना अच्छा समझा गया। इनके ही सिक्के बनने लगे। सिक्कों से व्यापार की खूब वृद्धि और विस्तार हुआ।

पीछे जाकर तो यह अनुभव हुआ कि बहुत बड़े व्यापार में, या जबकि खरीद-बेच बहुत दूर के स्थानों में हो तो सोने चाँदी के भी बहुत से सिक्के लाने-लेजाने में बड़ी असुविधा होती है। इसे दूर करने के लिए लोगों को धीरे-धीरे कागजी मुद्रा, हुंडी या नोटों से काम निकालने की सूझी। कागजी मुद्रा धातु की मुद्रा का एवजी सिक्का है, जो चलानेवाले के विश्वास या साख पर चलता है। इसे आदमी उसी दशा में स्वीकार करता है, जब उसे यह निश्चय होता है कि आवश्यकता होने पर उसे इसके एवज या बदले में इस पर लिखे मूल्य के धातु के सिक्के मिल जायँगे। कागजी मुद्रा के प्रचार ने व्यापार की वृद्धि और विस्तार में धातु के सिक्कों से भी अधिक योग दिया है।

जो हो, जैसे-जैसे व्यापार के साधनों की उन्नति हुई, व्यापार का स्वरूप बदलता गया। शुरू में आदमी को जो चीज़ें बेचनी होती थीं, उन्हें वह खुद ही उठा कर ले जाता था; पीछे वह गधे, घोड़े, बैल, भैंसे, ऊँट, आदि पर लाद कर ले जाने लगा। इसके बाद जब गाड़ियाँ, छकड़े आदि बन गये तो इन्हें भर-भर कर ले जाया जाने लगा। पुराने ग्रन्थों में ऐसी कथाएँ आयी हैं कि सैकड़ों व्यापारी

अपना-अपना माल छकड़ों या ऊँटों पर लाद कर इकट्ठे एक जगह से दूसरे जगह आते जाते रहते थे। इकट्ठे जाने की खास ज़रूरत इसलिए भी होती थी कि रास्ते में उन्हें एक-दूसरे से सहायता मिले और चोरी या लूट आदि न हो। धीरे-धीरे रास्तों पर अच्छा इन्तजाम रहने लगा, और अकेले-दुकेले जाने का भी भय कम हो गया। खुश्की के रास्ते के अलावा, जल के रास्ते से भी व्यापार होने लगा। रेल और मोटरों ने खुश्की के व्यापार को, और जहाज़ों ने पानी के रास्ते से होनेवाले व्यापार को खूब बढ़ाया; अब हवाई जहाज़ों से तो दोनों ही तरह का व्यापार हो रहा है। तार, डाक, टेलीफोन आदि से व्यापार में तरह-तरह की सुविधा होने लगी। अब दूर-दूर के व्यापारी आपस में बिना एक-दूसरे से मिले ही यह तय कर लेते हैं कि किस तरह का कितना माल किस भाव पर लेना है। यह तय हो जाने पर माल भेज दिया जाता है, और माल भेजनेवाले को रुपया मिल जाता है, अथवा अगर वह चाहता है तो उसकी तरफ से वहाँ ही जमा हो सकता है, या किसी दूसरे कारोबार में लगाया जा सकता है। बैंकों और मुद्रा के कारण अब लाखों का लेनदेन सहज ही हो जाता है।*

बहुत से उद्योग-धंधों की उन्नति पहले पहल भारतवर्ष में ही हुई। इस लिए यहाँ से बहुत सा माल दूसरे देशों को बड़ी मुद्दत तक जाता रहा, और बड़े आश्चर्य और हर्षपूर्वक लिया जाता रहा। रोजमर्रा की जरूरतों, कपड़ा और चीनी के बारे में भारतवर्ष बहुत ही मशहूर था। योरपीय देशों में, यूनान और रोम को सभ्यता में गुरू माना जाता है। यूनान के आदमी जब शुरू में भारतवर्ष आये तो उन्होंने यहाँ के कपास के पौधों को ऊन के पेड़, और ईख को शहद के पेड़, समझा था। उधर रोम वालों का यह हाल था कि वे यहाँ के बारीक कपड़ों को मकड़ी के

*अब आदमी को मुद्रा के रूप में धन जोड़ने की बड़ी सुविधा हो गयी है। किसी-किसी आदमी के लाखों या करोड़ों रुपए बैंकों में जमा रहते हैं; आदमी की तृष्णा का कुछ अन्त नहीं है।

जाले या हवा के बने हुए कपड़े कहते थे। यहाँ के कपड़े की कीमत के रूप में रोम को बहुत सा सोना देना पड़ता था। इस पर वहाँ के इतिहास-लेखक प्लिनी ने इस बात की बड़े दुःख से शिकायत की है कि अगर यहाँ की शौकीन स्त्रियों की विलासता के कारण इसी रफ़्तार में यहाँ का धन भारत को जाता रहा तो रोम साम्राज्य का खजाना खाली हो जायगा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने तक भारतवर्ष का कपड़ा एशिया और योरप के बाजारों में बहुत बड़े परिमाण में पहुँचता रहा। सन् १७०१ में इंगलैंड में यहाँ का केलिको (कालीकट का बना कपड़ा) क़ानून बना कर रोका गया था, क्योंकि इसके सामने वहाँ उस देश का कपड़ा नहीं बिक सकता था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यहाँ का कपड़ा इंगलैण्ड आदि देशों में गया है। पर इस बीच में मशीनों का आविष्कार होकर उनका उपयोग बढ़ने लगा था। मशीनों के काम की तरक्की होने पर उनका बना माल धीरे-धीरे बढ़िया और सस्ता होने लगा, फिर उसे राजसत्ता का भी सहारा था। धीरे-धीरे उसका प्रचार बढ़ गया और उसने हाथ की दस्तकारियों को पिछाड़ दिया। ऐसा परिवर्तन बहुत जगह हुआ। कितने ही देश जो पहले दूसरे देशों को तैयार माल भेजते थे, अब अपनी ही ज़रूरतों के लिए दूसरों पर निर्भर रहने लगे।

शुरू में हरेक व्यापारी अकेला ही व्यापार किया करता था। धीरे-धीरे व्यापार का काम बढ़ा, और बढ़ते-बढ़ते कुछ दशाओं में इतना हो गया कि अकेला आदमी उसे न संभाल सका। इस हालत में उसने अपनी सहायता के लिए एजंट, मेनेजर, गुमाश्ता, मुनीम, कारिन्दे आदि रखे। ये लोग अपने काम का पारिश्रमिक, मेहनताना या तनख्वाह पाते थे। इन्हें व्यापार की हानि-लाभ से कुछ सम्बन्ध न था; जो कुछ भी नफा या नुकसान होता था, वह व्यापारी का होता था।

अकेला व्यापारी बहुत ज्यादह पूंजी नहीं जुटा सकता; वह बहुत अधिक हानि भी नहीं सह सकता। व्यापार का परिमाण बढ़ने पर इस

ओर लोगों का ध्यान गया। कुछ आदमियों को अपनी व्यापारिक योग्यता का तो भरोसा रहा, वे जोखम भी उठाने को तैयार थे; सवाल था पूंजी का। ऐसे आदमियों ने मिलकर व्यापार किया। उनका व्यापार साझे का व्यापार कहा जाने लगा। व्यापारियों के संघ किस देश में कब शुरू हुए, यह तो बहुत विस्तार का विषय है, पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है कि भारतवर्ष में वे अब से दो हजार वर्ष से भी पहले मौजूद थे। उन्होंने कारोबार के निश्चित नियम बना रखे थे, और राज्य भी उन्हें बहुत मानता था। उनका अपने राज्य पर काफी प्रभाव होता था, और वे दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे।

खासकर वैज्ञानिक उन्नति होने पर, जबकि भाप आदि शक्तियों का उपयोग होने लगा, उद्योग धंधे बहुत बड़े परिमाण पर चलने लगे, तो व्यापार का आकार और विस्तार भी बढ़ चला। अब बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों के लिए और भी अधिक पूंजी की ज़रूरत होने लगी, कई-कई लाख या करोड़ रुपये की व्यवस्था अकसर पाँच सात आदमियों से भी न हो सकी। इसके लिए बहुत से आदमियों की कम्पनियाँ खड़ी की जाने लगी। अब तो कुछ कम्पनियों की हिस्सा-पूंजी अरबों रुपये की होती है। इससे इनकी शक्ति और प्रभाव का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

व्यापार ने आदमी का ज्ञान बहुत बढ़ाया है। व्यापार के लिए दूर-दूर की यात्रा करने से अलग-अलग देशों के आदमियों को एक दूसरे के बारे में जानकारी हासिल हुई है। व्यापारियों को यह मालूम हुआ कि दूसरे देश में कोई काम किस तरह किया जाता है, वहाँ कैसी रीति रिवाज है, कौनसी बात अच्छी या फायदेमंद हैं। फिर उन्होंने अपने देश में लौट कर उन बातों का प्रचार किया। इस तरह उन्होंने लोगों का साधारण ज्ञान बढ़ाने में बड़ी मदद दी है। यह तो सब जानते ही हैं कि कोलम्बस ने अमरीका का पता लगाया तो इसका मुख्य कारण व्यापार ही था। उससे पहले योरप वालों को

अमरीका का ज्ञान न था। वे भारतवर्ष के सूती और रेशमी कपड़े, मसाले और रत्न आदि बहुत पसन्द करते थे। ये कीमती चीजें यहाँ से एशिया के रेगिस्तान में ऊंटों पर ढोई जाती थीं, और भूमध्य सागर के किनारे पहुँचने पर जहाजों के द्वारा इटली ले जायी जाती थीं और वहाँ से योरप भर में इनका व्यापार होता था। लेकिन इस तरह ये चीजें देर में और थोड़े परिमाण में पहुँचती थीं, और महँगी पड़ती थीं। आदमी चाहते थे कि चीज़ें जल्दी, सस्ती और काफी मिलें। भारतवर्ष का रास्ता ढूंढने की कोशिश हुई, और उसका नतीजा यह हुआ कि इटली के मशहूर मल्लाह कोलम्बस ने स्पेन की रानी से जहाजों की मदद लेकर समुद्र की यात्रा और अमरीका का पता लगाया। योरप वालों के लिए यह 'नयी दुनिया' थी।

व्यापार ने दूर-दूर के आदमियों को आपस में मिलाया और उनका सम्बन्ध बढ़ाया है। आदमी को सामाजिक जीवन की उपयोगिता मालूम हो रही है। लेकिन सामाजिकता का आदर्श प्राप्त करने, यानी तमाम मनुष्य जाति को एक समझ कर, सब के हित की बात सोचने और अपने व्यापार में बराबर इस बात का ध्यान रखने की अवस्था अभी नहीं आयी है। कितने ही व्यापारी सड़ी गली, पुरानी, घटिया चीजों के पूरे दाम उठाने में अपनी होशियारी समझते हैं। शौकीनी, विलासिता या नशीली चीजों को बेचने में बहुतों को संकोच नहीं है। व्यापार लोगों में ईर्षा, द्वेष और लड़ाई-झगड़ा बढ़ाने का काम कर रहा है। यहाँ तक कि एक कम्पनी का दूसरी कम्पनी से, और एक देश का दूसरे देश से व्यापार के लिए संघर्ष चल रहा है। हम भूल जाते हैं कि व्यापार भी समाज-सेवा का एक साधन है। हम अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हैं। इससे दूसरों को कष्ट और हानि होती है, और हमारा नैतिक पतन होता है। इस विचार से, व्यापार-पद्धति में बहुत सुधार होने की ज़रूरत है।

चौथा भाग

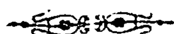
सामाजिक जीवन

हम लोगों ने प्राकृतिक सृष्टि का बहुत कुछ-वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर केवल सच्चे और निर्भान्त सिद्धान्त ही नहीं स्थिर किये हैं, बल्कि अपने ज्ञान का विलक्षण उपयोग कला-कौशल, व्यापार-व्यवसाय आदि में करके दिखाया है। पर इस ज्ञान के द्वारा हम अपने आचार और व्यवहार में बहुत कम क्या, कुछ भी उन्नति नहीं कर सके हैं। इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध गति के कारण हमारे जीवन में बड़ी भारी अव्यवस्था दिखायी पड़ती है, जो आगे चल कर समाज के लिए अनर्थकारी होगी। इसलिए प्रत्येक शिक्षित और सभ्य मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मानव जीवन से इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न करे।

—हैकल

सोलहवां अध्याय

समूह रचना



आदमी स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। कुछ खास अवस्था की, थोड़ी देरी की, बात छोड़कर उसे अकेला रहना पसन्द नहीं। वह चाहता है कि मेरे कुछ संगी साथी हों; मैं अपनी मंडली में रह कर खेलूं, कूदूं, और जी बहलाऊं। फिर, आदमी के सामने अपनी ज़रूरतें पूरी करने का सवाल रहा है। रोटी कपड़े आदि का सामान पैदा करना या तैयार करना उसके अकेले के वश की बात नहीं। इसके अलावा, जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए भी आदमी के वास्ते यह ज़रूरी था कि समूह, टोली या मंडली बना कर रहे। इस तरह आदमी समूह में रहने या सामाजिक जीवन बिताने के लिए मजबूर हुआ। पर यह मजबूरी उसके लिए बहुत हितकर हुई। आदमी के विकास का बड़ा आधार उसका सामाजिक जीवन ही है, यदि वह अकेला-अकेला रहता तो वह पशु-पालन और खेती आदि उन कामों को करने में भी सफल न होता, जो उसके निर्वाह के लिए बहुत ही ज़रूरी हैं। फिर मनुष्यों का, एक दूसरे के विचार जानकर उनसे लाभ उठाना, और आगे उन्नति करना, भौतिक संसार में तरह-तरह के आविष्कार करना, सारांश यह कि मनुष्य जाति की सारी प्रगति ही आदमी के सामाजिक जीवन पर निर्भर है।

सामाजिक जीवन का आशय यह है कि आदमियों का—पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का ऐसा संगठन हो कि सब एक-दूसरे के दुख-सुख में सहायक हों, और सब की उन्नति या रक्षा की व्यवस्था रहे। इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि कुछ ऐसे नियम बनाये जायँ

कि कोई आदमी ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे की हानि हो। हर समूह के कुछ बड़े बुजुर्गों और समझदार तथा विश्वास-पात्र सज्जनों ने ऐसे ठहराव किये, जो सब के हित के हों। यह निश्चय किया गया कि जो आदमी इन नियमों को भंग करेगा, वह समूह का विरोधी माना जायगा, और उसे समूह के सहयोग से वंचित होना पड़ेगा। इसी भावना से धीरे-धीरे परिवार या कबीले बने; गांव, कस्बे या नगर बसाये गये; पंचायत या राज्य कायम हुए, कायदे कानूनों की रचना हुई। धर्म, नीति या सदाचार आदि के मूल में भी सामाजिक कुशल-क्षेम, उन्नति और वृद्धि की ही भावना है। इन बातों के बारे में आगे लिखा जायगा। यहाँ यही विचार करना है कि आदमियों के अलग-अलग समूह किस तरह बने।

शुरू में आदमी ऐसी जगह या जगहों में रहा होगा, जहाँ खाने-पीने की चीज़ें आसानी से मिल सकती थीं। धीरे-धीरे वहाँ की चीजें समाप्त होती गयीं, इधर आदमी की सन्तान हुई, फिर उस संतान की संतान हुई, इस तरह आदमियों की तादाद बढ़ी, और उन सब का वहाँ गुजर होना मुश्किल हो गया। इस पर कुछ आदमी वहाँ से दूसरी जगह चले गये, और कुछ अर्से बाद जब वहाँ भी खाने-पीने की चीजें मिलने में कठिनाई होने लगी तो उनमें से कुछ आदमी दूसरी नयी जगहों में चले गये। इस तरह खुराक की तलाश करते-करते आदमी दूर-दूर तक जा पहुँचे। दूसरे कारणों से भी आदमी अपने मूल स्थान को छोड़ कर दूसरी जगहों में जाकर बसे। मसलन किसी समूह के कुछ आदमियों ने घूमते हुए देखा कि दूसरी जगह आबहवा आदि के विचार से ज्यादह अच्छी है, तो उन्होंने अपने समूह वालों को नयी जगह जाने पर राजी कर लिया। कभी-कभी ऐसा हुआ कि एक समूह पर दूसरे समूह ने हमला किया और पहले समूह को अपनी जगह से भाग जाना पड़ा।

अस्तु, जैसे-जैसे आदमी दुनिया के दूर-दूर के हिस्सों में जाते गये, उनके समूह एक दूसरे से अलग होते गये। उनकी भाषा और रहन-

सहन में धीरे-धीरे फरक होता गया; यहाँ तक कि कुछ अर्से बाद एक समूह की भाषा दूसरे समूह की भाषा से, और एक समूह का रहनसहन दूसरे समूह के रहनसहन से जुदा मालूम होने लगा। अलग-अलग जलवायु वाले देशों में रहने के कारण जुदा-जुदा समूहों का रंग भी जुदा-जुदा हो चला। बहुत ठंडे देशों के रहनेवालों का रंग आम तौर से गोरा, और बहुत गर्म देशों के आदमियों का अकसर काला होता है। बहुत ज्यादह ठंडे और बहुत ज्यादह गर्म आबहवा के बीच के देश वालों में पीला, भूरा, साँवला, गेहुँआ आदि कई दूसरे रङ्ग पाये जाते हैं। आबहवा का असर लोगों की पोशाक पर भी पड़ता है। गरम देशों के आदमियों को ज्यादा कपड़े की ज़रूरत नहीं होती; थोड़े से कपड़े से ही काम निकल जाता है। वहाँ आदमी अकसर ढीले-ढाले सूती कपड़े पहनते हैं। इसके खिलाफ, ठंडे देशों में आदमियों को कपड़े की ज़रूरत बहुत ज्यादा होती है; वहाँ आदमी ऊनी या चमड़े के, या बालों वाले चमड़े के, तङ्ग या चुस्त कपड़े पहनते हैं।

आबहवा या प्राकृतिक स्थिति के अनुसार देशों की पैदावार अलग-अलग या कम ज्यादा होती है। कहीं-कहीं तो करीब-करीब सभी चीजें पैदा हो जाती हैं, कहीं एक चीज ज्यादा पैदा होती है, कहीं दूसरी; और कहीं-कहीं पैदावार होती ही बहुत कम है। इस लिए जमीन के अलग-अलग हिस्सों में रहनेवालों का खानपान भी बहुत-कुछ जुदा-जुदा हो जाता है। अलग-अलग देशों के आदमियों की भाषा, भेष, रहनसहन, खानपान और रङ्ग आदि अलग-अलग होने से एक देश के आदमी अकसर अपने आपको दूसरे देश के आदमियों से जुदा जाति का समझने लगे।

आदमी अपनी जुदा-जुदा जरूरतों को पूरा करने के लिए अलग-अलग समूह बनाता रहा है। बच्चों के पालन-पोषण की आवश्यकता होती है, इसके लिए परिवार या कुटुम्ब नाम का समूह बनता है। बालकों को शिक्षा देनेवालों का दूसरा समूह होता है, उसे शिक्षक या अध्यापकों का समूह कहते हैं। अन्न आदि पैदा करने वालों के समूह

को किसान समूह कहा जाता है। पदार्थों को बेचनेवालों को दुकानदार या सौदागरों का समूह कहते हैं। मनोरञ्जन करने के लिए या खेल कूद के वास्ते जो समूह बनता है, वह क्लब, या 'टीम' कहलाता है। धार्मिक चर्चा तथा विचार करनेवालों का समूह एक 'सम्प्रदाय' होता है।

इस तरह अब समूह कई प्रकार के होते हैं। हाँ, मोटे हिसाब से उनके दो भेद भी किये जा सकते हैं:—(१) वंशानुसार, या नातेदारी या रिश्तेदारी के आधार पर बने हुए समूह; जैसे परिवार या कुटुम्ब, कबीला, जाति आदि। ये समूह स्वाभाविक, कुदरती या जन्मसिद्ध होते हैं। ऐसे समूह का सदस्य, आदमी अपने जन्म से ही होता है। (२) आदमी के बनाये हुए समूह। इन समूहों को आदमी अपनी ज़रूरत के अनुसार बनाता है, जैसे धर्मानुसार, व्यवसाय या पेशे धंधे के अनुसार, राजनैतिक मतानुसार अर्थात् शासनपद्धति सम्बन्धी विचार या आदर्श के अनुसार, और मनोरञ्जन, शिक्षा या लोकसेवा आदि की भावना के आधार पर बनाये हुए समूह। इनमें से दूसरी तरह के समूहों की कोई सीमा नहीं है; देश काल के अनुसार, जब आदमियों को कोई जरूरत होती है, उसकी पूर्ति के लिए एक समूह बन जाता है, और अगर पीछे किसी समय वह जरूरत नहीं रहती तो उसे पूरा करनेवाला समूह भी समाप्त हो जाता है। इस तरह समूहों के बनने और खत्म होने का सिलसिला चला जाता है। क्योंकि सामाजिक प्रगति के साथ-साथ आदमी की ज़रूरतें बढ़ती अधिक हैं; और घटती कम हैं, इसलिए समूहों की संख्या कुल मिला कर बढ़ती ही जाती है। और, एक आदमी का कई-कई समूहों से सम्बन्ध होता है।

फिर, एक समूह में अब कई-कई समूहों से सम्बन्ध रखनेवाले आदमी भाग लेते हैं। मिसाल के तौर पर आर्थिक या व्यावसायिक समूह में जुदा-जुदा जातियों या धर्मों के आदमी होते हैं; और, राजनैतिक समूह में कई जुदा-जुदा धर्म या आर्थिक विचारवाले समूहों के आदमी भाग लेते हैं। इस तरह जुदा-जुदा समूहों के आदमियों का

एक दूसरे से सम्पर्क बढ़ता है, और एक समूह दूसरे पर कुछ-न-कुछ प्रभाव डालता है। इस तरह कोई समूह दूसरों से पूरी तरह जुदा नहीं रहता। सब को एक दूसरे से मिलने-जुलने और उसका दृष्टिकोण जानने का अवसर मिलता है। इससे अलग-अलग समूहों के विचारों का समन्वय होता है, और उनकी उग्रता धीरे-धीरे कम होती है।

कोई समूह छोटा होता है, और कोई बहुत बड़ा। उदाहरण के लिए परिवार में प्रायः दो तीन से पाँच सात तक आदमी रहते हैं। और, कोई समूह इतना बड़ा होता है कि उसमें देश भर के आदमी आ जाते हैं, जैसे राज्य। किसी-किसी समूह का सम्बन्ध मनुष्य-समाज भर से होता है। राष्ट्र-संघ ('लीग-आफ़-नेशन्स') का उद्देश्य विश्व-व्यापी था। अब फिर ऐसा ही संघ बनाने की योजना हो रही है। मज़दूरों, धर्म-प्रचारकों और व्यवसाइयों के भी कुछ संघ विश्वव्यापी उद्देश्य वाले होते हैं। यातायात के साधनों की उन्नति के साथ संसार के जुदा-जुदा हिस्सों के रहनेवाले अब एक दूसरे से सम्पर्क में अधिक आते हैं; संसार धीरे धीरे एक सूत्र में बँधता जा रहा है। इसलिए बड़े-बड़े क्षेत्रवाले समूहों के बनने की सुविधा बढ़ती जा रही है।

इसमें सन्देह नहीं कि अभी जुदा-जुदा समूहों में प्रेम और समभाव बहुत कम ही है। पुराने जमाने में भी आदमी अकसर अपने समूह वालों से ही प्यार करता था। एक समूह दूसरे समूह को पराया या गैर समझता, और उससे ईर्षा-द्वेष या घृणा करता था। कबीलों, जातियों या राष्ट्रों का निर्माण होने पर आदमी ने दूसरे कबीले, दूसरी जाति या दूसरे राष्ट्र के आदमियों को पराया या गैर समझा और उन्हें अजनबी, जंगली, मलेच्छ, अनार्य, यवन, राक्षस, असुर आदि कहा। इस भावना के दूर होने की बड़ी जरूरत है। जब हर एक जाति या राष्ट्र ऐसा करेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय समूह या विश्व-संघ बनने का रास्ता साफ हो जायगा। रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, हवाई जहाज आदि से मनुष्य जाति की एकता में बड़ी मदद मिल रही है, और भविष्य में इससे भी अधिक मिल सकेगी। जरूरत है कि आदमी

इस कार्य में प्रेम और सहानुभूति से विज्ञान का सदुपयोग करे।

मनुष्य जाति की एकता में इस समय दो बड़ी बाधाएँ हैं—जाति-भेद और वर्ण-भेद। जाति-भेद के बारे में विशेष आगे लिखा जायगा। जिस तरह भारतवर्ष आदि में इसका बड़ा जोर है, उसी तरह योरप अमरीका वालों में वर्ण-भेद भयंकर रूप से बढ़ा हुआ है। गोरी जातियाँ अपने आपको सब से ऊँची, और दुनिया भर में मिलनेवाले सब तरह के सुखों की अधिकारी या हकदार समझती हैं। उनके विचार से काले और दूसरे रङ्ग वाले आदमी नीच या घटिया दर्जे के हैं; रङ्गदार जातियों का उपयोग यही है कि वे गोरों की सेवा-चाकरी करें। योरप के कुछ गोरे अमरीका, अफरीका, और आस्ट्रेलिया आदि में जा बसे। वे अपने साथ उन देशों में भी यह वर्ण-भेद का रोग ले गये। इस तरह उन देशो में भी यह रोग बहुत फैला गया। समय-समय पर कुछ महानुभावों ने बहुत संकट उठाकर भी मनुष्य जाति को इस रोग से छुटकारा दिलाने की कोशिश की; लेकिन रोग इतना गहरा है कि अभी तक कुछ खास सफलता नहीं मिली। पर निराशा की कोई बात नहीं है; आदमी को अपना उद्योग जारी रखना है, प्रगति अकसर धीरे-धीरे ही होती है।

सतरहवां अध्याय

विवाह; परिवार और सन्तान



[१]

पिछले अध्याय में मनुष्य की सामाजिक भावना और समूह-रचना के बारे में लिखा गया है। अब इस अध्याय में सामाज़िक संगठन के पहले और कुदरती स्वरूप परिवार का विचार करें।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की कहानी बहुत पुरानी है। इस सम्बन्ध का

रूप धीरे-धीरे बदलता रहा है। पहले का उच्छृङ्खल सम्बन्ध धीरे-धीरे नियमों और रस्मोरिवाज में बंध गया है। आजकल हम प्रायः एक आदमी की एक स्त्री और एक स्त्री का एक पति देखते हैं। पहले ऐसा न था। यही नहीं, मनुष्य जाति के इतिहास में शुरू का बहुत सा समय ऐसा रह चुका है, जब विवाह प्रथा ही नहीं थी। न कोई आदमी किसी स्त्री का पति था, और न कोई स्त्री किसी खास आदमी की पत्नी या व्याही हुई औरत। अकसर किसी स्त्री का किसी भी पुरुष से सम्बन्ध हो सकता था। इस तरह एक स्त्री का कुछ समय तक एक आदमी से सहवास सम्बन्ध रहता, और पीछे जब वह चाहती दूसरे तीसरे या चौथे आदमी से सम्बन्ध रहता। यहाँ तक कि एक स्त्री का एक साथ कई आदमियों से भी ऐसा सम्बन्ध रहता था। यही बात आदमियों की थी। बहुत अर्से तक एक आदमी का समय-समय पर, अथवा एक ही समय में, कई स्त्रियों से सहवास सम्बन्ध होता रहा है।

पीछे, आबादी बढ़ने पर भोजन आदि की तलाश में एक टोली के एक जगह से दूसरी जगह जाने, या एक टोली के कई-कई हिस्सो में बंटने का अवसर आया। बहुत से स्थानों में आदमियों के छोटे-छोटे ही समूह रहने लगे। इस तरह धीरे-धीरे एक स्त्री का सहवास सम्बन्ध एक खास और छोटे समूह के ही कुछ आदमियों से रहने लगा।

धीरे-धीरे आदमी में काम वासना बढ़ी, उसे काम धंधे में स्त्री की उपयोगिता का अनुभव हुआ और साथ ही निजी सम्पत्ति की भावना उदय हुई। अब जो स्त्री जितनी अधिक सुन्दर या मेहनती होती, उतने ही अधिक आदमी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। एक ही स्त्री के लिए अनेक पुरुषों में लड़ाई-झगड़े होने लगे। इस अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए विविध नियम बनाये गये, और विवाह की प्रथा जारी की गयी। विवाह की परिपाटी से सब झगड़े शान्त नहीं हो गये, विवाहों के कुछ तरीके इस तरह के थे कि उनमें काफी लड़ाई और खूनखराबा होता था। तो भी विवाह-संस्कार सार्वजनिक रूप से होने का यह लाभ अवश्य हुआ कि आदमी

जानने लगे कि किस खास स्त्री या स्त्रियों का किस खास पुरुष या पुरुषों से सहवास सम्बन्ध स्थिर हो गया है, और धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि जिन स्त्रियों का यह सम्बन्ध निश्चित हो जाय, उनसे दूसरे आदमियों का यह सम्बन्ध न हो। इस तरह किसी स्त्री का विवाह होने से पहले या विवाह होते समय चाहे जो झंझट हो, एक बार विवाह हो जाने पर फिर उस स्त्री के सम्बन्ध में किसी प्रकार का झगड़ा होने की शंका हट गयी, या बहुत कम रह गयी।

देश-काल के अनुसार विवाहों के सैकड़ों भेद रहे हैं। मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं:—(१) ब्राह्म विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या योग्य वर को देता है। (२) दैव विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या यज्ञ करनेवाले पुरोहित को, यज्ञ की दक्षिणा के रूप में, देता है। (३) आर्ष विवाह—इसमें पिता किसी ऋषि आदि से गाय बैल की भेंट लेता है, और उसे अपनी कन्या देता है। (४) प्रजापत्य विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या को सन्तान पैदा करने और पत्नि के नियम पालन करने के लिए देता है। (५) असुर विवाह—इसमें वर पक्ष कन्या को मोल लेता है। (६) गान्धर्व विवाह—यह कन्या की इच्छा से होता है। (७) राक्षस विवाह या क्षत्री विवाह—यह कन्या के घर वालों से युद्ध करके किया जाता है। (८) पैशाच विवाह—इसमें पुरुष कन्या का अपहरण करता है। इनके अलावा स्वयम्वर की प्रथा है, जिसमें कन्या अपना वर खुद चुनती है। लेकिन कितने ही स्वयम्वरों में कन्या के पिता आदि ने वर के लिए ऐसी शर्त लगायी है कि कन्या की पसन्द का सवाल गौण सा हो गया; उसे असल में स्वयम्वर नहीं कहा जा सकता।

मनुस्मृति में जो आठ तरह के विवाह बताये गये हैं, वे सब किसी एक समय एक साथ प्रचलित नहीं थे; समय-समय पर जुदा-जुदा स्थानों में जारी रहे और कुछ दशाओं में एक जगह कई तरह के विवाहों का चलन रहा। विचार करने से मालूम होता है कि पहले प्रायः पैशाच विवाह जारी हुआ। यह सब से नीचे की श्रेणी का है,

पर युद्ध और लूटखसोट के समय यह स्वाभाविक था। पैशाच विवाह के बाद राक्षस विवाह आया। यह उस अवस्था की बात है, जब स्त्री का मूल्य बढ़ा हुआ है, वह लूटखसोट से नहीं मिलती, आदमी उसके लिए कीमत चुकाने को तैयार हुआ। अब भले ही स्त्री खरीदने की बात बुरी मालूम हो, उस समय तो यह एक भारी सुधार था। इसके बाद गांधर्व और आसुर आदि विवाहों का चलन हुआ। ज्यों-ज्यों समाज आगे बढ़ता गया उसे एक तरह की रीति असुविधाजनक या अनुचित मालूम होती गयी, उसने विवाह-प्रणाली में परिवर्तन किया।

धीरे-धीरे विवाह की विधि के साथ बहुत सी रीति-रस्म या लोकाचार चल गये। कुछ रीति रस्म पीछे जाकर बहुत हानिकर हो गयी। मिसाल के तौर पर दहेज की प्रथा है। पहले कन्या का पिता अपनी खुशी से, अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ दे देता था, अब तो कितने ही वर-पक्ष वाले इसकी बाकायदा मांग करते हैं, और कुछ तो पहले से ही बड़ी-बड़ी रकमें ठहरा लेते हैं।

विवाह की परिपाटी शुरू होने पर एक स्त्री का कई पुरुषों से, और एक पुरुष का कई स्त्रियों से सम्बन्ध होना बन्द नहीं हुआ; हाँ, इसमें कुछ रोक अवश्य लग गयी। विवाह-प्रथा जारी हो जाने पर भी बहुपतित्व और बहुपत्नित्व कुछ परिमित रूप में बना रहा।* बहुपतित्व यानी एक स्त्री के कई पति होने की बात ज़्यादातर उन जगहों में रही, जहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम थी। एक पुरुष का कई-कई स्त्रियों से विवाह होने के कई कारण रहे हैं। पुरुष अपने सुख को बढ़ाने का अभिलाषी था, इसके अलावा जब से खेती का काम होने लगा और स्त्री ज्यादातर घर का काम करने लगी पुरुष में शारीरिक बल अधिक होने लगा। वह कितनी ही बार किसी स्त्री को उड़ा लाता, या लड़कर जीत लाता। जब आदमी धन सम्पत्ति का स्वामी होने लगा तो उसने स्त्रियों को खरीद कर भी हासिल किया। राजा महाराजाओं और सेनापतियों आदि के

* इस ज़माने में भी कुछ जगहों में यह बना हुआ है।

सामने यह भी विचार रहा है कि हमारी कई सन्तान हों, जिससे हमारा पद हमारे ही वंश में रहे; इसलिए उन्होंने कई-कई विवाह किये। बहुत से राजाओं ने कई विवाह इसलिए किये कि बहुत से आदमी उनके रिश्तेदार हो जायँ और लड़ाई के मौके पर उन्हें उन सब की सहायता मिल सके। बहुत सी दशाओं में अधिक विवाह होना अधिक वैभव का लक्षण माना गया।

ज्यों-ज्यों स्त्रियाँ ज्यादहतर घर का काम करनेवाली होती गयीं, उनसे पारिवारिक आय कम होने लगी। वे खर्च का कारण बनने लग गयीं। ऐसी दशा में बहु-विवाह में आर्थिक रुकावटें पैदा हो गयीं। फिर, एक पुरुष की कई स्त्रियाँ होने की हालत में, उन स्त्रियों में ईर्षा और द्वेष बढ़ना स्वाभाविक था। 'सौतिया डाह' मशहूर ही है। इससे आदमी का पारिवारिक जीवन सुखमय न होकर कलह पूर्ण होने लगा। ऐसे अनुभवों से आदमी की, एक ही विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ी।

विवाह का इतिहास सभी जगह एकसा नहीं रहा है, तो भी इसकी पाँच सीढ़ियाँ देखी जा सकती हैं। (१) बलात्कार द्वारा विवाह। यह आस्ट्रेलिया, बाली, न्यूगिनी और फिजी आदि के मूल निवासियों में अब भी जारी है। आदमी स्त्री से बलात्कार करते हैं, और फिर उसे अपनी पत्नी बना लेते हैं। (२) हरण द्वारा विवाह। भारतवर्ष में रुक्मिणी-हरण, संयुक्ता-हरण की, और आल्हा-ऊदल आदि की कथाएँ सब जानते हैं। अमरीका के बहुत से मूल निवासियों में यह प्रथा अभी तक मौजूद है। (३) क्रय द्वारा विवाह। हाटेंटाट और काफिर लोगों का विवाह गाय बैल और शराब आदि का मूल्य देकर होता है। सेनीगेम्बिया के मूर तथा हबशी लोगों का विवाह मूल्य देकर होता है। एशिया के मंगोल तातारी आदि भी इसी तरह विवाह करते हैं। (४) सम्बधियों द्वारा विवाह। यह बहुत से समाजों में है, जहाँ लड़कियाँ तथा लड़के अपने माता पिता पर निर्भर होते हैं और माता पिता ही उनके विवाह आदि का प्रबन्ध करते हैं। इसमें प्रेम आदि का अधिक ध्यान नहीं रखा जाता। भारतवर्ष में अकसर विवाह ऐसे

ही होते हैं; हाँ, उनमें अब कमी हो रही है। (५) प्रेम द्वारा विवाह। इससे पहले तक स्त्रियाँ तथा बालिकाएँ पतियों तथा पिताओं की सम्पत्ति समझी जाती थीं। प्रेम द्वारा विवाह का मुख्य लक्षण स्त्रियों में स्वतन्त्रता की भावना है।*

परिवार के सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा। उसके विकास की दृष्टि से विवाहों का क्रम कुछ इस प्रकार रहा, मालूम होता है—

(१) सगोत्रक, जिसमें एक ही गोत्र, वंश, या समूह में विवाह होता है। इस प्रकार भाई बहिन में विवाह होता है। (२) कई भाइयों का, एक स्त्री का पति होना। (३) पुरुष का स्त्री से समागम होना पर निश्चित रूप से विवाह न होना; एक परिवार का अस्थायी प्रारम्भिक विवाह (४) एक पुरुष का, कई स्त्रियों का पति होना। (५) एक-पत्नीक विवाह, जिसमें पुरुष और स्त्री की समानता के भावों का विकास होता है।

हिन्दुओं में विवाह खासकर धार्मिक कार्य माना गया है, मुसलमानों में सामाजिक, और ईसाइयों में कानूनी। पर धीरे-धीरे सभी जातियों में विवाहों का रूप कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक, और कुछ कानूनी हो गया।

विवाह का सम्बन्ध सिर्फ वर वधु के ही जीवन से न होकर समाज से भी है; उसका उद्देश्य समाज की उत्तरोत्तर वृद्धि है; केवल आदमियों की संख्या बढ़ाना ही नहीं, अच्छी हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त संतान पैदा करना है। यह उद्देश्य तभी अच्छी तरह पूरा होता है, जब वर वधु की जोड़ी ठीक हो; उनके चुनाव का क्षेत्र विस्तृत हो। प्राचीन भारत में विवाह के लिए जाति-पाँति का बन्धन न था, महाभारत में बहुत से अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्देशीय विवाहों का जिक्र आया है। पर आजकल ज्यादातर विवाह एक उपजाति के अन्दर ही होते हैं; और बहुत सी उपजातियों की जनसंख्या इतनी कम है कि अगर लड़का

* 'चाँद' में प्रकाशित, श्री कुमार सुरेशसिंह जी, कालाकाँकर, के लेख के आधार पर।

पढ़ा लिखा है तो उसे मूर्ख लड़की से विवाह करना पड़ता है, और अगर लड़की योग्य हो गयी तो उसके लिए योग्य वर नहीं मिल पाता। वर वधु के विचारों में मेल न होने से उनका विवाहित जीवन बहुत दुख में बीतता है, और उनकी सन्तान तो कमजोर, रोगी और कम उम्र वाली होती ही है। कुछ समय से इस ओर लोगों का ध्यान जाने लगा है, और इसमें धीरे-धीरे सुधार हो रहा है। अब एक वर्ण या जाति के युवक का विवाह उस वर्ण या जाति भर की किसी भी युवती के साथ होने में पहले की तरह की बाधा नहीं रही है। अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाहों के भी उदाहरण मिल रहे हैं।

योरप और अमरीका वालों ने इस विषय पर गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनमें अन्तर्देशीय विवाहों का चलन खासा है और बढ़ता जा रहा है लेकिन उनमें अपने वर्ण या रंग का बड़ा घमंड है, उनके विवाह शादी अक्सर गोरे रंगवालों में ही होते हैं। इसमें सुधार होने की आवश्यकता है, और यह होकर रहेगा। यह ध्यान में रखने की बात है कि दूर-दूर रहनेवालों के विवाह-सम्बन्ध उसी हालत में सुखदायी होते हैं, जब वर वधु के विचारों और रहनसहन में समानता हो, या वे इतने उदार हों कि अपने से विरोधी विचारधारा का भी अच्छी तरह स्वागत करें, और मतभेद के कारण कलह का अवसर न आने दें।

[२]

अब परिवार की बात लें। पशु पक्षी जन्म लेने के बाद थोड़े समय में ही अपना गुजारा करने लायक हो जाते हैं। लेकिन आदमी की सन्तान कई वर्ष तक परावलम्बी रहती है। मा को बच्चे की बहुत सार-संभार करनी होती है; इस समय में उसे अपने भोजन आदि के लिए आदमी की सहायता चाहिए। इसलिए मनुष्य को परिवार बना कर रहने की जरूरत बहुत ज्यादा है। इसके अलावा मनुष्य में बुद्धि और स्थायी अनुराग की भावना पशु-पक्षियों से अधिक है। इसलिए भी उसके वास्ते पारिवारिक जीवन बहुत जरूरी होजाता है। स्थायी

अनुराग की भावना आदमी को प्रेरणा करती है कि जिन लोगों से उसका जन्म के कारण सम्बन्ध है, उनके साथ मिलजुल कर, और जहाँ तक मुमकिन हो, एक ही घर में रहे। आदमी की बुद्धि उसे याद दिलाती रहती है कि जिन लोगों ने हमारे बचपन में हमारे लिए तकलीफें उठायी हैं, जिन्होंने हमारा पालन पोषण किया है, हमारे दुख-सुख में साथ दिया है, उनके साथ हम भी भलाई करें, उनके दुख दर्द में काम आवें, और उनकी बीमारी या बुढ़ापे आदि में उनकी सेवा करें। अपने रिश्तेदारों की सेवा और सहायता करने, और अपनी सन्तान की सार-सँभार या परवरिश करने की भावना ने आदमी को पारिवारिक जीवन बिताने वाला बना दिया।

इस विषय में एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। सभी प्राणियों में काम-वासना होती है; जिस जाति के प्राणियों में यह वासना जितनी अधिक होती है, उतना ही वे पारिवारिक जीवन अधिक बिताते हैं। पशु पक्षियों के उदाहरण से यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है। शुरू में आदमी में यह वासना कम थी, धीरे-धीरे उसमें यह बढ़ती गयी, सांसारिक सुखों में इसकी प्रधानता होती गयी। और, इस सुख को बिना विलम्ब और झंझट के प्राप्त करने के लिए आदमी अपने साथी को अपने पास रखने के लिए मजबूर हुआ। काम की पूर्ति के लिए एक पुरुष कई स्त्रियाँ और एक स्त्री कई पुरुषों को रखने लगी। इस तरह पारिवारिक जीवन शुरू हुआ। पुरुष ने स्त्री को अपने साथ रहने को बाध्य किया तो उसका कर्तव्य होगया कि इस सुख के फलस्वरूप जो सन्तान हो, उसका पालन पोषण करे। पीछे पुरुष को इच्छा हुई कि मैंने सन्तान के लिए इतना कष्ट उठाया है तो संतान को भी चाहिए कि बड़े होने पर मेरी सेवा और सहायता करे। इस आपसी स्वार्थ ने एक दूसरे को बाँध दिया; पारिवारिक जीवन विस्तृत बन गया।*

परिवार का रूप जैसा अब है, पुराने ज़माने से ऐसा ही नहीं रहा है। प्राचीन काल में, जब विवाह-प्रथा नहीं थी, जब किसी स्त्री का

*श्री गणेशदत्त जी 'इन्द्र' के, 'विश्वमित्र' में प्रकाशित लेख के आधार पर।

सम्बन्ध किसी भी पुरुष से हो जाता और बदलता रहता था, उस समय परिवार का अर्थ था, प्रायः स्त्री और उसके बच्चे। पुरुष तो हजारों वर्ष का समय बीत जाने पर परिवार का स्थायी सदस्य हुआ। विवाह-प्रथा जारी होने पर परिवार में खासकर स्त्री, उसका पति, और उन दोनों की संतान गिनी जाने लगी। संसार के जुदा-जुदा हिस्सों में परिवार दो तरह के रहे हैं—(१) पितृप्रधान; जिनमें बालक अपने पिता, पितामह (बाबा) और प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के माने जाते हैं, और हर आदमी की जायदाद का उत्तराधिकारी उसका बड़ा लड़का समझा जाता है। (२) मातृप्रधान; जिनमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है; जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है, और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है। कहीं कहीं दो या अधिक भाई अपने-अपने स्त्री बच्चों सहित एक साथ रहने लगे। इस दशा में बालक अपने माता पिता के ही साथ नहीं रहते, बल्कि अपने चाचा-चाची, ताऊ-ताई आदि के भी साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं। हमारे देश के आदमी इससे अच्छी तरह परिचित हैं।

संयुक्त परिवार में सब कमानेवाले आदमियों की आमदनी घर के एक बड़े-बूढ़े के पास जमा होती है; वह परिवार भर के सब आदमियों की ज़रूरतें पूरी करने की कोशिश करता है। इससे परिवार का कोई बालक अनाथ या अरक्षित नहीं होने पाता। सब की शिक्षा और पालन-पोषण की व्यवस्था होती है। बीमारी या बुढ़ापे में कोई आदमी बिना आसरे के नहीं रहता। लोगों में त्याग, सहानुभूति और सहयोग का भाव बढ़ता है। लेकिन रोटी, कपड़ा मिलने का पूरा भरोसा रहने से कुछ आदमी आलसी हो जाते हैं, और बेकारी का जीवन बिताते हैं। उनका स्वाभिमान जाता रहता है, वे दूसरों की नजर में भी गिर जाते हैं। परिवार के आदमियों में, और ख़ासकर औरतों में कलह रहता है। फिर, आजकल परिवार के कुछ आदमी एक जगह काम करते हैं, और दूसरों को दूर-दूर जुदा-जुदा जगहों में काम करने में सुविधा या फायदा

होता है। व्यक्ति-स्वतंत्रता की भावना बढ़ रही है, इससे तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार की प्रथा अब हटती जाती है।

एक सवाल यह सामने आता है कि क्या स्त्री और पुरुष को सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक का अधिकार होना चाहिए। इस समय व्यक्ति-स्वातंत्र्य की लहर है। पुरुष हो या स्त्री, कोई दूसरे के जरा भी अधीन नहीं रहना चाहता। इसलिए भारतवर्ष आदि बहुत से देशों में कुछ-कुछ आदमी इस विषय का आन्दोलन कर रहे हैं। उनका कहना है कि अनेक विवाहित स्त्री-पुरुषों की आपस में नहीं बनती, उनका जीवन बहुत कष्टमय होता है। इसका उपाय यही है कि उन्हें तलाक का अधिकार हो, और वे चाहें तो अपनी 'नयी दुनिया' बसालें।

दूसरी ओर योरप अमरीका आदि का अनुभव सामने है। कितने ही आदमियों का आज विवाह होता है, और अगले ही दिन तलाक; बहुत ही तुच्छ और क्षुद्र बातों पर पति-पत्नी अलग हो जाते हैं। तलाकों की, और तलाक की अदालतों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। पुरुष स्त्री नये-नये विवाह सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि वे नये सम्बन्ध भी कब तक रहेंगे, और कब इन्हें भी तोड़ने की तैयारी करनी होगी।

इससे स्पष्ट है कि साधारण तौर से तलाक का नियम होने से इसका कहाँ तक दुरुपयोग होता है। तथापि कुछ खास-खास दशाओं में, अपवाद के रूप में, इसकी आवश्यकता प्रतीत होती रहती है। सम्भवतः उन दशाओं को लक्ष्य में रख कर ही इसलाम धर्म ने तलाक की इजाजत दी। हिन्दू स्मृतिकार ने भी इस ओर ध्यान दिया है, उसका मत है कि न केवल पति के मर जाने, नपुंसक होने, या पतित होने पर बल्कि उसके विदेश चले जाने पर भी स्त्री के लिए दूसरा पति जायज़ है।* यह ठीक है कि पिछली सदियों में हिन्दुओं की कई जातियों में

*नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

तलाक का उपयोग नहीं हुआ। लेकिन बहुत आवश्यकता होने पर भी इसका पूरे तौर से निषेध रहना ठीक नहीं। हाँ, आम तौर से इस प्रथा पर नियंत्रण रहना चाहिए; समाज का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि तलाक का प्रसंग बहुत कम आवे।

तलाक प्रथा से विवाह और परिवार-प्रणाली को धक्का लगता है। ऐसी कुछ बातें और भी हैं, और आजकल बढ़ती जाती हैं, जिनसे विवाह और परिवार की ज़रूरत या महत्व कम होता जा रहा है। पुराने जमाने में परिवार के सदस्यों के लिए खाने पहिनने आदि का अधिकतर सामान घर में तथा उसके पास ही तैयार किया जाता था। जिस काम को एक परिवार अकेला नहीं कर सकता था, वह अपने पड़ोसी परिवार की मदद से लेता था। इस तरह हर एक परिवार या उनका समूह स्वावलम्बी होता था। अब वह बात नहीं रही। मामूली हैसियत के आदमी के घर में भी खेती के औजार, सूई, डोरा, कपड़ा, कील, दियासलाई, ताला आदि बहुत सी चीजें दूर-दूर से आयी हुई हैं। इनके लिए परिवार की व्यवस्था और स्वावलम्बन की ज़रूरत नहीं रही।

फिर, आधुनिक स्त्री घर से बाहर के कामों में बहुत दिलचस्पी ले रही है; यहाँ तक कि बालबच्चों का पालन-पोषण करना भी उसे भार मालूम होता है; वह ज्यादह-ज्यादह स्वतंत्रता चाहती है। इस लिए खासकर योरप और अमरीका की बहुत सी स्त्रियाँ विवाह होने पर भी कोई स्वतंत्र धंधा या नौकरी करती हैं। कितनी ही स्त्रियाँ कुमारी रहते हुए भी विषय-वासना में फंस जाती हैं, और संतान-निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाकर मातृत्व के भार से बची रहती हैं, अथवा बच्चे के जन्म के बाद उसे राज्य की ओर से स्थापित शिशु-गृह में दाखिल करा कर उसके पालन-पोषण की चिन्ता से भी छुट्टी पा सकती हैं। इन सब परिवर्तनों का नतीजा है—पारिवारिक शिथिलता, और, विवाह-परिपाटी की ओर उदासीनता। यह कहाँ तक उचित है!

पारिवारिक जीवन मानवी गुणों के विकास का साधन है। इसमें

नर और नारी एक दूसरे के लिए, और, दोनों अपने बच्चे के लिए, कष्ट उठाना और त्याग करना सीखते हैं। इससे आदमी इस योग्य हो जाता है कि वह समाज के व्यापक क्षेत्र में इन गुणों का का परिचय दे सके। इस विचार से एक पुरुष का एक स्त्री से और एक स्त्री का एक पुरुष से जितना स्थायी सम्बन्ध होगा, उतना ही वह उन दोनों के वास्ते, उनकी सन्तान के लिए, और समाज के लिए अधिक हितकर होगा। इसलिए पारिवारिक जीवन अच्छा माना जाता है। यह ठीक है कि बहुत से आदमी परिवार के मोह में ऐसे फंस जाते हैं कि वे उसकी सीमा से बाहर जाति, देश या संसार के हित का विचार नहीं करते। वे परिवार रूपी पाठशाला से ठीक शिक्षा नहीं लेते। इसमें सुधार होना चाहिए।

विवाह का मुख्य स्थूल उद्देश्य यह है कि पुरुष और स्त्री का जीवन सुखमय हो; वे दोनों सांसारिक जीवन में एक दूसरे के सच्चे सहायक और साथी रहें और एक दूसरे के विकास में मदद दें; साथ ही उनसे समाज को स्वस्थ और सुन्दर संतान प्राप्त हो। यद्यपि समय-समय पर पति-पत्नी के एक दूसरे के लिए अपूर्व प्रेम और त्याग के उदाहरण मिलते रहे हैं, परन्तु विवाह की किसी भी प्रथा को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो सुधार आवश्यक प्रतीत हों, वे होते रहने चाहिएँ। यहाँ कुछ मुख्य बातों की ओर ध्यान दिलाया जाता है—

१. लड़के और लड़की के भरण-पोषण और स्वास्थ्य तथा शिक्षा का भरसक विचार रहे।

२. अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कुछ विषयों की विशेष शिक्षा के अलावा, युवक और युवतियों का समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, गृहप्रबन्ध और सन्तान-शास्त्र की शिक्षा दी जाय।

३. स्त्रियाँ किसी ऐसे काम की भी शिक्षा प्राप्त करें, जिससे आवश्यकता होने पर वे स्वतंत्र रूप से अपनी आजीविका कमा सकें।

४. युवकों का लगभग २४ वर्ष में और युवतियों को लगभग १६

की उम्र में विवाह किया जाय। वर-वधू एक दूसरे के गुण कर्म स्वभाव से जितना परिचय प्राप्त कर सकें, उतना प्राप्त करें; इस विषय में वे माता पिता और गुरु जन के परामर्श से लाभ उठावें। जो युवक या युवतियाँ अविवाहित रह कर संयमी जीवन व्यतीत करना चाहें, वे वैसा करने के लिए स्वतंत्र हों।

[३]

अब सन्तान के बारे में विचार करें। विवाह और परिवार की तरह, सन्तान के सम्बन्ध में भी आदमी की धारणा समय-समय पर देश-काल के अनुसार बदलती रही है, और किसी-किसी समय कई एक धारणाएँ इकट्ठी भी मिलती रही हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि पुराने ज़माने में आबादी कम थी और उसके लिहाज से जमीन की बहुतायत थी। इस बात की ज़रूरत थी कि खेती आदि का काम करने के लिए जनसंख्या बढ़े। इधर स्त्री धीरे-धीरे घर के कामों में लगी रहने लगी, और उसके द्वारा आय या धनोत्पत्ति का काम कम होने लगा, इसलिए तथा कुछ अन्य कारणों से बहुत से समाजों में कन्या की अपेक्षा पुत्र की चाह बढ़ गयी। पुत्र सम्बन्धी पुरानी कल्पना की बहुत सी बातें अब बड़ी अजीब मालूम होती हैं और कुछ बातों की थोड़ी बहुत यादगार हमारी मौजूदा समाज-व्यवस्था में मिलती है। हिन्दू ग्रन्थों में बारह तरह के पुत्र बताये गये हैं—(१) अपनी स्त्री से, अपना ही पुत्र; (२) दूसरे उत्तम पुरुष द्वारा अपनी स्त्री से उत्पन्न, (३) धन देकर किसी दूसरे आदमी द्वारा अपनी स्त्री से उत्पन्न कराया हुआ पुत्र, (४) अपने मर जाने पर विधवा स्त्री से, दूसरे से उत्पन्न, (५) अपनी व्याही स्त्री से, उसके क्वारेपन में ही उत्पन्न, (६) मनमाना आचरण करनेवाली स्त्री से उत्पन्न, (७) गोद लिया हुआ, (८) ख़रीदा हुआ, (९) पाला हुआ, (१०) आप से आया हुआ, (११) गर्भवती स्त्री से व्याह करने पर, व्याह के बाद उत्पन्न, और (१२) नीच जाति की स्त्री से उत्पन्न अपना निज का पुत्र।

किस जगह पहले किस प्रकार के पुत्र को पुत्र माना गया, उसके

बाद क्रमशः क्या क्रम हुआ, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है, और साथ ही इसमें सभी जगह एकसी बात नहीं रही है। जो हो, अब हम सन्तान के भरण-पोषण आदि का विषय लेते हैं।

पहले कहा गया है कि मनुष्य का बच्चा पशुओं के बच्चों की अपेक्षा बहुत असहाय होता है। चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र से पहले वह स्वावलम्बी नहीं हो सकता। पीछे भी जब वह अपने भोजन, वस्त्र, मकान आदि की व्यवस्था करता है तो उसे दूसरों की सहायता की ज़रूरत होती है। उसका अकेले निर्वाह नहीं हो सकता। उसके भरण-पोषण और शिक्षण की बहुत ज़रूरत है। धीरे-धीरे यह अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा कि समाज के मुख्य आधार बालक ही हैं। अब उनकी विविध समस्याओं पर विचार किया जा रहा है—बच्चों को ज्यादहतर कौन-कौन सी बीमारियाँ होती हैं, उन्हें किस प्रकार दूर करना चाहिए; उनकी शारीरिक वृद्धि में की बाधाओं को कैसे हटाया जा सकता है, उनकी विविध शक्तियों का विकास किस तरह हो, उनकी आदतें शुरू से ही अच्छी कैसे हो, उनमें नागरिकता और सामाजिकता की भावना कैसे बढ़े, वे मनुष्य जाति के अच्छे अंग होकर, उसकी अधिक-से-अधिक सेवा और उन्नति करने योग्य कैसे बनें, इत्यादि। बाल मनोविज्ञान आदि विषयों का साहित्य बढ़ रहा है। जगह-जगह कई संस्थाएँ बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रयोग कर रही हैं। आशा है इन बातों का प्रचार बढ़ता रहेगा, और इस ज्ञान के उपयोग से भावी मनुष्य-संतान का बड़ा हित होगा।

हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस समय संसार के ज्यादातर बालकों की हालत संतोषजनक नहीं है। मामूली हैसियत के कितने ही घरों के बालक बहुत मैले कुचैले रहते हैं, उनके मुँह से लार टपकती रहती है, आँखों में और नाक में मैला भरा रहता है; मा बाप उसकी ओर काफी ध्यान नहीं देते। ऊँची श्रेणी के घरों में तो माताएँ बच्चों की सार-संभार का काम नौकर पर छोड़ देती हैं। कुछ औरतें तो अस्वस्थ्य होने के कारण अपने बच्चों को अपना दूध नहीं पिला सकतीं,

और कुछ इसलिए नहीं पिलातीं कि इससे उन्हें अपनी शक्ति या सौंदर्य घटने की आशंका होती है। ये औरतें अपनी संतान को दूध पिलाने के लिए धाय रख लेती हैं। मध्य श्रेणी के बहुत से घरों में बच्चों को नहलाने धुलाने में साबुन खूब लगाया जाता है, जेवर पहनाये जाते हैं; कपड़े ज़रूरत से ज़्यादह पहना दिये जाते हैं; मिठाई और मसालेदार चीज़ें खिलायी जाती हैं, लेमनज्यूस (नींबू के सत) और पीपरमेंट की गोलियाँ आदि चुसाई जाती हैं। इन सब बातों से बच्चों का स्वास्थ्य बहुत ख़राब रहता है। गरीब घरों में बच्चों के लिए ज़रूरी चीज़ों की कमी रहती है। इस तरह अमीर हों या गरीब, बच्चों का पालन-पोषण बहुत कम जगहों में अच्छी तरह होता है।

अब शिक्षा की बात लीजिए। सूक्ष्म या बारीक बातों को छोड़ दें; तो भी यह कितनी चिन्ता का विषय है कि इस ज़माने में आदमी अपनी सन्तान को इस योग्य भी नहीं बना पाता कि उसका निर्वाह अच्छी तरह हो सके। जानवर अपने बच्चों को अपनी-अपनी जाति का धंधा, कितना अच्छा और कितनी जल्दी सिखा देते हैं। आदमी इसी दुविधा में रहता है कि अपनी संतान को इस धंधे में लगाऊँ या उस धंधे में। समय गुजरता रहता है, और वह ठीक निश्चय ही नहीं कर पाता। इसका नतीजा यह है कि संसार में करोड़ों आदमी बड़ी उम्र के होकर भी बेकार हैं। इससे साफ़ जाहिर है कि हमारी शिक्षा-पद्धति में कितनी कमी है, और हमें कितनी प्रगति और करनी है।

आदमी की, अपनी संतान को शिक्षा देने की भावना बहुत स्वार्थ या खुदगर्ज़ी की है। वह उसे इसलिए पढ़ाता-लिखाता है कि संतान बड़ी होने पर उसकी सेवा और सहायता करे, उसे सुख पहुंचाए। मौजूदा समाज-व्यवस्था में आदमी को लड़की की अपेक्षा लड़के से अधिक सेवा और सुख की आशा होती है, इसलिए वह लड़के की शिक्षा के लिए अकसर उदारता का परिचय देता है, और लड़की की शिक्षा की अवहेलना करता है। यह स्वार्थ और भेद-भाव बहुत अनिष्टकारी है। जानवरों में यह नहीं होता;

वे अपनी पुत्री और पुत्र दोनों को एक निगाह से देखते हैं, और दोनों की शिक्षा के लिए समान रूप से उद्योग करते हैं। आदमी को अभी यह बात सीखनी है; जब तक वह इस बात को अच्छी तरह सीख कर पूरे तौर पर अमल में नहीं लाता, उसकी संतान सम्बन्धी प्रगति अधूरी है।

बहुत से विद्वानों का यह मत रहा है कि अगर जनता की वृद्धि नियमित रूप से न रोकी जाय तो गरीबी, महँगाई महामारी या युद्ध आदि होकर मृत्युसंख्या बढ़े बिना नहीं रहती। विज्ञान की उन्नति होने से यह बात अब उतनी सच्ची और भयानक नहीं रही, जितनी पहले थी; तो भी इस सिद्धान्त की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस समय कई देशों और जातियों का रुझान जनसंख्या बढ़ाने की ओर है। मिसाल के तौर पर हिन्दू पुत्र-प्राप्ति को धार्मिक कृत्य समझते हैं; इनके शास्त्र कहते हैं कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'। इनका विचार है कि बिना सन्तान के मरने पर आदमी को स्वर्ग या मोक्ष नहीं मिल सकता। यदि पुरुष के एक विवाह से सन्तान न हो तो उसे दूसरे विवाह के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हर एक कन्या के लिए तो विवाह लाज़मी है ही। ऐसे विचार उस पुराने जमाने में शुरू हुए थे, जब आदमी नयी भूमि में बस रहे थे, आबादी कम थी, और उसे बढ़ाने में फायदा था। अब वह बात नहीं रही। अब सन्तान बढ़ाने से मरने पर स्वर्ग मिलेगा, इसमें तो सन्देह ही है; हाँ, जीते जी नरक अवश्य मिल जायगा। इसलिए हिन्दुओं को तथा सभी गरीब देशों के आदमियों को पुराने विचारों में परिवर्तन करना चाहिए।

कुछ राष्ट्र साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से सन्तान बढ़ाने में सहायक हो रहे हैं। इटली, फ्रांस और जर्मनी आदि ने पिछले दिनों अपनी आबादी बढ़ाने की खास योजना रखी है। एक ओर तो ये देश आबादी बढ़ाते हैं, दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि हमें अपनी बढ़ी हुई आबादी के लिए उपनिवेश या अधीन देश चाहिए। इससे राष्ट्रों में अपनी-अपनी हुकूमत का विस्तार करने के लिए प्रतियोगिता और संघर्ष होता है, जिसका नतीजा हम नाशकारी महायुद्धों में देखते हैं।

इसलिए सन्तान-वृद्धि को जानबूझ कर प्रोत्साहन देना ठीक नहीं मालूम होता। एक दम्पति को एक-दो सन्तान होना ही बहुत है, और यदि न भी हो तो कोई बात नहीं।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए क्या-क्या उपाय काम में लाये जायँ, यह बहुत कठिन सवाल है, और इसमें मत-भेद भी है। एक पक्ष का कहना है कि संयम और ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त बहुत अच्छा अवश्य है, लेकिन यह सिर्फ ऊंचे विचार वालों के लिए ही हैं। सर्वसाधारण इस पर अमल नहीं कर सकते। उन्हें कृत्रिम उपायों से काम लेना चाहिए। खास तौर से आजकल के नवशिक्षित युवकों और युवतियों में कृत्रिम उपायों से 'सन्तान-निग्रह' की प्रवृत्ति बहुत बढ़ रही है। दूसरा पक्ष नैतिकता और धार्मिकता के आधार पर इसका विरोध करता है, और मन पर संयम रखने के कुदरती उपायों पर ही जोर देता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जहाँ-जहाँ कृत्रिम उपाय काम में लाये गये हैं, समाज को बहुत हानि उठानी पड़ी है और उठानी पड़ रही है।

जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने में नीचे लिखे उपायों से सहायता मिल सकती है—

(१) लोगों में ऐसे विचारों का प्रचार किया जाय कि रहनसहन का दर्जा ऊंचा करें, और संतान के लिए भी अच्छे मकान, अच्छे भोजन-वस्त्र और अच्छी शिक्षा का इन्तजाम करें। ऐसा करने वालों में सन्तान पैदा करने की इच्छा कम होती है।

(२) युवकों को उनकी जिम्मेवारी का ज्ञान कराया जाय, जिससे वे दूरदर्शी बनें और कई-कई अयोग्य, रोगी और कमजोर सन्तान पैदा करने के बजाय एक-दो अच्छी संतान पैदा करें।

(३) बालक बालिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, और उनके विवाह की उम्र बढ़ायी जाय, और एक खास उम्र के बाद विवाह रोक दिये जायँ। हिन्दुओं में गृहस्थाश्रम का समय पचीस वर्ष से लेकर पचास वर्ष निश्चित किया गया था। इतनी उम्र के बाद

सन्तान पैदा करना वर्जित था। इसके लिए समाज का वातावरण भी ठीक होना आवश्यक है—फैशन, शौकनी या विलासिता पर नियंत्रण रहना चाहिए।

(४) कमज़ोर, गरीब, और ऐसे शारीरिक या मानसिक रोग वाले आदमियों के विवाह नहीं होने चाहिएँ, जिनकी सन्तान स्वस्थ, और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

कुछ देशों में आबादी की समस्या ने बहुत उग्र रूप धारण कर रखा है, इसका एक कारण यह भी है कि कुछ राष्ट्रों ने अपनी थोड़ी सी आबादी के लिए बहुत ज़्यादा भूमि घेर रखी है। मिसाल के तौर पर आस्ट्रेलिया की सिर्फ सत्तर लाख जनता के लिए तीस लाख वर्ग मील भूमि रोकी हुई है, वहाँ विदेशियों के, खासकर रंगदार आदमियों के, आकर बसने पर कठोर प्रतिबन्ध है। अगर भारतवर्ष के हिसाब से देखें तो वहाँ नौ गुने (तरेसठ करोड़) आदमियों को रहने देना चाहिए। विश्व-हित की दृष्टि से राष्ट्रों की आबादी की विषमता दूर होनी चाहिए। और, यह विषमता हटने से आबादी की समस्या कुछ हद तक दूर होने की आशा है। इसके साथ ही, हरेक देश को अपनी जनसंख्या नियमित रखने, उसे बहुत अधिक न बढ़ने देने की ज़रूरत है। उसे सिर्फ अपना ही ख्याल न कर व्यापक मानव समाज की भलाई सोचनी चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

पुरुष और स्त्री का पद

शुरू में पुरुष शिकार करता, जंगली फलों को संग्रह करता, लड़ता और इन कामों के लिए औज़ार या हथियार बनाता था। स्त्री भी ये काम करती थी, या इनमें मदद देती थी। वह मज़बूत और फुर्तीली थी

और चतुर भी बहुत थी। खाना बनाना, कपड़ा तैयार करना, बर्तन या हथियार आदि बनाना, सब चीज़ों की सार-संभार करना—ये काम ज्यादहतर स्त्री ही करती थी। उस समय पुरुष और स्त्री में प्रायः समानता थी, स्त्री का दर्जा पुरुष की अपेक्षा कम न था।

पहले कहा जा चुका है कि जब पशु-पालन का कार्य होने लगा तो पशुओं पर पुरुष का अधिकार रहने लगा, इससे आर्थिक दृष्टि से समाज में पुरुष का पद कुछ ऊँचा समझा जाने लगा। परिवर्तन चक्र और आगे बढ़ा। खेती का काम चल निकला, अब पुरुष लड़ाई और शिकार के अलावा खेती में अधिक भाग लेने लगा। स्त्री घरू काम-धन्धों और कला कौशल में लगी रहती। पुरुष का काम परिश्रम का रहा, बाहरी कामों में उसका ही दखल रहा। स्त्रियों का काम सरल और कोमल हुआ, उनका अधिकार घर तक परिमित रहा। इससे समाज में पुरुष का स्थान स्त्री से ऊँचा हुआ। स्त्री का स्थान पुरुष से नीचा रहने का विशेष कारण उसका मासिक धर्म और गर्भ-धारण है। मासिक धर्म के अवसर पर स्त्री को कई दिन तक मेहनत का काम करने की रुचि तथा शक्ति नहीं होती। इस समय पुरुष पर ही सारे कार्य का भार और ज़िम्मेवारी रहने से स्वभावतः उसका अधिकार बढ़ा। फिर, गर्भधारण इसमें और भी सहायक हुआ। बच्चा जनने से कुछ समय पहले से लेकर कुछ समय बाद तक स्त्री को शिथिलता और कमज़ोरी मालूम होती है। शुरू ज़माने में यह समय कम होता था; ज्यों-ज्यों सभ्यता, आराम और विलासिता के साधन बढ़े, इस समय का परिमाण बढ़ता गया और स्त्री की शारीरिक दशा बहुत नाज़ुक होने लगी, वह कई-कई महीने विशेष शारीरिक काम करने या आजीविका कमाने में असमर्थ रहने लगी।* इसका परिणाम धीरे-

* गांवों में यह बात कम हुई है। हमारे गांव में, पिछली ही पीढ़ी की एक स्त्री की बात है; वह प्रसव के दिन तक अपना साधारण कार्य करती रही। प्रसव के दिन भी वह सदा की तरह खेत में गयी। वहाँ उसके बच्चा हुआ। उसने स्वयं ही अपनी तथा उस बच्चे की सार-संभार की, और थोड़ी देर में बच्चे को टोकरे में रख कर घर ले आयी।

धीरे उसकी आर्थिक हीनता या दासता में प्रकट हुआ।

पुराने जमाने में युद्ध का एक प्रमुख कारण स्त्री भी होती थी, जो घर गृहस्थी के कामों में बहुत उपयोगी साबित हो चुकी थी। युद्ध में स्त्रियों का भाग लेना कम होने पर, पुरुष अपना रक्षक होने के अलावा स्त्री का भी रक्षक होने लगा। इससे भी स्त्री का सामाजिक पद गिरने लगा। धीरे-धीरे एक बस्ती के आदमी आपस में मेलजोल से रहने लगे; लड़ाई झगड़े कम हुए। लेकिन इस समय तक पुरुष बलवान और श्रेष्ठ बन चुका था। वह स्त्री का स्वामी बना। फिर, बहुत सी स्त्रियाँ दूसरे कबीलों वा गांवों से लड़कर लायी जाती ही रहीं। योद्धाओं, सेना-पतियों, सरदारों या राजाओं के यहाँ कई-कई स्त्रियाँ होती थीं। यह बात स्वभावतः स्त्री का पद गिराने वाली हुई।

साधारणतया विवाह-प्रथा उससे पहले की दशा में सुधार की ही बात थी। बहुत से स्थानों में पति-पत्नि का सम्बन्ध प्रेम और समानता का रहा। पुरुष स्त्री को अपने से कम दर्जे का नहीं समझता था; गृहस्थ तथा समाज सम्बन्धी सब विषयों में उसकी सम्मति से काम करता था। कई धार्मिक कामों में स्त्री का सहमत होना अनिवार्य था। बहुत सी दशाओं में स्त्रियों का प्रभाव इतना अधिक था कि उनके ही नाम पर वंश चलता था। कई जगह इन बातों को याद दिलाने-वाले रीति-रिवाज अब भी पाये जाते हैं। लेकिन धीरे-धीरे कितनी ही दशाओं में पुरुष की प्रभुता मानी जाने लगी। स्त्री उसके अधीन समझी जाने लगी—बचपन में पिता के अधीन, युवावस्था में पति के अधीन, और बुढ़ापे में पुत्रों के अधीन। स्त्री बेचने, गिरवी रखने, जुए में दाव पर लगाने आदि की चीज हो गयी। उसका जीवन कुछ कुछ दासी का सा हो गया।

इस बात के प्रमाण-स्वरूप प्रायः सभी देशों के धार्मिक और नैतिक ग्रन्थों के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं, और कितने ही कानूनों का उल्लेख किया जा सकता है। अनेक दशाओंमें अच्छे-अच्छे विद्वानों और विचारशीलों ने भी स्त्रियों के बारे में अपमानजनक बातें

लिखी हैं। इससे जाहिर है कि आम तौर से समाज में स्त्री का पद पुरुष से बहुत नीचा हो गया, यहाँ तक कि जिन दार्शनिकों ने दूसरी बातों में समाज को अच्छा रास्ता दिखाया, वे भी इस विषय में अपने समय के वातावरण या विचारों से बच न सके। स्त्रियों का पर्दे में रहना या घूंघट करना, इसी शोचनीय स्थिति का परिणाम है। आधुनिक सभ्यता में यह कम होता जा रहा है। पर्दा प्रथा हटने से स्त्रियों का स्वास्थ्य सुधरेगा, उनमें साहस बढ़ेगा और उन्हें रोजमर्रा के बहुत से काम करने की सुविधा होगी। पर मूल प्रश्न यह है कि स्त्री का पद व दर्जा कैसे ऊंचा किया जाय, उसकी हीनता कैसे दूर की जाय।

एक विचारधारा यह है कि प्रत्येक स्त्री को अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धन पैदा करने योग्य होना चाहिए। वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी जीवन बिता सके। इसलिए उसकी शिक्षा दीक्षा ऐसी हो कि वह पुरुष की अधीनता स्वीकार किये बिना भी, स्वतन्त्रता पूर्वक अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सके। परावलम्बी और परोपजीवी अपनी उन्नति नहीं कर सकते, और उन्हें काफी आदर-मान भी नहीं मिल पाता।

यों तो कहीं-कहीं पहले भी कुछ स्त्रियाँ ऐसी होती थीं, जो विवाह नहीं करती थीं, या किसी कारण नहीं कर सकती थीं। उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ-न-कुछ धंधा करना ज़रूरी होता था। वे पहले यह धन्धा अकसर अपने घर में रहते हुए ही किया करती थीं। लेकिन मशीनों का प्रचार, खासकर सूत कातने और कपड़ा बुनने का काम बढ़ने पर स्त्रियों ने कारखानों में काम करना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे कितने ही धन्धे ऐसे हो गये, जिनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक काम करने लगीं। कहीं-कहीं इसमें कुछ बाधाएँ भी आयीं, पर उनके होते हुए भी स्त्रियों का कार्यक्षेत्र बढ़ता ही रहा है, खासकर योरप और अमरीका में। अमरीका में प्रायः सभी संस्थाओं और क्षेत्रों में स्त्रियाँ काम करती हैं, यहाँ तक कि कुछ काम ज्यादातर स्त्रियों के ही अधिकार में हैं। वहाँ स्त्री पुरुष की बराबरी इंगलैंड आदि के मुकाबले अधिक

मानी जाती है। तो भी इस समानता को पूरी तरह अमल में लाया जाता है, सोवियट रूस में। वहाँ स्त्रियों के वेतन, और व्यवहार आदि आदि में कोई भेद-भाव नहीं माना जाता; और वे बड़ी-बड़ी जिम्मेवरी के पदों पर भी काम करती हैं।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में स्त्रियों के युद्ध में भाग लेने और राजप्रबन्ध तथा शास्त्रार्थ करने आदि के अनेक उदाहरण हैं। पर बीच के समय में ज्यादातर स्त्रियों को घर से बाहर की दुनिया की कुछ खबर न रही। बीसवीं सदी के आरम्भ तक वे अधिकतर घर में, और बहुत कुछ पर्दे में, रहनेवाली थीं। गाँधी-युग में उन्होंने करवट बदली। सत्याग्रह-संग्राम ने उनकी खोयी हुई शक्तियों को जगाया। उन्होंने पर्दा छोड़ा और पुरुष के साथ राष्ट्रीय कार्यों में भाग लिया; जेल-यात्रा और लाठी-मार तक सही। यह ठीक है कि अभी निर्भीकता और साहसपूर्वक नागरिक या राष्ट्रीय काम करनेवाली स्त्रियों की संख्या बहुत कम है, लेकिन जो लहर चलनी शुरू हुई है; वह आगे-आगे बढ़ती ही जायगी। जो बात यहाँ भारतवर्ष के सम्बन्ध में कही गयी है, वह थोड़े-बहुत परिणाम में एशिया के अन्य देशों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, आर्थिक स्वतन्त्रता, सामाजिक और राजनैतिक समानता का भाव चहुँओर फैलता जा रहा है। अमरीका के सुप्रसिद्ध कवि वाल्ट ह्विटमेन ने अपनी एक कविता में स्वतन्त्र नारी का स्वरूप बताया है। उसकी स्वतंत्र नारी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, पुरुष की बराबरी करती है, वह तैरती है, घोड़े पर सवार होती है, कुश्ती लड़ती है, बन्दूक चला सकती है, अत्याचारी को मार सकती है, पुरुष की किसी भी सहायता के बिना अपनी रक्षा कर सकती है और किसी प्रकार की सामाजिक तथा धार्मिक दासता स्वीकार नहीं करती। भावी महिला का यह चित्र विशेष रंगा हुआ नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान युद्ध ने स्त्री के विचारों में विलक्षण परिवर्तन कर दिया है। वे यह अनुभव करती हैं कि आजकल युद्ध भी मानव जीवन का एक खास अंग बन गया है, जब तक हम युद्धों में काफी भाग न लेंगी,

हमारी समानता सर्वमान्य न होगी। इस लिए अब अधिकाधिक स्त्रियाँ युद्ध के दफ़्तरों, जासूसी, युद्ध-सामग्री पहुँचाने आदि में बहुत भाग ले रही हैं। यही नहीं, कितनी ही स्त्रियाँ युद्ध में हथियारों और यंत्रों से लड़ने में भी पुरुषों से टक्कर ले रही हैं। पुरुष से बराबरी करने की भावना कहाँ तक प्रबल है, इसका कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि पिछले दिनों अमरीकन स्त्रियों ने इस बात में अपना अपमान समझा है कि ट्रामों और 'बसों' में पुरुष अपनी 'सीट' (बैठने की जगह) से उठकर महिलाओं को स्थान देते हैं। उनका कहना है कि हम पुरुषों से बराबरी करने के लिए कटिबद्ध हैं, ऐसी अवस्था में पुरुष जब हमारे लिए जगह खाली करते हैं तो हमें ऐसा मालूम होता है कि वे हमें अबला और असहाय मान कर हम पर कृपा करते हैं। हमें यह नहीं चाहिए। हम में अपने लिए स्थान बनाने की सामर्थ्य है, और यदि स्थान न मिले तो हम पुरुषों की तरह खड़ी-खड़ी भी जा सकती हैं। हम पुरुषों की दया का पात्र होना नहीं चाहतीं; हम तो प्रसंग आने पर पुरुष को अपनी दया का पात्र बनाना चाहती हैं।

यह तो सार्वजनिक व्यवहार की बात हुई। इसी तरह स्त्रियों में यह विचार-धारा भी बढ़ती जा रही है कि क्योंकि गृहस्थ जीवन में स्त्री का पद पुरुष से नीचा रहता है, इसलिए परिवार-प्रथा को हटा देना या उसका बन्धन कम कर देना चाहिए। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

स्त्री मनुष्य समाज का वैसा ही आवश्यक अंग है, जैसा पुरुष। इसलिए स्त्रियों की उन्नति करना, और उनके उत्थान की सब बाधाओं को हटाना बहुत जरूरी है। परन्तु पुरुषों और स्त्रियों की अधिकार सम्बन्धी लड़ाई उचित नहीं है। मनुष्य जाति के हित के लिए दोनों को ही अपने-अपने कर्तव्य पालन करने चाहिएँ। इस विषय में कुछ मूल बातों का ध्यान रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष में कुछ भेद प्राकृतिक या कुदरती ही हैं। यहाँ सब भेदों की चर्चा न कर एक ही उदाहरण दिया जाता है। रजस्वला होने, गर्भ धारण करने, सन्तान

पैदा करने और उसका पालन पोषण करने के काम स्त्री को ही करने होते हैं। आधुनिक विज्ञान ने इन कामों का भार कुछ हल्का कर दिया है; भविष्य में इनके और भी हल्का होने की आशा है। पर इससे मूल बात में फरक नहीं आता। इन कामों को करने की दशा में स्त्री कमजोर होती है, और उसे कुछ सुविधाओं या रियायतों की ज़रूरत होती हैं जो उसे समाज-हित, यानी स्त्री और उसकी सन्तान की भलाई, के विचार से उसे दी जाती हैं। अगर स्त्री का पद पुरुष के समान हो, तो विशेष सुविधाओं या रियासतों की बात ही न रहे।

यह तो शारीरिक भेद की बात हुई। इसी तरह मानसिक भेद का विचार किया जा सकता है। स्त्रो के स्वभाव की चंचलता, या अस्थिरता सब जानते हैं। युवावस्था में स्त्री के स्वभाव में यह बात बहुत अधिक होती है। और, उसके होते हुए वह समाज के शासन-प्रबन्ध आदि का कार्य अच्छी तरह नहां कर सकती। इसलिए साधारण स्त्री का पुरुष से पूर्ण समानता का दावा करना ठीक नहीं है। हाँ, जिन स्त्रियों में पुरुषों के काम करने की रुचि हो, उन्हें उसकी योग्यता हासिल करने की सब सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। पुरुष का कर्तव्य है कि स्त्री के विकास में भरसक सहायता दे। इस तरह जब पुरुष और स्त्री दोनों समाज-हित की दृष्टि से अपना कर्तव्य पालन करेंगे और एक-दूसरे के योग्य साथी बनेंगे, तभी मनुष्य जाति की प्रगति का कार्य यथेष्ट रूप से होगा।

एक बात और। इतनी उन्नति करने पर आदमी अभी तक युद्ध से अपना पिण्ड नहीं छुट सका है। और, युद्ध ऐसी बात है जिससे स्त्रियों का दर्जा गिर जाता है। बात यह है कि युद्ध में पाशविकता, निर्दयता, क्रूरता और कठोरता से ही सफलता मिलती है। उसमें दूसरों से सहानुभूति, दया, और प्रेम आदि ऐसे गुणों से घृणा की जाती है, जो स्त्रियों में स्वभाव से ही विशेष रूप में होते हैं। यह ठीक है कि समानता और स्वतंत्रता प्राप्त करने के जोश में आकर कुछ स्त्रियाँ हथियारों से लड़ने में भी पुरुषों से टक्कर लेती हैं, लेकिन कुल

स्त्रियों के हिसाब से इनकी संख्या बहुत ही कम है। और, साधारण स्त्रियों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर निर्दयता और हिन्सा आदि में आगे बढ़ें। इस लिए जब तक युद्ध बने रहेंगे, स्त्रियों का दर्जा नीचा ही रहनेवाला है। एक बात और भी। युद्ध में आदमी ही ज़्यादह मरते हैं, इससे युद्ध के बाद स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बहुत अधिक हो जाती है। इसका नतीजा यह होता है, कि समाज में उनका मूल्य कम हो जाता है। इस तरह भी युद्ध स्त्रियों का दर्जा गिराने वाला होता है। जो विचारशील सज्जन समाज में स्त्रियों का पद ऊंचा उठाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि दूसरी बातों के साथ, युद्धों को बन्द करने का बीड़ा उठावें।

उन्नीसवाँ अध्याय

कृत्रिम आवश्यकताएँ

पहले कहा जा चुका है कि आदमी ने शुरू में शरीर को ढकने, वृक्षों की छाल या पत्ते आदि पहिनने का, काम इतना सर्दी गर्मी से बचने के लिए नहीं किया, जितना शरीर को सजाने के विचार से किया। इस तरह आदमी ने उस समय भी कुछ काम ऐसे किये, या चीजों का ऐसा उपयोग किया, जिसका उद्देश्य जीवन-निर्वाह नहीं था। पीछे, जब आदमी धीरे-धीरे खेती करने लग गया तो उसे अपनी कुदरती ज़रूरतें पूरी करने से कुछ फ़ुरसत मिली। अब उसका ध्यान दूसरी बातों की तरफ़ जाने लगा। उसकी ज़रूरतें बढ़ने लगीं। भोजन भरपेट पा लेने पर वह यह चाहने लगा कि मैं अच्छा, जायकेदार, कई-कई तरह का खाना खाऊँ। वह मकान और कपड़ों के लिए अधिक कोशिश करने लगा; फिर इन चीजों को भी ऐसी चाहने लगा कि बढ़िया, सुन्दर या अधिक आराम देनेवाली हों। आदमी स्वभाव से असंतोषी

है। उसकी जरूरतों की कोई सीमा नहीं। उसकी एक ज़रूरत पूरी हुई, तो दूसरी उसके सामने आ खड़ी हुई। आवश्यकताएँ चीजों के परिमाण में भी बढ़ीं और उनके गुण या भेदों (किस्मों) के रूप में भी।

आदमी की एक इच्छा यह होती है कि मैं अपनी जाति बिरादरी या समाज में दूसरों से ऊंचा या अच्छा दिखायी दूँ। यही फैशन, शृंगार या आडम्बर की भावना है। पहले कुछ खास-खास आदमियों ने अपना बड़प्पन दिखाने के लिए अपना साज़ोसामान बढ़ाया, उनकी देखादेखी दूसरे आदमियों ने भी वैसा ही करने की कोशिश की। होते-होते समाज के बहुत से आदमी कितनी ही ऐसी चीजों का उपयोग करने लगे, जिनकी उन्हें असल में ज़रूरत न थी, जिनकी आवश्यकता कृत्रिम या दिखावटी थी।

आदमी की बहुत सी ज़रूरतें उसकी आदत के कारण भी हो गयीं। पहले किसी आदमी ने एक चीज का संयोग से, किसी विशेष कारण से, विशेष परिस्थिति में, अथवा शौकिया किया। उस समय उसका काम उसके बिना भी मज़े में चलता था। पर कुछ समय तक बराबर उसका उपयोग करते रहने पर उसे उसकी आदत पड़ गयी। उसे देखकर दूसरे आदमी भी उसका उपयोग करने लगे; धीरे-धीरे उनको भी उसे उपयोग करने की आदत हो चली, पीछे जाकर इन आवश्यकताओं का ऐसा ही स्थान बन गया, जैसा जीवन-रक्षक पदार्थों की आवश्यकताओं का होता है। इस तरह फैशन, रिवाज और आदतों ने भी हमारी बहुत सी ज़रूरतें बढ़ा रखी हैं। कुछ उदाहरणों से हमारी बढ़ी हुई ज़रूरतों की बात साफ हो जायगी।

भोजन की बात लीजिए। पहले एक अध्याय में बताया जा चुका है कि आदमी बहुत सी चीजों को खाने में यह लक्ष्य नहीं रखते कि उनसे भूख प्यास मिटेगी, और शरीर की पुष्टि होगी। वे उन चीजों को इस लिए खाते हैं कि या तो वे उन्हें स्वाद लगती हैं, या उनके खाने से समाज के दूसरे आदमी उन्हें बड़ा या प्रतिष्ठा वाला मानते हैं। इस

तरह कितनी ही चीजें ऐसी खायी जाती हैं, जिनसे शरीर को कोई लाभ नहीं होता, वरन् नुकसान ही होता है। कुछ आदमी तो इस नुकसान की बात को जानते नहीं; पर जो जानते हैं, वे भी उन चीजों से परहेज नहीं करते। कितने ही गरीब आदमी भी बिना जरूरत पान, तमाखू, चाय, भांग, शराब आदि का सेवन करते हैं, फिर धनवानों का तो कहना ही क्या! वे जीवित रहने के लिए नहीं खाते, बल्कि खाने के लिए जीवित रहते हैं।

धनवानों के खाने-पीने की चीजें दर्जनों होती हैं, उन चीजों को परसने के लिए थाल, तशतरी, कटोरी, थाली, गिलास आदि भी दर्जनों ही चाहिए। 'सभ्य' आदमी अब खाना खाने के लिए अपनी अंगुलियों का सीधा उपयोग करना नहीं चाहते। भारतवर्ष आदि देशों में बहुत से आदमी चम्मच से काम लेते हैं, और योरप में छुरी कांटे से। कांटे का इस्तेमाल बहुत पुराने समय का नहीं है। मालूम हुआ है कि इंगलैंड की आम जनता में कांटे का प्रचार सन् १७८० के पहले तक नहीं हुआ था। योरप में व्यापक रूप से कांटे का प्रचार सन् १८४७ में हुआ, जब मशहूर जर्मन क्रुप्स ने अपने कारखाने में कांटे बड़े पैमाने पर बनाये। कांटे और छुरी आदि का उपयोग इस लिए शुरू हुआ कि भोजन में अंगुलियों और खासकर नखों का मैल न मिले। चम्मच से यह भी फायदा है कि भोजन की पतली या बहने-वाली चीज़ें फैलती नहीं। पीछे जाकर छुरी कांटे आदि फैशन के तौर पर इस्तेमाल होने लगे; मूल उद्देश्य प्रायः भुला दिया गया। कुछ लोगों का मत है कि 'छुरी, कांटे का व्यवहार असल में एक बर्बर प्रथा है। दक्षिणी समुद्र के टापुओं के निवासी बहुत पहले से भोजन के समय कांटों को काम में लाते रहे हैं। पर वे कांटे का उपयोग तब करते थे, जब उन्हें नरमांस खाना होता था। उनके धर्म में नरमांस को उंगलियों से खाने का निषेध किया गया था।'*

---

* 'साप्ताहिक भारत'

इसी तरह का एक उदाहरण कोट के आस्तीन में बटन लगाने का है। कहा जाता है जर्मनी के राजा फ्रेडरिक महान ने देखा कि उसके बहुत से सिपाही कोट की आस्तीन से नाक साफ करते हैं। उनकी यह गन्दी आदत छुड़ाने के लिए उसने कोटों के आस्तीनों में बटन लगाए जाने की आज्ञा ज़ारी कर दी। फ्रेडरिक का उद्देश्य पूरा हो गया। सिपाहियों की गंदी आदत छूट गयी। लेकिन कोट की आस्तीन में जो बटन लगाने का रिवाज चला, उसे जनता ने फैशन के रूप में अपनालिया। वह अभी तक बना हुआ है, हालांकि अब उसकी कोई ज़रूरत नहीं है।

पहले कहा जा चुका है कि आदमी में कपड़ा पहनने की भावना का मूल यह रहा है कि उसे अपने बदन को सजाने की इच्छा थी। जंगली या देहाती जीवन वाले अकसर ऐसे आदमी मिलते हैं, जो कपड़ा नाम-मात्र का पहने होते हैं, और फूलों या बीजों आदि से अपने लिए आभूषण बनाने में लगे होते हैं। वर्तमान काल में भी अनेक आदमी ऐसे मिलते हैं जो अपने खाने की अपेक्षा कपड़े की तरफ ज्यादह ध्यान देते हैं। वे कह दिया करते हैं कि हम कैसा खाना खाते हैं, यह तो हमें ही मालूम होता है, इसलिए इसमें भरसक किफायत करने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन कपड़ा तो अच्छा होना ही चाहिए, वह दूसरों के देखने में आता है। उससे समाज में हमारा स्थान बनता है।

इसी तरह साधारण ग्रामीण जीवन बितानेवालों में भी कितने ही आदमी भोजन और कपड़े दोनों में कमी करके भी आभूषण या जेवर पहना करते हैं; और, यह शौक ऐसा है कि कभी पूर्ण रूप से पूरा होने में नहीं आता; हमेशा कुछ और की ज़रूरत बनी रहती है। इसमें कितनी आर्थिक हानि होती है, उसका तो ज़िक्र ही क्या, जबकि इसके पूरा करने के लिए शरीर-रक्षा और शिक्षा आदि की भी उपेक्षा की जाती है। और, धनवानों को तो आभूषण से होनेवाली आर्थिक हानि की कुछ परवाह ही नहीं होती; उनका समय और है ही किस काम के लिए! अपने शरीर का शृङ्गार और सजावट करना उनका एक मुख्य

कार्य है। 'क्रीम', पाउडर, सुगंधित तेल फुलेल, इत्र आदि लगाना, उनकी दिनचर्या का महत्वपूर्ण अंग है; इसके बिना उन्हें घर से बाहर आना अच्छा नहीं लगता। औरतें तो इसके लिए और भी प्रसिद्ध हैं। चेहरे की खूबसूरती बढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं, मिसाल के तौर पर होठों को लाल करने के लिए जहाँ बहुत से आदमी पान खाते हैं, खासकर पश्चिमी स्त्रियाँ 'लिप-स्टिक' काम में लाती हैं। आदमी की शौकीनी, फैशन या विलासिता के ये कुछ उदाहरण मात्र हैं।

अब एक दूसरी तरह की आवश्यकताओं का विचार करें। प्रारंभिक दशा में आदमी को भूत-प्रेत आदि अदृष्ट या काल्पनिक शक्तियों का बड़ा भय रहता है। उसे यह आशंका रहती है कि उसके देवी देवता न-मालूम उसे क्या कष्ट दे डालें। इसलिए वह उन्हें प्रसन्न रखने के उपाय किया करता है; उन्हें तरह तरह की भेंट चढ़ाता है, और कुर्बानी करता है। इस तरह वह भोजन वस्त्र की ऐसी सामग्री को, जिसकी उसे खुद अपने लिए ज़रूरत होती है, देवी देवताओं के लिए खर्च करता है। मनुष्य का यह संस्कार अब भी बना हुआ है, कितने ही आदमी यज्ञ और हवन आदि में घी, मिठाई, अन्न, आदि बहुत सा सामान इस विचार से खर्च करते हैं कि इससे वर्षा होगी, या भगवान प्रसन्न होकर कृषि आदि की पैदावार बढ़ावेगा। बड़े-बड़े यज्ञ और हवन मँहगायी और अकाल के समय में भी होते हैं कभी-कभी तो ऐसे समय में वे और भी अधिक किये जाते हैं। यह ठीक है कि इनके करने में ज्यादह हिस्सा उन लोगों का होता है, जिनके पास खाने-खर्चने को खूब होता है, लेकिन कितने ही ऐसे गरीब लोग भी इसमें भाग लेते हैं, जिनके पास अपने गुजारे के लिए भी काफी सामान नहीं होता।

इससे ज़ाहिर है कि कुछ दशाओं में आदमी अपनी विलासिता, शौकीनी या 'धार्मिक' आवश्यकताओं को अपनी जीवन-रक्षक आवश्यकताओं के बराबर ही नहीं, उनसे भी अधिक महत्व देता है। निदान,

आदमी की ये आवश्यकताएँ नित्य बढ़ती रहती हैं, इनका कहीं अंत नहीं। आजकल आदमी ने इन आवश्यकताओं को बढ़ाना ही सभ्यता का लक्षण मान रखा है। आधुनिक उन्नत और सभ्य आदमी के घर के कुल सामान की फहरिस्त बनायी जाय तो सहज ही मालूम हो जाय कि हम आजकल कितनी ऐसी चीज़ों का इस्तेमाल करते हैं, जो शरीर-रक्षा या जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक नहीं है, और जिनके बिना भी हमारा काम मज़े से चल सकता है। हम प्राकृतिक या सादे रहन-सहन से दूर होते जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, हम बीमार रहते हैं, और थोड़ी उम्र पाकर ही मर जाते हैं। इस विषय में दूसरी जगह खुलासा लिखा गया है।

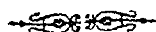
आवश्यकताओं के बढ़ने का एक बुरा नतीजा और भी होता है। जब आवश्यकताएँ बहुत बढ़ जाती है तो आदमी जैसे-बने उन्हें पूरी करने की कोशिश करता है। उसे दिन रात इसी बात की फिक्र रहती है। बहुत से आदमी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनी सामर्थ्य या हैसियत से ज्यादह खर्च कर देते हैं, उन्हें कर्जदार हो जाना पड़ता है और उनका कर्ज़ा धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। इससे उनका जीवन बहुत दुखमय बीतता है। कुछ हालतों में यह भी होता है कि आदमी अपनी बढ़ी हुई ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अधिक धन पैदा करना चाहता है; और, अगर अच्छे ईमानदारी के कामों से, और सदाचार के पालन से, उसकी आमदनी नहीं बढ़ती तो वह तरह-तरह के अनैतिक या अरुचिकर उपायों की शरण लेता है, वह कुमार्ग में चलता है। समाज में बहुत सी बेईमानी, छल-कपट, रिश्वत और घूस आदि का कारण आदमियों की ग़रीबी के अलावा यह भी होता है कि उनकी ज़रूरतें बहुत अधिक बढ़ी हुई होती हैं। इससे साफ ज़ाहिर है कि आवश्यकताएँ कम करने की, सादा जीवन बिताने की, कितनी आवश्यकता है। हमारा मतलब यह है कि आदमी जीवन-रक्षक पदार्थों का तो सेवन करने के अलावा ऐसी ही चीज़ों का उपयोग करे,

जिनसे उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा योग्यता बढ़े; वह अपनी साधारण आवश्यकताओं को खुद ही अच्छी तरह पूरा कर सके, उसे किसी दूसरे के आश्रित या कर्ज़दार न होना पड़े, और न अनैतिक या अपनी प्रकृति के विरुद्ध काम करने को विवश होना पड़े।

आवश्यकताओं के नियन्त्रण की जो बात कही गयी है, वह खासकर भौतिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। यों आदमी का स्वभाव ही है कि अवकाश के साथ-साथ उनकी नयी-नयी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। आदमी को चाहिए कि वह अपने विकास और लोकसेवा के कार्यों में अपनी रुचि बढ़ावे और, इनमें अपनी शक्ति लगावें। इस विषय में यहाँ विशेष विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में यही कहना है कि 'सादा जीवन और उच्च विचार' का आदर्श रखते हुए आदमी अपनी प्रगति करने के साथ-साथ मनुष्य जाति की प्रगति में बहुत भाग ले सकता है, और उसे लेना चाहिए।

बीसवाँ अध्याय

रिवाज और लोकमत



पिछले अध्याय में कृत्रिम आवश्यकताओं के बारे में लिखा गया है। हमारी बहुत सी कृत्रिम आवश्यकताओं का कारण यह होता है कि समाज में उनका रिवाज या चलन होता है, लोकमत उनके पक्ष में होता है। रिवाज और लोकमत का वैसे भी सामाजिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है; और, इनमें समय-समय पर देशकाल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इस अध्याय में इनके बारे में विचार कर लिया जाय।

सामाजिक पशु अपने-अपने समूह में एक खास ढङ्ग का व्यवहार करते हैं। भेड़ अपने गिरोह में इकट्ठी चलती हैं, यहाँ तक कि 'भेड़-

चाल' शब्द ही प्रचलित हो गया है। एक-एक तरह के पक्षी एकसाथ उड़ते हैं, कोई अपने झुंड से अलग रह कर अकेला नहीं उड़ता। इसी तरह आदमी भी शुरू में अपने समूह के आदमियों के साथ रहता हुआ दूसरों की तरह व्यवहार करता था। एक समूह में कुछ खास बातों का चलन या रिवाज होता था। उस समूह के आदमी उन बातों को बिना सोचे-विचारे ही करते थे। वे स्वतंत्र विचार करके किसी रिवाज के विरुद्ध काम करने का साहस नहीं करते थे। उस समय उनमें इतनी योग्यता या क्षमता भी नहीं थी कि स्वतंत्र विचार कर सके। इस तरह आदमी का रहनसहन और व्यवहार बहुत समय तक स्थानीय रिवाज के अनुसार, एक खास ढङ्ग का बना रहा। कहीं कहीं कुछ विशेष कारणों से किसी-किसी बात में परिवर्त्तन हुआ। इस समय भी सभी जगह थोड़े बहुत रिवाज जारी हैं।

पहले एक आदमी का सम्बन्ध अपने पास के थोड़े से ही आदमियों से होता था। एक गाँव के आदमियों का पास के दूसरे गाँवों से हेलमेल कम रहता था, दूर के रहनेवालों से तो और भी कम। इस तरह जगह-जगह के रिवाजों में बहुत फरक होता था। थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही रिवाज जुदा-जुदा थे। धीरे-धीरे दूर-दूर के आदमियों को आपस में मिलने-जुलने की सुविधाएँ और साधन बढ़े। एक जगह के आदमियों ने कुछ रिवाज दूसरों के लिये, और कुछ रिवाज दूसरों को दिये। कुछ रिवाजों का चलन धीरे-धीरे कम होकर, उठ ही गया, और कितने ही रिवाज नये भी बनते रहे। ज्यों-ज्यों दूर-दूर के लोगों का एक-दूसरे से सम्बन्ध और सम्पर्क बढ़ा, रिवाजों का क्षेत्र बढ़ने लगा; एक रिवाज दूर-दूर तक फैलने लगा। इस तरह कुछ रिवाज देश या जाति भर में जारी हो गये।

साधारण आदमी पुरानी बात से चिपटा रहना चाहता है। नयी बातों को वह आशङ्का की दृष्टि से देखता है। उसे यह ख्याल रहता है कि पुरानी बातें अच्छी ही हैं, अगर वे अच्छी न होतीं तो समाज में प्रचलित कैसे होतीं। इस प्रकार वह उनकी उपयोगिता आदि

का विशेष विचार न कर श्रद्धा या विश्वास के आधार पर ही उन्हें मानता और पालता है। इस लिए समाज में जब विशेष कारणों से एक बार कोई रिवाज चल पड़ता है तो पीछे उन कारणों के न रहने पर, और परिस्थिति बदल जाने पर भी वह रिवाज बहुत समय तक चलता रहते हैं। भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं कि पिछली शताब्दियों में कुछ खास कारणों से यहाँ कन्यावध, सती-प्रथा और बाल-विवाह आदि के रिवाज जारी हुए तो वे इस जमाने तक, अनावश्यक और हानिकर होते हुए भी, बने रहे। हाल में ये बातें कानून से बन्द की गयीं; पर अभी तक भी कुछ आदमी कानून से बच कर बाल-विवाह आदि करते ही हैं। चीन में बहुत समय तक औरतों को तङ्ग और सख्त जूते पहनाने का रिवाज रहा, जिससे उनके पाँव छोटे ही रहें, बढ़ने न पावें; वहाँ पाँव का छोटा होना खूबसूरती की निशानी समझी जाती थी। योरप, अमरीका में पहले गुलामी का बड़ा जोर रहा, अब भी गौरांग जातियों में रङ्गदार आदमियों को अनादर और अपमान की निगाह से देखा जाता है, और हबशियों और रेड इंडयनों आदि मूल निवासियों से क्रूरता का व्यवहार किया जाता है।

हर समाज में तरह-तरह के बहुत से रिवाजों का चलन होता है। यह ज़रूरी नहीं कि सभी रिवाज बुरे हों, कुछ रिवाज अच्छे और उपयोगी भी हो सकते हैं, और होते हैं। हिन्दुओं में हर रोज सवेरे शौच आदि से निपटने और स्नान करने का रिवाज है, स्कूलों में रविवार की, और पुरानी शिक्षा-संस्थाओं में अष्टमी, पूर्णमाशी और अमावश्या आदि की छुट्टी का रिवाज है, सड़कों पर प्रायः बायीं तरफ चलने का रिवाज है। यदि ऐसे रिवाजों की अवहेलना की जाय तो बहुत हानि हो। हाँ, यह याद रखना आवश्यक है कि अच्छे-अच्छे रिवाजों का भी दुरुपयोग हो सकता है, और कोई रिवाज सभी देश-कालों के लिए उपयोगी नहीं होता।

कुछ रिवाज तो बहुत ही हानिकर होते हैं। और, कभी-कभी किसी समाज में रिवाजों का प्रचार इतना अधिक हो जाता है कि आदमी

उन्हें जीवन के मुख्य प्रश्नों से भी अधिक महत्व देने लगते हैं। उदाहरण के लिए बहुत से भारतवासियों में विवाह सम्बन्धी विविध रिवाज इतने अधिक और व्यय-साध्य हो गये हैं कि आदमियों की बहुत सी शक्ति, धन और समय उनमें ही चला जाता है। कुछ समय से सुधार होने लगा है, तो भी अकसर जब किसी विवाह की बात होती है तो घर वाले महीनों पहले यह सोचा करते हैं कि जेवर कैसे-कैसे होने चाहिएँ, कपड़े किस तरह के और कितने तैयार कराये जाने चाहिएँ, बरात में कितने आदमी लेजाने होंगे, प्रीति-भोज में कितनी और क्या-क्या मिठाई आदि बनेंगी, किन-किन रिश्तेदारों और मित्रों को निमंत्रित करना ठीक होगा, और उनके स्वागत-सत्कार और विदाई आदि की क्या व्यवस्था की जायगी। अकसर जिस आदमी को आगे पीछे चार-पाँच लड़के लड़कियों के विवाह करने होते हैं, उसका जीवन भर का मुख्य काम यही हो जाता है कि इन विवाहों सम्बन्धी विविध रिवाजों को पालन करने की व्यवस्था करे, और दूसरे सब कामों में बचत करके इनके लिए धन जुटावे।

हानिकर रिवाजों को बन्द करने के दो उपाय हैं—कानून और लोकमत। कानून का असर एक दम होता है, लेकिन लोकमत तैयार न होने की दशा में, उससे मिलनेवाली सफलता स्थायी नहीं होती। इस-लिए जिस रिवाज को बन्द करना हो, उसके विरुद्ध खूब जोरदार लोकमत बनाया जाना चाहिए, जिससे यदि हो सके तो कानून बनाने की नौबत ही न आवे। और, कानून बनाना ही पड़े तो उसका असर स्थायी रूप से हो। लोकमत का प्रभाव इस बात से मालूम हो जाता है कि कितने ही आदमियों से अगर किसी बुरे रिवाज को बन्द करने के लिए कहा जाय तो उनके पास बना-बनाया टकसाली जवाब यही होता है कि हम क्या करें, सब ऐसा करते हैं, इस लिए हम भी करते हैं, या हमें भी करना पड़ता है। जब सब इसे बन्द कर देंगे तो हम भी बन्द कर देंगे। कुछ लोग यह भी कह देते हैं कि अगर हमें यह पक्का भरोसा हो जाय कि दूसरे आदमी इस काम को बन्द करने को तैयार हैं तो हम सब से

पहले, आगे बढ़ कर इस काम को बन्द कर देंगे।

लोकमत का लिहाज करके हम बहुत दफा अपने इरादे को बदल देते हैं और कभी-कभी हम बहुत अच्छा हिम्मत का काम करते हैं, और कभी कुछ अनुचित कार्य भी कर देते हैं। भारतवर्ष में बहुत से आदमी विवाह शादियों में अपनी हैसियत से ज्यादह खर्च कर डालते हैं, सिर्फ इसलिए कि कम खर्च करने की हालत में उनकी बिरादरी वाले उन्हें कंजूस कहेंगे या उनकी बुराई करेंगे। इसके विरुद्ध, जो आदमी सुधार-सभाओं में जाते आते हैं, जिनके मित्र या मिलनेवाले सुधारक ही होते हैं, उन्हें सामाजिक कार्यों के सिलसिले में यह सोचना पड़ता है कि अगर हमने फजूलखर्ची की, सादगी और किफायत से काम न लिया तो मित्रमंडली में हमारी चर्चा होगी, सब हमें बुरा-भला कहेंगे, इसलिए फजूल की रीति-रस्मों में पैसा खर्च न करना चाहिए। इससे ज़ाहिर है कि लोकमत में बड़ा बल है। उसका लोगों के विचारों और कार्यों पर, जीवन और रहन-सहन पर बहुत प्रभाव पड़ता है; कारण, हर एक आदमी और संस्था को इस बात की बड़ी फिकर रहती है कि दूसरों का हमारे बारे में क्या मत है, 'दुनिया' हमारे बारे में क्या राय रखती है।*

लोकमत बनाने के दो उपाय हैं—किसी दल ('पार्टी') के द्वारा, और व्यक्तिगत रूप से। हर देश में तरह-तरह के दल या संगठन होते हैं, और बनाये जा सकते हैं। आदमी को चाहिए कि जिस दल के कार्य-क्षेत्र में उसकी रुचि हो, उसमें ईमानदारी और नेकनीयती से क्रियात्मक भाग ले। दलबन्दी का एक खास दोष यह होता है कि वह बहुत बार स्वार्थ या खुदगर्जी के आधार पर बनी होती है, चाहे वह स्वार्थ एक आदमी का न होकर किसी जाति बिरादरी, सम्प्रदाय या

---

* हर राज्य भी यह चाहा करता है कि दूसरे राज्यों की नजर में हमारी अन्दरूनी शासन नीति, तथा विदेशों सम्बन्धी नीति अच्छी मालूम पड़े। इसलिए सरकारें दूसरे देशों में बहुत रुपया खर्च करके, अपने आदमी भेज कर या वहाँ के पत्रों को काफी सहायता देकर अपना प्रचार-कार्य किया करती हैं।

समूह आदि का हो। असल में दलों का आधार जाति या साम्प्रदायिक न होना चाहिए; वे किसी व्यापक सिद्धान्त के आधार पर बनने चाहिएँ।

लोकमत बनाने का काम, बिना किसी दल में शामिल हुए भी, किया जा सकता है। लेखक, सम्पादक प्रकाशक और उपदेशक (व्याख्यान देनेवाले) भी लोकमत बनाने में बड़ी मदद कर सकते हैं। इन्हें स्वतंत्र और निडर होना चाहिए; और, अपना स्वतंत्र मत प्रकट करने, और उसके अनुसार व्यवहार करने के लिए सब तरह के कष्ट सहने को तैयार रहना चाहिए। ऐसे ही महापुरुषों ने समय-समय पर समाज-सुधार का कार्य करने में सफलता पायी है। उन्होंने अपने देश-काल की परवा न की, और अपने समय की कुरीतियों और बुरे रिवाजों का खुलकर विरोध किया। मिसाल के तौर भारतवर्ष में गौतम बुद्ध ने प्रचलित हिन्सा का विरोध करके लोगों को अहिन्सा और प्रेम का पाठ पढ़ाया; यूनान में सुकरात ने रूढ़ियों को तोड़ने और तर्क का प्रचार करने के लिए अपने प्राण खुशी-खुशी न्यौछावर कर दिये; अमरीका में एब्राहम लिंकन ने अपने भाई बंधुओं के विरोध का सामना करके भी गुलामी को दूर किया; बुकर टी० वाशिंगटन ने नीग्रो (हब्शी) लोगों को आत्मोद्धार की शिक्षा दी, और महात्मा गांधी आदि इस समय जाति, रंग, सम्प्रदाय आदि की अनेक बुराइयों से लड़ रहे हैं।

इस तरह के उदाहरण सभी देशों और जातियों में मिलते हैं। मानव जाति इन महापुरुषों की बहुत ऋणी है। लेकिन अगर हम इतिहास के लम्बे समय को, और दुनिया की विशाल जनसंख्या को देखें तो ऐसे महापुरुषों की संख्या और प्रभाव प्रायः कम ही मालूम होता है। मानव जाति का यह दुर्भाग्य हैं कि आधुनिक सत्ता भी म० गाँधी आदि सुधारकों के साथ बहुत कुछ वैसा ही व्यवहार करती है, जैसा अब से साढ़े तेईस सौ वर्ष पहले यूनान की सत्ता ने सुकरात के साथ, और साढ़े उन्नीस सौ वर्ष हुए रोम की सत्ता ने ईसामसीह के

साथ किया था। यह इस बात का जीता-जागता सबूत है कि कुछ व्यक्ति, संस्थाएँ और सत्ताएँ रिवाज और रूढ़ियाँ तोड़नेवालों, सुधारकों और क्रान्तिकारियों का भरसक विरोध किया करती हैं, वे उनके रास्ते में तरह-तरह की बाधाएँ डालती हैं, और उन्हें बहुत कष्ट देती हैं। लेकिन उनका यह सब व्यवहार मनुष्य जाति की प्रगति को रोकने में सफल नहीं होता।

प्रगति होती ही रहती है; हाँ, अकसर उसकी गति बहुत धीमी रहती है और उसमें बाधाएँ आती रहती हैं। पर कभी-कभी बाधाओं का प्रभाव उलटा ही होता है। जैसे बहते हुए पानी को रोकने से कभी-कभी वह बाँध को तोड़ कर और भी अधिक वेग से जाता है, इसी तरह कभी-कभी समाज-सुधार का कार्य रस्म-रिवाजों को तोड़कर बड़ी ज़ोरदार क्रान्ति का रूप धारण करता है। निदान, प्रगति समाज का अटल या अटूट नियम है, और रिवाज समय-समय पर बदलते रहते हैं।

इक्कीसवाँ अध्याय

धर्म और सदाचार

[१]

संसार में अनेक बातें ऐसी हैं, जो आदमी की समझ में नहीं आतीं, या जिन्हें देखकर उसे आश्चर्य होता है या डर लगता है, या जिनके कारण को वह नहीं जानता। यह हालत इस समय है; शुरू में और भी ज्यादह थी। पहले आदमी जंगलों में रहता था, वह बहुत से जानवरों से डरता था। सूर्य, चन्द्रमा और तारे आदि देखकर आश्चर्य करता था। वह सोचता था कि नदी, पहाड़ झरने, आदि किसने बनाये? आँधी, तूफान, वर्षा और धूप क्यों होती है? कोई शक्ति ऐसी ज़रूर है, जो सब दुनिया पर शासन करती है। यह शक्ति दिखाई नहीं देती; अदृष्ट है। आदमी इस महान अदृष्ट शक्ति से डरता है,

उसके सामने अपने को तुच्छ या नाचीज समझता है, और उसे खुश करने के लिए उसकी पूजा या आराधना करने लगता है। रात को अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता। आदमी को वहाँ जाने में डर लगता है। डरे हुए मन ने वहाँ भूत प्रेत आदि की कल्पना की। आदमी चाहता है कि भूत-प्रेत उसे कष्ट न पहुँचावें, इसलिए वह उन्हें खुश करने के तरह-तरह के उपाय सोचता है।

अदृष्ट या अज्ञात शक्ति की कल्पना, उससे भयभीत होना और उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करना—यही कुछ लोगों के मत से, धार्मिक भावना का सूत्रपात है। इस विचार-धारा के अनुसार शुरू में आदमी का धर्म भय या डर का धर्म था। दिखाई न देने वाली, अज्ञात शक्ति को देवी देवता आदि कहा गया। उसका कुछ रूप ठहराया गया। उसे खुश करने के लिए जंगली आदमी ने उसके सामने जानवरों को मारकर उनकी भेंट चढ़ायी, और नाचने तथा गाने-बजाने आदि का भी काम किया। कहीं-कहीं कुछ दशाओं में आदमी को मारकर उसकी बलि चढ़ाई गयी। ये बातें थोड़ी-बहुत अब भी जगह-जगह पायी जाती हैं; हाँ, ज्यों-ज्यों विज्ञान का प्रचार बढ़ता जाता है, इनमें कमी होती जाती है। और, जो आदमी माँस से परहेज करते हैं, वे देवी देवताओं को मिठाई और फल-फूल चढ़ाकर उनसे अपनी और बाल-बच्चों की कुशल-क्षेम मांगा करते हैं।

आदमी ने सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र (वर्षा) आदि शक्तियों को ही देवता नहीं माना; वह ईंट, पत्थर, पेड़, टीला, नदी आदि बहुत सी बेजान चीजों की, और गाय, चूहा (गणेश), बन्दर (हनुमान), साँप (नाग), बैल, मोर, हंस, गरुड़, नीलकण्ठ आदि पशु पक्षियों की भी पूजा करने लगा। जगह-जगह पूजा-स्थान बन गये। शुरू में एक समूह या गिरोह के सब आदमी एक ही तरह से पूजा-पाठ आदि करते थे। यह ज़रूरी नहीं था कि एक समूह एक ही देवी देवता को माने; वह कई-कई जुदा-जुदा देवी देवताओं को भी माननेवाला होता था। धीरे-धीरे कई समूहों का आपस में मिलना हुआ, और वे पास-

पास रहने लगे। ऐसी हालत में कभी-कभी एक समूह ने अपने किसी देवी देवता को मानना छोड़ दिया और दूसरे समूहों के देवी देवताओं को मानने लग गये। बहुत बार यह भी हुआ कि समूह अपने पुराने देवी देवता के साथ दूसरों की भी पूजा करने लगे। इस तरह देवी देवताओं की संख्या अकसर बढ़ती गयी, लेकिन कभी-कभी उसमें कमी भी होती रही। किसी एक देश के आदमियों से पूजे जानेवाले कुल देवी देवताओं में समय-समय पर अन्तर होता रहा है।

ज्यों-ज्यों आदमी का ज्ञान बढ़ता गया है, उसके विकास का असर देवी देवताओं की संख्या तथा पूजा पाठ आदि की विधि पर पड़ता रहा है। बहुत से पशु पक्षी जिन्हें वह पहले बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, अब उसके लिए साधारण वस्तु हैं। विज्ञान के प्रचार से कुदरत की अनेक घटनाओं को वह अब आश्चर्य या आशंका की दृष्टि से नहीं देखता, वह इन्हें रोजमर्रा की मामूली बात समझता है। जल, वायु, बिजली आदि कई शक्तियों को आदमी अब अपने काम में लाता है, इसलिए इन्हें अब पूजा के योग्य नहीं मानता। तो भी आदमी के सामने जन्म, जीवन, और मृत्यु की समस्याएँ बनी ही हैं। इन तीन कामों के लिए हिन्दुओं ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना की थी। आरम्भ में, सभी देशों में बहु देवोपासना (अनेक देवताओं की पूजा) जारी हुई। पीछे कुछ देशों में धीरे-धीरे 'अनेक में एक' या 'भेद में अभेद' देखने की भावना जागृत हुई, और वे विविध देवी देवताओं को एक ही ईश्वर या परमात्मा के अलग-अलग रूप समझने लगे। इस भावना का विकास सब से पहले भारत में हुआ। यहाँ पहले प्रकृति की जुदा-जुदा शक्तियों की पूजा होती थी, पीछे बहुत चिन्तन और मनन के बाद ब्रह्मवाद या एकेश्वरवाद की स्थापना हुई। इससे पहली विचार-धारा का सर्वथा लोप नहीं हो गया, बल्कि उसके साथ एक सर्वोच्च शक्ति परमपिता परमात्मा को भी माना जाने लगा।

धार्मिक विकास की दूसरी बात यह है कि ईश्वर को भयानक मानने की बात मन से हटायी गयी। इस तरह धर्म के मूल में डर की

भावना न रही। आदमी ने धीरे-धीरे यह विचार किया कि सृष्टि रचनेवाले को तो सब प्राणियों से मा बाप की तरह प्यार करनेवाला होना चाहिए। इस विचार से ईश्वर को मा, जगदम्बा, परम पिता, जगत-पिता आदि कहा जाता है। होते-होते ईश्वर को दया, न्याय, सत्य, शान्ति आदि सभी अच्छे-अच्छे गुणों का भंडार माना जाने लगा। ईश्वर को ऐसे गुणों वाला मानना, और ऐसे गुण वाले व्यक्ति के बारे में यह कहा जाना कि वह बड़ा 'देवता' है, आदमी की नैतिक भावना का परिचायक है। इससे जाहिर होता है कि आदमी अब इन गुणों का आदर करता है, और जहाँ तक बन आये अपने अन्दर इन गुणों को अधिक-से-अधिक पैदा करना या बढ़ाना चाहता है। अब आदमी यह समझने लगा कि मैं जैसा काम करूँगा, ईश्वर मुझे वैसा फल देगा (क्योंकि ईश्वर सब का न्याय करता है, वह किसी का पक्षपात नहीं करता), इस लिए मुझे सदैव अच्छे काम करने चाहिए। सब से प्रेम, दया, सहानुभूति, सचाई और ईमानदारी आदि का व्यवहार करना चाहिए। अगर मैं कोई बुरा काम करूँगा तो मुझे उसका दंड मिलेगा। यह धर्म की सामाजिक, और ईश्वर की नैतिक कल्पना है।

यदि यह कल्पना हमारे मन में अच्छी तरह जम जाय, और हम हर घड़ी उसका ध्यान रखें तो हमारा व्यवहार बहुत अच्छा और समाज के लिए बहुत हितकर होगा, इसमें संदेह नहीं। तो भी इससे आगे बढ़ने की जरूरत है। हम अच्छा काम सिर्फ इस लिए न करें कि हमें उसका अच्छा फल या कुछ पुरस्कार मिलेगा। इसी तरह हम बुरे काम से सिर्फ इस लिए न बचें कि ईश्वर हमें उसका दंड देगा। हमें तो अच्छा काम करना, और बुरे काम से बचना ही चाहिए। ऐसा करना हमारा कर्तव्य है। हमारे कार्यों में पुरस्कार या दंड की भावना न हो, और इस लिए पुरस्कार देनेवाले या दंड देनेवाले ईश्वर का भी सहारा हम क्यों लें। निस्सन्देह यह केवल आदर्श की बात है; साधारण आदमियों के लिए फल देनेवाले ईश्वर की कल्पना बहुत सहायक होती है। तथापि संसार में ऐसे महानुभाव हुए हैं,

जिन्होंने लोगों को इस सहायता के बिना ही काम चलाने का उपदेश दिया है। मिसाल के तौर पर गौतम बुद्ध ने इस दिशा में भारी काम किया। बौद्ध धर्म ने ईश्वर की बात न कह कर भी लोगों को प्रेम और दया आदि की शिक्षा दी। इसे धर्म की लोकिक भावना कह सकते हैं।

इस भावना के पूरी तरह विकसित होने पर किसी कर्मकांड, रीतिरस्म, पूजा-पाठ की ज़रूरत नहीं रहती। और, इस लिए पुजारी, पादरी, महन्त आदि का भी कुछ काम नहीं रहता। लेकिन यह स्थिति अभी कल्पनात्मक ही है। संसार में अब भी कुछ विरले ही आदमी इस स्थिति को पहुँचे हैं। असल में शुरू से ही—जब कि आदमी 'भय-धर्म' को मानता था, वह तरह तरह के कर्म-कांड को अपनाये हुए है। उसी की वजह से समाज में पुरोहितों, पुजारियों, आदि को स्थान मिला है। प्रो० अलबर्ट आइन्स्टाइन ने कहा है—'धीरे-धीरे पुरोहितों के गिरोहों ने इस भय-धर्म की बुनियादों को पुख्ता बना दिया। पुरोहित व्यक्ति और अज्ञात शक्ति के बीच में ठेकेदार बन गये। इन्हीं पुरोहितों के हाथों में बाद में शासन-शक्ति भी आगयी। प्राचीन मिस्र, सुमेर और काबुल की सभ्यताओं को देखकर पता चलता है कि हजारों वर्ष तक पुरोहित और राजा के कर्तव्य एक ही व्यक्ति में सीमित रहे। बाद में जब पुरोहित और राजा के पद अलग-अलग हो गये तब भी वे अपने स्वार्थों के लिए मिल कर जनता का शोषण करते रहे।'

भारतवर्ष में खासकर पूजा पाठ करनेवालों की एक अलग जाति ही बन गयी। इनका हिन्दू समाज पर इस समय भी कितना प्रभाव है, यह सब जानते हैं। इस समय बहुत से ब्राह्मण पहले की तरह जनता में ज्ञान के प्रचार करने का काम न करके, स्वयं ही अशिक्षित हैं; तो भी सर्वसाधारण में उन्हें ऊंची जाति का, तथा, दान-पुण्य, प्रतिष्ठा और श्रद्धा का अधिकारी, माना जाता है। समय बदल रहा है; उसकी मांग है कि योग्यता की ही कदर की जाय, व्यक्ति या जातियों की नहीं।

संसार में खासकर छः बड़े-बड़े धर्म प्रचलित हैं—वैदिक धर्म (जिसे अब हिन्दू धर्म कहा जाता है,) पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, और इसलाम धर्म। इनमें सब से पीछे का, यानी हाल का, धर्म इसलाम है; उसे जारी हुए पौने चौदह सौ वर्ष हुये, उसकी बुनियाद डालने वाले हजरत मोहम्मद का जन्म सन् ५७० ई० में हुआ। इससे पहले का धर्म ईसाई धर्म है, उसे अब १६४५ वर्ष हुए। उससे पहले का धर्म बौद्ध धर्म है, जिसे चलानेवाले गौतम बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व ५५७ में हुआ था। बौद्ध धर्म से पहले हज़रत मूसा ने यहूदी धर्म चलाया था, वह अब साढ़े तीन हज़ार वर्ष पुराना है। उससे पहले का धर्म पारसी धर्म है, इसके चलानेवाले महात्मा जरदुश्त का समय ईसा से कम-से-कम दो हज़ार और ज्यादह-से-ज्यादह चार हज़ार पहले माना जाता है। सब से पुराना धर्म वैदिक धर्म है। वेदों की आयु के बारे में बहुत मतभेद है, तो भी सब विद्वान इन्हें सब से प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं; हिन्दू तो इन्हें अनादि ही समझते हैं, उनका विचार है जब से मनुष्य पैदा हुआ, तब से, यानी करीब दो अरब वर्ष से, वैदिक धर्म भी है। वैदिक धर्म को छोड़कर हरेक धर्म किसी एक देवता, दूत या पैगंबर का चलाया हुआ है।

ये धर्म अलग-अलग जगहों में जारी हुए। हरेक धर्म ने उन कुरीतियों में सुधार करने की कोशिश की, जो उसके शुरू होने के समय उस जगह फैली हुई थीं। इसके साथ ही उस धर्म पर उस जगह की परिस्थिति का प्रभाव पड़ा है; एक तरह से वह वहाँ के पुराने धर्म से पैदा हुआ कहा जा सकता है। मिसाल के तौर पर बुद्ध ने भारतवर्ष के अपने समय के हिन्सात्मक कर्मकांड को हटाने की खूब कोशिश की, और उसके नैतिक उपदेशों की आधार-शिला वैदिक धर्म ही है। पारसी धर्म भी वैदिक धर्म का बहुत ऋणी है। ईसाई धर्म पुराने यहूदी धर्म और बौद्ध धर्म के मेल से बना है। इसलाम धर्म का आधार बहुत-कुछ ईसाई धर्म और यहूदी धर्म है।

संसार परिवर्तनशील तो है ही। हर एक धर्म जब शुरू होता है तो

वह उस समय की प्रचलित बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करता है। वह जितने स्थान में फैलता है, वहाँ के लोगों को नया दृष्टिकोण, नयी विचार-धारा देता है, और उनकी उन्नति और सुधार में सहायता करता है। लेकिन पीछे जाकर इस धर्म की कुछ बातोंका उद्देश्य भुला दिया जाता है, उसके अनुयायी नये देश-काल का विचार न करके पुरानी रूढ़ियों का पालन करने लगते हैं। इससे इस धर्म में सुधार की आवश्यकता होती है। तब या तो इसी धर्म की किसी नयी शाखा का उदय होता है, या कोई नया धर्म शुरू होता है। इस तरह जिस देश में जो नयी धार्मिक लहर आती है, वह उस देश की, अपने से तत्काल पहले की, धार्मिक भावनाओं का संशोधित रूप होती है। लेकिन किसी धर्म का यह दावा करना ठीक नहीं है कि वह अपने समय से पहले के संसार भर के समस्त धर्मों से अच्छा है। फिर, कुछ नैतिक बातें तो बहुत पुराने समय से मान्य रही हैं। उन पर, समय-समय पर विचार होकर चाहे जितनी नयी-नयी बातें निकली हों, वे मूल रूप में सभी धर्मों में मिलती हैं।

धर्म के नाम पर संसार में भलाई भी बहुत हुई, और बुराई भी। धर्म ने लोगों को मिलजुल कर रहना, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम करना, और दूसरों के लिए त्याग करना सिखाया है। ये बातें सामाजिक संगठन के लिए कितनी आवश्यक हैं, यह जाहिर ही है। धर्म ने आदमियों में नैतिक भावना की वृद्धि की है। चोरी न करना, झूठ न बोलना, दीन दुखियों की सहायता करना, रोगियों की सेवा-सुश्रुषा करना सभी धर्म सिखाते हैं। हाँ, जब कि एक धर्म माननेवाले आपस में इन गुणों का परिचय देते हैं, वे दूसरे धर्म वालों को ऐसे व्यवहार का अधिकारी कम ही मानते हैं। हर धर्म वाले अपने धर्म को सबसे अच्छा समझते हैं, और चाहते हैं कि दूसरे आदमी उनके ही धर्म को स्वीकार करें। यह बड़े कलह और झगड़े की जड़ है; क्योंकि कुछ आदमी अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तरह-तरह का प्रलोभन ही नहीं देते, वरन् भय दिखाते हैं, और ज़ोर जबरदस्ती भी करते हैं।

इसका नतीज़ा यह हुआ कि समय-समय पर सभी देशों में, खासकर योरप में भयंकर अत्याचार हुए हैं; हजारों आदमियों की जानें गयी हैं, और लाखों आदमियों को तरह-तरह की मुसीबतें सहनी पड़ी हैं। कभी-कभी धर्म के नाम पर लोगों की शिक्षा और ज्ञान का विरोध किया गया है, जिससे आदमी अंध-विश्वासी बने रहें, और धर्माचार्यों और महन्तों आदि की बातों में पूरी श्रद्धा रखें, उसमें तर्क-वितर्क न करें। अब से सौ दो सौ वर्ष पहले तक धर्मशास्त्रों का लोगों की भाषाओं में अनुवाद कराने का विरोध होता रहा है; कारण, धर्माधिकारियों को यह आशंका रही है कि जब मामूली आदमी भी यह जान जायगा कि शास्त्रों में क्या है, तो वह वैसा 'आस्तिक' नहीं रहेगा, जैसा अज्ञान की दशा में रहता आया है। सार्वजनिक शिक्षा और विज्ञान के प्रचार से अब इन बातों में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है; तो भी लोगों में एक-दूसरे के धर्म के प्रति पूरी सहिष्णुता और समभाव होने में अभी बहुत कमी है। धर्म के नाम पर झगड़े, वैर विरोध मारपीट और खून खच्चर के दृश्य अब भी देखने में आते हैं।

इन दृश्यों को देख कर, और यह अनुभव करके कि धर्म के नाम पर बहुत से आदमी अपना कितना ही समय और धन का दुरुपयोग करते हैं, और बहुत से आदमी मुफ़्तखोरी और बेकारी का जीवन बिताते हैं, कितने ही आदमियों के मन में धर्म के प्रति बहुत अश्रद्धा और अरुचि हो गयी है। यहाँ तक कि कुछ ने तो खुल्लमखुल्ला अपना यह मत जाहिर किया है कि संसार से धर्म उठा दिया जाना चाहिए। वे अपने को नास्तिक कहने में गौरव मानते हैं, और दूसरों को नास्तिक बनाना अपना परम् कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि दुनिया का अधिकांश लोकमत इनके विरुद्ध है, यह स्वीकार करना होगा कि इनमें बहुत से आदमी बहुत सच्चरित्र, लोकसेवी और परोपकारी होते हैं।

जुदा-जुदा धर्म वालों के आपसी झगड़ों का मूल कारण यह है कि आदमी अपने-अपने धर्म के कर्मकांड और रीति रस्मों पर बहुत ज़ोर देते हैं, जो हरेक धर्म में बहुत-कुछ अलग-अलग हैं—मिसाल के तौर

पर ईश्वर की पूजा किस तरह करनी; खड़े होकर या बैठकर; यदि बैठकर तो किस तरह बैठ कर; किस भाषा में—संस्कृत, हिन्दी, अर्बी, अंगरेजी या लेटिन आदि में; कैसे-कैसे भावों वाले श्लोकों, मंत्रों या गद्य में; पूजा की सामग्री क्या हो; प्रसाद किस चीज़ का हो, वह किस तरह बांटा जाय; इत्यादि ।

फिर, हरेक धर्म के माननेवालों में कुछ-कुछ बातों के अंध-विश्वास रहते हैं । हिन्दुओं में बहुत से आदमी किसी नये मकान में रहना शुरू करते हैं, कोई नया कपड़ा पहिनते हैं, कोई नया काम, व्यापार या यात्रा शुरू करते हैं, तो उसके लिए 'शुभ मुहूर्त' की इन्तजार किया करते हैं । विवाह शादी के लिए तो कभी-कभी साल दो साल तक मुहूर्त की इन्तजार में रुक जाते हैं । बिना मुहूर्त काम करने से उसके बिगड़ने का डर रहता है । किसी आदमी के घर से रवाना होने के समय किसी का छींक देना, या किसी का नंगे सिर (बिना टोपी) सामने आ जाना, किसी का यह पूछ लेना कि तुम कहाँ जाते हो, या बिल्ली आदि कुछ जानवरों का रास्ते में मिल जाना बहुत अशुभ समझा जाता है । ऐसा क्यों समझा जाता है, इसका कोई बुद्धि-संगत यानी ठीक जचनेवाला जवाब नहीं होता । शायद किसी खास समय में, किसी आदमी को कुछ अनुभव हुआ हो, उसे देखकर उसके दूसरे साथियों ने सोच लिया कि ऐसी स्थिति में ऐसा ही अनुभव होना जरूरी है । बस, इस विचार-धारा की परम्परा बन गयी । आदमी इन्हें बहुत महत्व देने लग गये ।

अगर हम मूल सिद्धान्तों का विचार करें तो वे सब धर्मों में एकसे ही हैं, जुदा-जुदा धर्मों का समन्वय करने के लिए समय-समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा, सम्मेलन आदि हुए हैं । सन् १८७५ में न्यूयार्क (अमरीका) में थियोसोफिकल सोसायटी कायम हुई । उसका एक उद्देश्य यह था कि जाति, सम्प्रदाय, रंग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबंधुत्व या भाईचारे के भाव को फैलाया जाय । इस सोसाइटी का प्रधान कार्यालय इस समय अडयार (मद्रास) में है,

और पचास से ऊपर देशों में इस सोसायटी की शाखाएँ हैं।

सन् १८९३ से अब तक कई देशों के खास-खास नगरों में विविध धर्मों की पार्लिमेंटें हो चुकी हैं। सब से पहली पार्लिमेंट उस वर्ष शिकागो (अमरीका) में हुई थी। सन् १९३३ से सब धर्मों का एक विश्व-संघ ('वर्ल्ड फेलोशिप आफ फेथ्स') शिकागो में काम करने लगा है। इसमें सब धर्मों, जातियों, और देशों के आदमी हिस्सा लेते हैं; भारतवर्ष में खासकर हिन्दू और मुसलमानों के मेल को लक्ष्य में में रख कर कई एकता-सम्मेलन हुए हैं। गुरुकुल जैसी कुछ संस्थाएँ अपने सालाना जलसों में सर्व-धर्म-सम्मेलन करती हैं, जिनमें विविध धर्मों के प्रतिनिधि अपने-अपने धर्म के सम्बन्ध के निबन्ध पढ़ते हैं, या व्याख्यान देते हैं।

धर्म-समन्वय की दृष्टि से समय-समय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं, जिनमें डाक्टर भगवानदास की 'दि असेन्श्यल यूनिटी आफ आल रिलीजन्स' और स्वामी कृष्णानन्द जी की 'ह्यूमेनिज़्म' या 'दि ह्यूमन रिलीजन' और श्री० पंडित सुन्दरलाल जी की 'गीता और कुरान' हमारे सामने हैं। यह अच्छी तरह दिखाया गया है कि जो बातें एक धर्म कहता है, उन बातों को बहुत कुछ उसी तरह से, और कुछ हालतों में तो करीब-करीब उन्हीं शब्दों में दूसरा धर्म भी कहता है। श्रीमद् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि जो आदमी जिस तरह से भगवान को मानते हैं, उन्हें उसी रास्ते से भगवान मिल जाता है। गीता का यह उदार दृष्टिकोण मनुष्य को विश्व-धर्म का संदेश दे रहा है।

हरेक बड़ा धर्म कहता है कि मनुष्य मात्र एक परम पिता परमात्मा की संतान है, और इस लिए सब आपस में भाई-भाई हैं। आदमियों को चाहिए कि इस बात को अच्छी तरह समझ लें। फिर, जाति या रङ्ग का भेद-भाव न रहे, अपने पराये का सवाल न हो, देशी विदेशी का फरक न रहे, संसार भर के आदमियों का एक राज्य यानी विश्व-राज्य की स्थापना का रास्ता साफ हो जाय और सर्वत्र सुख शान्ति की

स्थापना हो। जबकि सब आदमी आपस में भाई-भाई हैं तो हम किसी से लड़ें क्यों? हमें तो सब से प्रेम करना है, और दूसरों की सेवा और सहायता में ही अपना हित मानना है। धर्म का यथेष्ट विकसित रूप यही होगा, यही धर्म अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व-धर्म होगा।

[२]

इसी अध्याय में यह बताया जा चुका है कि धार्मिक भावना का कुछ विकास होने पर आदमी नैतिक गुणों को महत्व देने लगा। हरेक धर्म ने अपने-अपने क्षेत्र में प्रेम, दया, सहानुभूति, सच बोलना, सेवा और सहायता करना, आदि गुणों की ओर आदमी की प्रवृत्ति बढ़ाने में अच्छी सहायता की। नीति और सदाचार के नियमों को धर्म का अंग माना गया, और जो बात अनैतिक हो उसे धर्म-विरुद्ध ठहराया गया। साधारणतया तर्क-बुद्धि जागृत न होने की दशा में अर्थात् कम विकसित समाज में आदमियों पर धर्म का बड़ा प्रभाव होता है। बस, जिस बात पर धर्म की मुहर लग गयी, जिसे शास्त्रों का आधार मिल गया, उसकी कोई अवहेलना करने का साहस नहीं करता। भारतीय पाठक जानते हैं कि यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा आदि के भी बहुत से नियमों को धर्म का अङ्ग माना गया है। ऐसा करने से साधारण आदमी भी उनका भरसक पालन करते हैं।

नीति या सदाचार का आधार धर्म को मानने से एक समस्या पैदा हो जाती है। धार्मिक भाव से नीति या सदाचार के नियम पालन करने-वाले आदमी नियम की भावना और उद्देश्य का विचार नहीं करते; वे आँख मीच कर रूढ़ि की तरह उसका पालन करते हैं। वे देश-काल की बदली हुई परिस्थिति का ध्यान नहीं रखते। इस तरह वे उन नियमों को उस दशा में भी पालते रहते हैं, जब कि वे अनावश्यक और हानिकारक हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर "पुराने पश्चिमी बाद-शाह सप्ताह के किसी शुभ दिन को समीप के किसी रोगी के पास जाकर अपने प्रति एक पुण्यलाभ का अनुमान किया करते थे। एक दिन बादशाह ने अपने गुलाम से पूछा—'आस-पास कोई बीमार है?'

गुलाम ने उत्तर दिया—'नहीं सरकार, आपकी कृपा से सब स्वस्थ हो गये।' बादशाह बिगड़ उठा और बोला—'अभी तेरे हन्टर लगवाता हूँ। तू खुद बीमार पड़ेगा और फिर मेरी दया से अच्छा होगा।' यही गुलाम इतना पीटा गया कि प्रायः अर्द्ध मूर्च्छित हो गया और बादशाह सलामत के विशेष प्रयत्न से अच्छा हुआ।"* स्पष्ट है कि नैतिक नियमों का आधार धर्म मानना ठीक नहीं है।

एक बात और भी है। बहुधा धर्माचार्यों का यह कथन होता है कि धर्म या नैतिक नियमों को पालन करने से पुण्य होगा, स्वर्ग मिलेगा और पालन न करने से पाप होगा, नरक मिलेगा। इस पुण्य और स्वर्ग के प्रलोभन, या पाप और नरक के भय का परिणाम समाज के लिए कुछ थोड़े समय के लिए तो अच्छा हो सकता है, लेकिन वह स्थायी नहीं होता। जब आदमी की बुद्धि का विकास हो जाता है तो वह ऐसी बातों पर विश्वास करना छोड़ देता है। इस लिए यह ज़रूरी है कि नैतिक नियमोंका आधार धर्म पुण्य और परलोक की कल्पनाएँ न होकर समाज-हित की भावना हो।

सदाचार या नीति के नियम पालने में देश-काल का ध्यान रखना ज़रूरी है। उदाहरण के लिए बड़ों की आज्ञा मानने की बात लें। अगर कोई आदमी अपने पुत्र को किसी सामाजिक रीति-रस्म को पालन करने (जैसे, हरिजनों को अछूत मानने) के लिए कहता है और लड़का अच्छी तरह यह समझता है कि यह बात ठीक नहीं है तो लड़के का कर्तव्य है कि उसका पालन न करे, वह सविनय अवज्ञा करे। इसी तरह नीति का नियम है कि जिसने हमारा पालन-पोषण किया, या जिसकी हम नौकरी करते हैं, उसके प्रति हम वफादार रहें। लेकिन अगर हमारा संरक्षक या मालिक चोरी, रिशवत, अत्याचार या व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में लगा है तो हम आँख मींच कर उसका साथ कैसे दे सकते हैं!

क्या आदमी नीति और सदाचार के मामले में तरक्की कर रहा

*श्री गंगाप्रसाद जी पांडेय एम० ए०, 'प्रताप' में

है ? क्या वह पहले से अधिक सचाई और ईमानदारी आदि का व्यवहार करता है ? अकसर कहा जाता है कि अब से दो हजार वर्ष पहले की, विदेशी यात्रियों की, साक्षी मौजूद है कि भारतवर्ष में उस समय घरों के दरवाज़े खुले रहने पर भी आदमी चोरी नहीं करते थे, बिना लिखा-पढ़ी किये अपना ऋण या कर्ज पाई-पाई चुका देते थे, और अपनी बात के पक्के होते थे। इसके खिलाफ, अब हर रोज चोरी, छलकपट के अनेक मामले होते हैं। इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि इस ज़माने में लोगों का चरित्र गिर रहा है। क्या यह ठीक है ?

भारतवर्ष की ही बात लें। जब कि सरकारी आंकड़ों के अनुसार भी यहाँ करोड़ों आदमी स्थायी रूप से भूखे रहते हैं तो यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ये लोग अपने को जिन्दा रखने के लिए बेईमानी आदि का आसरा लें। फिर, यहाँ थोड़े से ऊँचे अफसरों को उनकी ज़रूरत से ज्यादह वेतन मिलता है, जबकि बाकी बहुत से सरकारी नौकर अपनी गुजर के वास्ते भी काफी नहीं पाते। वेतन का यह फरक साधारण कर्मचारियों में बेईमानी और चरित्रहीनता पैदा करनेवाला होता है। और, इससे वातावरण इतना गंदा हो जाता है कि उसका खराब असर अच्छे खुशहाल आदमियों पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

गरीबी और पराधीनता की परिस्थिति में कोई भी राष्ट्र ऊँचे चरित्र वाला नहीं हो सकता। इस तरह भारतवर्ष का उदाहरण लेना और उसके आधार पर यह कहना कि लोगों का सदाचार गिर रहा है, ठीक नहीं है। आदमी ने नैतिक विषयों में धीरे-धीरे प्रगति ही की है। प्राचीन काल में आदमी अपने समूह वालों से ही प्रेम, दया, सहानुभूति, आदि का व्यवहार करता था। अपने समूह से बाहर के आदमियों के प्रति नीतिमान होने के लिए उस पर कोई बन्धन न था। और, उसका समूह प्राचीन काल में बहुत छोटा था। धीरे-धीरे समूह बड़े हुए। कबीले, जाति, राष्ट्र, राज्य, संघ-राज्य और साम्राज्य बने। अब आदमी इन बड़े-बड़े क्षेत्रों के प्रति अपनी जिम्मेवारी अनुभव करने लगा। बहुत से आदमी दूर-दूर के आदमियों से प्रेम, सहायता और सहानुभूति का

परिचय देते हैं। अकसर एक जगह बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष या अग्निकाँड हो जाने पर दूर-दूर के देशों से आदमियों और धन (चन्दे या दान) की सहायता आती है। प्राचीन काल में भी कुछ लागों में ऐसी भावना रही है कि दूर-दूर के आदमियों से अपनेपन का भाव रखें, और उनके कष्टों में सहायता दें। लेकिन उस समय यातायात के साधनों की वृद्धि और वैज्ञानिक उन्नति ऐसी नहीं हो पायी थी कि वे अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सकते। उनकी सहायता इतनी देर में पहुँचती कि वह विशेष उपयोगी ही न रहती। अब ऐसे साधन हो गये हैं कि दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे पर सहायता बहुत जल्दी पहुँच सकती है, और, जैसा ऊपर कहा गया है, अकसर पहुँचती भी है।

तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस कार्य में काफी या संतोष-प्रद प्रगति हो चुकी है। मामूली आदमी की बात को जाने दें, जो अपनी छोटी-छोटी जाति से बाहर के आदमियों की बात ही नहीं सोच सकता; जिन आदमियों का बड़े-बड़े राज्यों और साम्राज्यों से सम्बन्ध है, जो करोड़ों आदमियों के भाग्य-विधाता बने हुए हैं, उनमें भी अक़सर बड़ी अनुदारता पायी जाती है। कोई रंग-भेद का रोगी है, कोई जाति-भेद का। उनके नैतिक गुणों का उपयोग उनके परिमित क्षेत्र से बाहर नहीं होता, वह क्षेत्र पहले के मुक़ाबले कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह समस्त मानव जाति नहीं है। अब दुनिया के विविध हिस्सों का आपसी सम्बन्ध बहुत बढ़ गया है। इसलिए आदमी को सब धर्मों, सब जातियों और सब रंगों के आदमियों के प्रति सच्चा, ईमानदार या वफ़ादार ही नहीं, दयालु, सहायक और प्रेमी होना चाहिए। ज़रूरत है कि आदमी अपने अन्दर स्वार्थत्याग की भावना बढ़ाए, अपनी भौतिक और खासकर कृत्रिम आवश्यकताओं पर नियंत्रण करे, अपने मन को—अपने लोभ आदि को—वश में रखे; जिससे उसमें सद्‌गुणों का विकास हो और नीति और सदाचार की वृद्धि हो।

पाँचवाँ भाग

राजनैतिक व्यवस्था

"जहाँ कई मनुष्य होंगे, वहीं समाज होगा; और, जहाँ समाज होगा, वहीं नियंत्रण होगा। नियंत्रण ही राज का मूल है।...... राज की सत्ता के विना मनुष्य अपूर्ण और अविकसित रहता और अपनी रक्षा में असमर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि या तो मनुष्य जाति नष्ट होजाती या मनुष्य मनुष्य न वन पाता, और शेर-भालू की भाँति जङ्गली पशु मात्र रह जाता।

—सम्पूर्णानन्द

बाईसवाँ अध्याय

राज्य

आदमी क्यों और किस तरह सामूहिक जीवन बिताने लगा इसका विचार पहले किया जा चुका है। सामूहिक जीवन में आदमियों को कुछ नियमों या आपसी समझौते की आवश्यकता हुई। अगर किसी तरह का नियंत्रण न होता, हरेक आदमी अपनी मनमानी कर सकता तो लोगों में आपसी ईर्षा द्वेष आदि के कारण बहुत संघर्ष होता। और, लोगों की रक्षा कठिन हो जाती। इसलिए कुछ नियम बनाये गये, कि सब उनका पालन करें, और जो कोई उनका पालन न करे, उसे दंड दिया जाय। नियम, नियंत्रण या समझौते—ये ही राज्य की स्थापना के कारण हैं।

राज्य के आदमियों के दो भाग किये जा सकते हैं—(१) सरकार, और (२) जनता। जो संस्था—चाहे वह एक आदमी हो, या कुछ आदमियों का समूह हो—लोगों में शान्ति बनाये रखती है, तथा उनकी बाहरी हमलों से रक्षा करती है, उसे सरकार कहते हैं। सरकार में चाहे जितने आदमी हो, वे जनता के मुकाबले हमेशा ही बहुत कम होते हैं। यद्यपि जनता और सरकार दोनों का सम्मिलित रूप राज्य है, व्यवहार में सरकार जो काम करती है, वह राज्य की ओर से किया हुआ समझा जाता है। इस तरह राज्य और सरकार दोनों शब्द एक ही अर्थ में काम में लाये जाते हैं। असल में दोनों एक ही चीज नहीं हैं, बल्कि अलग-अलग है। सरकार राज्य का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है, यहाँ तक कि सरकार के बिना राज्य ही नहा होता, तो भी वह एक अंग ही तो है। फिर, जैसा कि आगे बताया जायगा, सरकार का स्वरूप और सङ्गठन समय-समय पर बदलता रहता है, और एकदम

भी बदल सकता है। पर इससे राज्य में अन्तर नहीं आता। राज्य बहुत स्थायी या टिकाऊ होता है। वह एकदम या जल्दी-जल्दी नहीं बदलता।

जब से समाज है, तभी से किसी न किसी रूप में राजसत्ता भी है; इस तरह राज्य इतना ही पुराना कहा जा सकता है, जितना समाज। भारतवर्ष के वेद, जो संसार का सबसे पुराना साहित्य है, राज्य सम्बन्धी अनेक बातों से भरे हुए हैं। राज्य की उत्पत्ति के खास-खास सिद्धान्त ये माने जाते हैं—(१) दैवी सिद्धान्त, (२) आर्थिक सिद्धान्त, (३) शक्ति सिद्धान्त, (४) सामाजिक इकरार सिद्धान्त, और (५) विकास सिद्धान्त।

(क) मनुष्य जाति के प्रारम्भिक जीवन में, लोगों का दैवी शक्तियों में बहुत विश्वास था। पुराने जमाने के आदमी राजसत्ता को ईश्वरी सत्ता मानते थे, और, राजा को ईश्वर का अवतार, प्रतिनिधि या अंश समझा जाता था। महाभारत में कहा गया है कि, राजा को साधारण आदमी समझ कर कोई उसका अपमान न करे, क्योंकि राजा इस भूमंडल पर मनुष्य के रूप में देवता है। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहावत में यही भाव है।

(ख) कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण मनुष्यों की आर्थिक परिस्थिति है। शुरू में सब आदमियों में आर्थिक समानता थी। कोई अमीर या गरीब न था। जब पशु-पालन और खेती का काम होने लगा तो कुछ आदमियों के पास दूसरों से अधिक जानवर, जमीन, या अनाज आदि होने लगा। अब लोगों में ईर्षा और झगड़ा बढ़ने लगा। बाहर के आदमी भी सम्पत्ति को हथियाने के लिए हमला करने लगे। लोगों में शान्ति रखने, झगड़ा न होने देने तथा बाहरवालों के हमलों से उनकी रक्षा करने के लिए राज्य का निर्माण किया गया। राज्य सब के माल जायदाद आदि की रक्षा करता है, वह नागरिकों को आदेश करता है कि कोई किसी सम्पत्ति आदि का अपहरण न करे। वह ऐसे कार्यों की व्यवस्था करता है,

जिन्हें नागरिक अलग-अलग नहीं कर सकते, या जिनके लिए बहुत बड़ी पूंजी की ज़रूरत होती है।

(ग) कुछ विद्वानों का कथन है कि राज्य का मुख्य आधार शक्ति है। बलवान आदमी कमजोर को दबाता है और उसको अपने अधीन कर लेता है। जो जबरदस्त होता है, उसकी दूसरों पर हकूमत चलती है। प्रभावशाली और बलवान आदमी समूह का नायक, नेता या सरदार बन जाता है, या बना लिया जाता है। इस तरह पुराने ज़माने में एक कबीले की खेती या चरागाह की, दूसरे आदमियों से रक्षा करने के लिए एक सरदार होता था। वह कबीले के आदमियों को आपस में झगड़ा करने से रोकता था, उनके झगड़ों का फ़ैसला करता था, और दूसरे कबीले से लड़ाई होने की दशा में अपने कबीले का नेता होता था। सरदार को उस समय के विचार से, कबीले का राजा कहा जा सकता है।

(घ) महाभारत के शान्तिपर्व में बतलाया गया है कि पहले 'मत्स्य-न्याय' प्रचलित था, यानी जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, इसी तरह बलवान दुर्बल को सताता था। तब सब लोगों ने मिल कर यह नियम बनाया कि जो कोई किसी से कड़वी बात कहेगा, किसी को मारेगा या किसी स्त्री अथवा माल को उड़ा ले जायगा, उसको हम सब छोड़ देंगे; यह नियम सब के लिए समान रूप से काम में लाया जायगा। कुछ समय बाद इस नियम से भी काम अच्छी तरह नहीं चला, तब प्रजा ब्रह्मा के पास गयी और उससे कहा कि हमें कोई नायक या शासक दो, जो सबसे नियमों का पालन करावे। इस पर ब्रह्मा ने मनु से यह काम करने के लिए कहा। मनु ने कहा, 'मैं पाप-कर्म से डरता हूँ। खोटे काम करनेवालों पर राज्य करने से मैं पाप का हिस्सेदार हूँगा, मुझे पाप लगेगा। तब लोगों ने मनु से कहा, 'राष्ट्र में जो पाप होगा, वह पाप करनेवाले को लगेगा। तू मत डर। तुझे हम पशुओं का पचासवाँ हिस्सा और अनाज का दसवाँ हिस्सा देंगे। हथियार और सवारी लिये हुए हमारे सिपाही तेरे साथ रहेंगे। हम जो अच्छे

काम करेंगे उनसे होनेवाले धर्म का चौथा भाग भी तुझे मिलेगा। तू सुख और आनन्द से राज्य कर।' इन शर्तों को स्वीकार करके मनु राज्य करने लगा।

इस बयान से राज्य की उत्पत्ति के 'इकरार सिद्धाँत' का आभास मिलता है। राजा धर्म के अनुसार राज्य करे, और अपराधियों का दमन करे; प्रजा उसे ठहराया हुआ कर और दूसरी सहायता दे। यह सिद्धांत योरप के कई बड़े नामी लेखकों ने माना है, और, इसके बारे में समय-समय पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं। फ्राँस की राजक्रान्ति पर रूस के 'सोशल कन्ट्राक्ट' (सामाजिक इकरार) के नाम के ग्रन्थ का भारी असर पड़ा था। इस ग्रन्थ में यह दिखाया गया है कि राजा का अधिकार प्रजा की सम्मति पर निर्भर है; प्रजा के मत के विरुद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता। असली सत्ता जनता की है, राजा की नहीं। वैसे दोनों प्रतिज्ञा में बंधे हैं। अगर राजा अपना कर्तव्य ठीक तरह पालन नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि राजनियम भंग करे, राजा को हटा दे और उसे दिये अधिकार और सत्ता उससे वापिस ले ले। यह सिद्धाँत योरप में खास तौर से अठारहवीं सदी में प्रचलित रहा।

(च) ऊपर बताये हुए सिद्धान्तों में कुछ सचाई हो सकती है, पर उनमें से कोई पूरे तौर से और व्यापक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। बात यह है कि राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। शुरु ज़माने में मनुष्य जाति की ऐसी हालत रही होगी, जब उसे राज्य की कल्पना नहीं थी। पीछे कुछ विचारवान लोगों को नियम, कायदे आदि बनाने की बात सूझी; उन्होंने अपने विचार का लोगों में प्रचार किया। इस तरह राज्य का जन्म हुआ। फिर देश-काल के अनुसार इसमें आवश्यक परिवर्तन होता रहा। अब तो जुदा-जुदा देशों में इसके तरह-तरह के जटिल रूप मौजूद हैं। राज्य का विकास सिद्धान्त आम तौर से ठीक जचता है, और आसानी से समझ में आ जाता है। तो भी सामाजिक उन्नति की अलग-अलग मंजिलों को निश्चित करना बहुत मुश्किल है,

इसलिए राज्य के विकास की कोई खास पद्धति या कारण निश्चित नहीं किया जा सकता। समय-समय पर जुदा-जुदा बातों का असर पड़ा है।

राज्य की उत्पत्ति की बात यहीं समाप्त करके अब हम राज्य सम्बन्धी दूसरी बातों का विचार करते है। पहले कहीं-कहीं बहुत से आदमियों की, पुरोहितों या धर्माचार्यों में बहुत ही अधिक श्रद्धा-भक्ति रही है। मिसाल के तौर पर योरप में ख़ासकर चौथी सदी से पन्द्रहवीं सदी तक रोमन कैथलिक ईसाई अपने पोप को बादशाह से भी अधिक मानते थे। पोप जिसे चाहता, उसे बादशाह बनाता, और जिसे चाहता उसे राजगद्दी से उतार देता या जाति-बाहर करके खूब परेशान करता था। पोप की इच्छा के विरुद्ध व्यवहार करनेवालों के लिए खास 'न्यायालय' थे, जो जुर्माने, जायदाद-ज़ब्ती और जीते जी जलाये जाने तक की सज़ा देते थे। धीरे-धीरे इन बातों में कमी हुई। बहुत से देशों में लोगों की यह भी समझ रही है कि राज्य को अपने क्षेत्र में एक विशेष धर्म मानना और उसका प्रचार करना चाहिए; दूसरे धर्म वालों को बहुत से सरकारी पदों या अधिकारों से वंचित रखना चाहिए। इसके कुछ उदाहरण अबतक भी मिलते हैं। पर पिछली सदियों में ज्यों-ज्यों विज्ञान और तर्क की उन्नति, आमदरफ़्त की वृद्धि, शिक्षा का प्रचार हुआ, लोगों के विचार बदलते गये। अब हर राज्य में जुदा-जुदा धर्मों के माननेवाले आपस में मिलकर, बहुत-कुछ बराबरी के आधार पर रहते हैं; किसी खास धर्म वालों की वहाँ ज़्यादह नहीं चलती। यह ज़रूरी समझा जाता है कि राज्य को लौकिक विषयों पर ही ध्यान देना चाहिए, और उसे धार्मिक विचारों के प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए।

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में भी धीरे-धीरे बहुत परिवर्तन होता रहा है। पुराने जमाने में राज्य का कार्य यही समझा जाता था कि शान्ति बनायी रखे, लोगों के झगड़ों या वादविवादों का फैसला करे, उनके जान-माल की रक्षा करे, और, बाहरी हमलों से बचावे। जो राज्य इतना

काम कर सकता था, उसका कर्तव्य पूरा हुआ समझा जाता था। यह काम ऐसा ही है, जिसे आजकल पुलिस, अदालतें और फौज करती हैं। इस तरह की विचारधारा को व्यक्तिवाद कहा जाता है। व्यक्तिवादियों का मत है कि व्यक्तियों को अपना-अपना कार्य स्वतंत्रता पूर्वक करने देना चाहिए, जब उनमें आपस में विवाद या झगड़ा हो तो राज्य उसे निपटा दे। लेकिन उसे उनके शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, बीमारी, बेकारी, मजदूरी आदि में कोई हस्तक्षेप न करना चाहिए। कारखानों के सम्बन्ध में राज्य को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं कि वहाँ मजदूर हर रोज कितने घंटे काम करते हैं, रात को भी काम होता है या सिर्फ दिन में ही, काम करनेवालों की उम्र क्या है, क्या वहाँ बालक और स्त्रियाँ भी काम करती हैं, कारखाने का स्थान कितना स्वास्थ्यप्रद है, मज़दूरों को कितना वेतन मिलता है, छुट्टी कितनी और कब मिलती है, इत्यादि। ये बातें पूंजीपति और मजदूरों के आपस में तय करने की हैं। जब वे दोनों सहमत हो तो राज्य को बीच में दखल देने की कोई ज़रूरत नहीं। इसी तरह तैयार माल में से कितना देश में रहे, कितना विदेशों को भेजा जाय, कीमत क्या रखी जाय, मुनाफा कहाँ तक रहे, कौनसा माल कितने परिमाण में विदेशों से मंगाया जाय—इन बातों को खरीदने-बेचने वाले जानें, राज्य को इनसे क्या मतलब!

पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में इस व्यक्तिवाद सिद्धान्त का बड़ा प्रचार था। सरकारों ने कारखानों के संचालन में किसी तरह का दखल न दिया, मज़दूरों के काम के घंटे बहुत रहे, उनके स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दिया गया, बालकों से भी काम लिया गया, मज़दूरी कम दी गयी। इन बातों से मजदूरों की हालत बहुत खराब हो गयी। लोकमत सरकार की, दखल न देने की नीति के विरुद्ध बढ़ता गया। तब कई राज्यों में कानून बनाकर कुछ सुधार किये गये।

इस तरह पिछली सदी में धीरे-धीरे राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता गया। राज्य शान्ति-स्थापना के अलावा लोगों के सामूहिक हित के ऐसे

बहुत से काम करने लगा, जिन्हें आदमी अलग-अलग न कर सकें, या जिनके करने में लोगों को आर्थिक या दूसरी तरह की कठिनाइयाँ हों। इन कार्यों से नागरिकों की तरह-तरह की ज़रूरतें पूरी होती हैं; ये उनकी शारीरिक, मानसिक, या सांस्कृतिक उन्नति के लिए उपयोगी होते हैं; मिसाल के तौर पर शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-रक्षा, चिकित्सा, यातायात के साधन, आर्थिक उन्नति, और समाज-सुधार आदि। इनमें से किसी काम का किसी राज्य द्वारा होना वहाँ की सामयिक परिस्थिति पर निर्भर रहा है। परन्तु आम तौर से अब राज्य ऐसे कार्य अधिकाधिक करते जाते हैं।* रूस की समाजवादी सरकार तो खेती, उद्योग-धंधे आदि करीब-करीब सभी कार्य कर रही है; दूसरे देशों में भी यह प्रवृत्ति बढ़ने की सम्भावना है। समाजवाद के बारे में खुलासा आगे लिखा जायगा।

राज्य अपने नये बढ़े हुए कामों के अलावा पुराने काम भी करता आ रहा है। उसके पुराने कामों का आकार या स्वरूप बहुत बढ़ गया है। उसका न्याय कार्य अब इतना ही नहीं रहा कि दो विरोधी पक्ष वाले नागरिकों के झगड़े का फैसला करे, या सरकारी कानून भंग करनेवालों को दंड दे; उसे ऐसे मामलों का भी विचार करना होता है, जो नागरिक खुद राज्य के विरुद्ध चलाते हैं। और, अनेक मामलों में न्यायाधीशों का निर्णय यह भी होता है राज्य 'अपराधी' है, या राज्य को अमुक कानून बनाने का अधिकार नहीं था, अथवा कानून का अर्थ ऐसा लेना चाहिए था।

पहले राज्य का क्षेत्रफल और आबादी बहुत थोड़ी होती थी; यहाँ तक कि दो-चार गाँवों या एक ही नगर का भी राज्य होता था। महाभारत के युद्ध के समय पांडव पांच गाँवों का राज्य लेकर ही संतोष

*अवैध या अनियंत्रित राजतंत्र में आदमी प्रायः यह चाहते हैं कि राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत परिमित रहे। राजतंत्र वैध होने पर या प्रजातंत्र प्रचलित होने पर, लोगों को अपनी सामूहिक आवश्यकताओं को पूरा करनेवाले काम राज्य द्वारा कराने में अपनी स्वतंता का अपहरण नहीं मालूम होता।

करने को तैयार थे। यूनान में, अब से दो-ढाई हजार वर्ष पहले तक नगर-राज्य थे। एक-एक नगर के नागरिक अपना-अपना शासन प्रबन्ध करते थे। धीरे-धीरे राज्यों का आकार बढ़ा। ज्यों-ज्यों आमदरफ़्त और यातायात के साधन बढ़े, एक नगर-राज्य के आदमियों को दूसरे नगर-राज्य वालों से मिलने जुलने और व्यापार आदि करने का प्रसंग बढ़ता गया। कभी एक राज्य ने दूसरे राज्य पर अधिकार करके अपना आकार बढ़ाया, और कभी दो या अधिक नगर-राज्यों ने मिलकर अपना एक संघ बना लिया, जिसका उद्देश्य यह था कि आपसी युद्धों को रोका जाय, और अगर कोई बाहरी राज्य इनपर धावा करे तो अपनी इकट्ठी ताकत से उसका मुकाबला किया जाय। इस तरह कभी युद्ध से, और कभी मित्रता से, नगर-राज्य बढ़ते-बढ़ते अन्त में देश-राज्य बन गये। जिस तरह पहले कुछ नगर-राज्यों के संघ बने, उसी तरह बड़े-बड़े राज्यों के भी समय-समय पर संघ बने। मिसाल के तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका के संघ-राज्य में अब ४८ राज्य शामिल हैं। इसी तरह रूस और स्विटजरलैंड में भी संघ-राज्य कायम हैं।

सोलहवीं सदी से कुछ राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर बनने लगे। इन्हें राष्ट्र-राज्य कहा जाता है। योरप में इस समय एक-एक जाति या संस्कृति के आदमियों ने अपना-अपना राज्य बनाना शुरू किया। फ्रांस, जर्मनी, इटली, टर्की आदि राज्य इसी तरह बने। उस समय राष्ट्रीयता की लहर बड़े जोर पर थी। पीछे जाकर वह वैसी प्रबल न रही, या न रह सकी। अब कोई राज्य किसी एक विशेष राष्ट्रीयता के ही आदमियों का नहीं होता, उसमें थोड़े-बहुत आदमी दूसरी राष्ट्रीयता के भी होते हैं।

बहुत प्राचीन समय से कुछ राजा अपने-अपने राज्य से संतुष्ट न होकर दूसरे देशों पर अधिकार जमाते रहे हैं। पहले, राजा अपनी धौंस जमाने के लिए या अपने नागिरिकों को दूसरे देशवालों से सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि से मिलाने के लिए दूसरे राज्यों को जीतते और अपना साम्राज्य स्थापित करते थे। वे अपने अधीन देशों के भीतरी

शासन-प्रबन्ध में विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे। पिछली सदी में मशीनों और कल कारखानों से माल बहुत अधिक तैयार होने लगा, यहाँ तक कि वह अपने देश में न खप सका। अपने अधिक माल को बेचने के लिए नये-नये बाजारों की खोज होने लगी। कमज़ोर देशों पर अधिकार जमाने के लिए बड़े-बड़े राष्ट्रों ने भारी कोशिश की। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में पूँजीवाद की लहर खास तौर से बढ़ी। अब बड़े-बड़े साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने अधीन देशों से कच्चा माल सस्ते भाव से लेकर और उन्हें अपना तैयार माल मंहगे भाव बेचकर उनका खूब शोषण करने लगे। आधुनिक साम्राज्यवाद का जन्म इसी समय से माना जाता है। इसके कारण बड़े-बड़े राष्ट्रों में बहुत बड़े-बड़े युद्ध हुए, जिनसे संसार भर में संकट पैदा हुआ। इस विषय में खुलासा आगे लिखा जायगा। अब साम्राज्यवाद का जगह-जगह कसकर विरोध हो रहा है। इसलिए यह निश्चित है कि उसका अन्त होकर रहेगा।

पहले छोटे-छोटे राज्य बने, पीछे आदमियों ने नगर-राज्यों से काम चलाया, फिर कुछ-कुछ नगर राज्यों को मिलाकर उनके संघ बनाये गये, या एक राज्य ने दूसरों को जीतकर अपना विस्तार किया। राज्यों का आकार बढ़ा; राष्ट्र-राज्य या देश-राज्यों का निर्माण हुआ। फिर इन राज्यों में से भी कुछ के संघ बने, और किसी ने साम्राज्य का स्वरूप धारण किया। इस तरह ऐसे राज्य के बनने की दिशा में प्रगति हो रही है, जिसमें ज्यादह-ज्यादह भूमि हो, और ज्यादह-ज्यादह जनता का राजनैतिक और आर्थिक संगठन हो; यहाँ तक कि संसार भर में एक राज्य हो। मनुष्य जाति की राजनैतिक प्रगति का लक्ष्य विश्व-संघ बनाना है।

तेईसवाँ अध्याय

शासनपद्धति

पिछले अध्याय में इस बात का विचार किया गया कि राज्य के स्वरूप, कार्यक्षेत्र और आकार आदि के विषय में समय-समय पर क्या-क्या परिवर्तन हुआ है। अब शासनपद्धति के विकास के बारे में विचार करें।

प्राचीन यूनान के मशहूर राजनीतिज्ञ अरस्तू (एरिस्टाटल) का कथन है कि शुरू में राजा का शासन हुआ; कारण उस समय राज्य छोटे-छोटे, एक-एक नगर के ही थे, और उन राज्यों में गुणवान् आदमी कम थे। धीरे-धीरे गुणवानों की संख्या बढ़ी। इन्हें एक आदमी की हकूमत सहन न हुई। इन्होंने अपना समूह बनाया और राज्य करने लगे। पीछे ये जनता के धन से धनवान् होने लगे। धन से जनता में आदर मान होने लगा। इस तरह धनवानों का शासन शुरू हुआ। पीछे धन की तृष्णा से इनका पतन हुआ और इनकी जगह एक स्वेच्छाचारी आदमी की हकूमत आयी। इससे जनता को जोर मिला और उसने शासन का अधिकार हासिल किया। यह आखिर में झुंड-तन्त्र में बदल गया।

अरस्तू के इस मत का आधार बहुत-कुछ यूनान के नगर-राज्यों का इतिहास है। दूसरे लेखकों के, इस विषय में अपने-अपने विचार हैं। इसके अलावा, कुछ शासनपद्धतियाँ ऐसी भी रही हैं, और अब तो बहुत ज्यादह हैं, जिन्हें न तो शुद्ध राजतन्त्र ही कहा जा सकता है, न शुद्ध उच्च जनतन्त्र, या कुलीन तंत्र, और न शुद्ध लोकतन्त्र ही। उनमें इन भेदों में से दो-दो के, और किसी-किसी में तो तीनों के ही कुछ-कुछ लक्षण मिलते हैं। ये शासनपद्धतियाँ 'मिश्रित' हैं।

यह कहा जा सकता है कि शुरू में जो शासनपद्धति प्रचलित हुई, उसमें राज्य की बागडोर अकसर एक ही आदमी (राजा) के हाथ में थी, राज्य के सब कर्मचारी उसके अधीन होते थे। वह अपने सलाहकारों की मदद से, पुराने रिवाजों के अनुसार शासन करता था। उसकी शक्ति ज्यादहतर शारीरिक होती थी—भाले, तीर तलवार आदि की। पीछे उसे धर्म का भी सहारा मिलने लगा। लोगों की यह धारणा होने लगी कि राजा तो ईश्वर का प्रतिनिधि है। समय-समय पर बहुत से धर्माचार्यों ने ऐसे विचारों का प्रचार किया। इस तरह धर्म का सहारा पाकर राजा की गद्दी और भी सुरक्षित होने लगी। धीरे-धीरे राजाओं के अधिकार बदल गये। वे फिजूल-खर्ची, अन्याय या अत्याचार करते तो कोई उनका विरोध न करता; आदमी ज़्यादातर श्रद्धालु या विश्वासी थे। वे स्वतन्त्र विचार नहीं करते थे। हाँ, राजा भी अकसर जनता के हित में ही अपना हित मानते थे। फिर उन्हें यह भी आशंका रहती थी कि सताये जाने पर आदमी कहीं विद्रोह या बगावत न कर बैठें।

पहले जुदा-जुदा कबीलों में लड़ाई होती रहती थी, और लूटमार का बड़ा डर रहता था। राज्य की स्थापना होने पर लोगों की जान-माल पहले से अधिक सुरक्षित होने लगी। कितने ही राजा तो अपनी प्रजा की उन्नति के लिए खुद तकलीफ उठाने के लिए तैयार रहते थे। भारतवर्ष में राजा रामचन्द्र का शासन इतना बढ़िया रहा कि रामराज्य का अर्थ ही अच्छा, आदर्श राज्य हो गया। हिन्दुस्तान में, और दूसरे देशों में अच्छे-अच्छे राजाओं की कितनी ही मिसालें मिलती हैं। तो भी इतिहास में अकसर यही देखने में आया है कि हजारों या लाखों आदमियों पर हकूमत करनेवालों में विरले ही ऐसे होते हैं, जो स्वार्थी और अत्याचारी या भोग-विलास में फंसनेवाले न हों। इसलिए राजाओं पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता हुई। बहुत से स्थानों में राजतंत्र को अवैध न रख कर वैध बनाया गया, अर्थात् राजा को निर्धारित नियमों के अनुसार काम करनेवाला बनाया गया।

भारतवर्ष में राजतंत्र बहुत पुराने जमाने से प्रचलित रहा है। लेकिन शास्त्रों में यह साफ तौर से बताया गया है कि कैसे गुणों वाला आदमी राजा बनना चाहिए। राजा बनने से पहले उसकी शिक्षा-दीक्षा किस तरह की हो; किस प्रकार शुरू से ही उसमें अच्छे संस्कार डाले जायँ, जिससे वह विचारशील, सयमी, दूरदर्शी उत्साही, धन को ठीक तरह से खर्च करने वाला, काम क्रोध, लोभ मोह से दूर रहनेवाला हो। यहाँ प्राचीन नीतिकारों ने अब से हजारों वर्ष पहले राजा को ऋषियों या विद्वानों के नियंत्रण में रखने की व्यवस्था की थी। उन्होंने यह माना है कि राजा से भी गलती हो सकती है, इस लिए उन्होंने उसके गलती करने पर उसके लिए तरह-तरह के दंड ठहराये हैं। कौटिल्य ने अयोग्य राजा को गद्दी से उतारने और उसकी जगह दूसरा बैठाने, तथा अधर्मी और प्रजा का तिरस्कार करनेवाले राजा के मारे जाने की भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सूचना दी है। इस तरह अब से दो हजार वर्ष से भी पहले भारतवर्ष में राजतंत्र वैध या नियंत्रित था।

इस ज़माने में अवैध शासक के बजाय वैध शासक होने का एक अच्छा उदाहरण इङ्गलैण्ड का बादशाह है। पहले वहाँ बादशाह स्वेच्छाचारी होते थे। तेरहवीं सदी से जनता ने बादशाह की मनमानी कार्रवाइयों को रोकने और उस पर नियंत्रण रखने का संगठित प्रयत्न किया। धीरे-धीरे उसे सफलता मिली। इस समय शासन-विधान के अनुसार बादशाह को अपरिमित अधिकार हैं, लेकिन अब वह कोई भी शासन-कार्य, केवल अपनी इच्छा से नहीं कर सकता। हरेक काम का निश्चय प्रधान मंत्री करता है; और प्रधान मंत्री और दूसरे मंत्री ब्रिटिश पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी होते हैं, जिसके सदस्यों का चुनाव जनता करती है। शासननीति पार्लिमेंट ठहराती है; मंत्री उसे अमल में लाते हैं। हाँ, सब मुख्य कार्य बादशाह के नाम और हस्ताक्षर से किये जाते हैं। बादशाह को न्याय के मामलों में भी दखल देने का अधिकार नहीं है; वह सिर्फ कुछ खास हालतों में अपराधियों को क्षमा कर सकता है। सरकारी ख़जाने से उसे हर साल एक

ठहरायी हुई रकम मिलती है, अगर वह इस रकम से कुछ भी अधिक लेना चाहे तो उसे पार्लिमेंट की मंजूरी लेनी होती है। यह स्पष्ट है कि वैध राजतन्त्र में राजा की शक्ति बहुत परिमित होती है।

पहले, राजा चुना हुआ होता था; इसका मतलब यही है कि एक राजा या सरदार आदि के मरने पर, वहाँ के लोगों में जो आदमी सब से अधिक बलवान, और खासकर लड़ने में होशियार होता था, उसे ही राजा बना लिया जाता था। अक्सर राजा उसी आदमी को बनाया जाता था, जिसने राजा के पास रह कर उसके काम में मदद दी हो, और जिसे इस काम का अनुभव हो। कभी-कभी राजा अपने जीवन-काल में ही यह तय कर देता था, कि उसके बाद किसे राजा बनाया जाय। राजा की नजर अपने ही आदमियों पर—मित्रों, रिश्तेदारों या लड़कों पर—पड़नी स्वाभाविक थी। धीरे-धीरे कुछ तो राजा की इच्छा से, कुछ राजपुत्रों के स्वाभाविक गुणों से, और कुछ राजा के खुशामदियों आदि के कारण राजा का बड़ा लड़का राज्य का उत्तराधिकारी होने लगा। आम तौर से गुणकर्म के अनुसार चुना हुआ राजा ही अच्छा रहता है। लेकिन अकसर राजा के रिश्तेदारों का, और उसके मित्रों आदि का ऐसा प्रभाव होता है कि दूसरे खानदान के आदमियों में से राजा का चुनाव करने में बहुत कठिनाई होती है। इसलिए अब इस पद्धति का विशेष प्रचार नहीं है। हाँ, राजा अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करे, इसलिए अब ज्यादातर वैध राजतंत्र की प्रथा प्रचलित है।

ऊपर राजतंत्र की बात कही गयी है, इस पद्धति के अलावा संसार के जुदा-जुदा देशों में समय समय पर कई दूसरी पद्धतियाँ भी जारी रही हैं। इनके मुख्य दो भेद हैं—उच्च जनतन्त्र या कुलीन तन्त्र, और (२) लोकतन्त्र। कुलीनतन्त्र में राजसत्ता या शासन-अधिकार एक आदमी को न होकर ऊंचे घराने के आदमियों को, या धनवानों या पुरोहितों आदि को होता है। इस पद्धति का आधार धन या वंश होता है; इससे जागृति या विकास का अवसर थोड़े ही आदमियों को मिलता है, सर्वसाधारण जनता को नहीं।

धीरे-धीरे लोगों ने यह अनुभव किया कि सब से अच्छी शासन-पद्धति वही है, जिसमें जागृति या विकास का अवसर अधिक-से-अधिक जनता को मिले। लेकिन जनता में किन-किन आदमियों को शामिल किया जाय? पागल या कोढ़ी और नाबालिग आदमियों को तो आम तौर से शासन-कार्य में भाग लेने के योग्य नहीं माना जाता। इनके अलावा पुराने ज़माने में स्त्रियों को भी शासन-कार्य से अलग रखा जाता था। प्राचीन यूनान और रोम आदि में दास-प्रथा (गुलामी) बड़े जोर पर थी; कुल आबादी में दासों की खासी संख्या होती थी। वे भी शासन सम्बन्धी कार्यों में हिस्सा नहीं ले सकते थे। इन सबको निकाल देने पर जो आदमी बाकी रहते थे, वे ही प्राचीन यूनान आदि में राजनैतिक विषयों का विचार किया करते थे। तो भी इसे उस समय जनतन्त्र या प्रजातन्त्र कहा जाता था।

जब राज्य छोटे-छोटे थे, नगर-राज्यों का युग था, तो वहाँ के शासन-कार्य और कानून बनाने में सारी जनता (पागल, कोढ़ी नाबालिग, स्त्रियाँ और गुलाम छोड़ कर) हिस्सा ले सकती थी। धीरे-धीरे राज्य बड़े होते गये; कानून का काम भी बढ़ता गया। तब सारी जनता का उसमें भाग लेना सम्भव न रहा। कुछ खास-खास आदमियों से ही यह काम चलाया जाने लगा। आहिस्ता-आहिस्ता प्रतिनिधि-प्रणाली का आविष्कार हुआ। आदमी अपनी ओर से कुछ प्रतिनिधि चुनने लगे, जो कानून बनावें, और शासन सम्बन्धी कार्य करें। धीरे-धीरे गुलामी कम हुई, और, आखिर उठ ही गयी। स्त्रियों को भी मताधिकार दिया जाने लगा; कुछ देशों में उनका यह अधिकार अभी काफी नहीं है, फिर भी यह बढ़ता जा रहा है।

लोकतन्त्र में व्यवस्थापक (कानून बनानेवाली) सभा जनता के प्रतिनिधियों की होती है। प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्यों को राष्ट्रपति नियत करता है, और राष्ट्रपति का चुनाव जनता यानी निर्वाचकों द्वारा होता है। इस तरह शासक और व्यवस्थापक मंडल दोनों ही जनता के प्रति जवाबदेह होते हैं। इससे यह साफ जाहिर है कि लोकतन्त्र या

प्रजातन्त्र में शासन की बागडोर जनता के हाथ में रहती है, किसी एक आदमी, या कुछ थोड़े से आदमियों के हाथ में नहीं। इसका आदर्श मनुष्य जाति से जन्म, वंश, जाति या धर्म का भेदभाव दूर कर सबको समान रूप से उन्नति या विकास का अवसर देना है। यह शासनपद्धति दूसरी शासनपद्धतियों से अच्छी समझी जाती है, और अब अधिकांश उन्नत देशों में किसी-न-किसी रूप में यही जारी है।

लेकिन इस पद्धति में भी कई गम्भीर दोष हैं। लोकतन्त्र जनता का शासन है। इसमें आदमियों के गुणों का ध्यान न रख कर, संख्या को महत्व दिया जाता है। यह माना जाता है कि सब आदमियों में शासन सम्बन्धी बातों का विचार करने की योग्यता है, और यह योग्यता बराबर-बराबर है। लेकिन असल में यह बात नहीं है। इसका कड़ुआ अनुभव हमें निर्वाचन के अवसर पर खूब होता है। मतदाता अकसर यह जानते हुए भी कि अमुक आदमी अच्छा प्रतिनिधि साबित न होगा, भय, लालच, रिश्तेदारी या दोस्ती आदि के लिहाज से उसके लिए अपना मत दे देते हैं, और पीछे प्रतिनिधियों के अयोग्य होने और खराब कानून बनाये जाने की शिकायत करते हैं। यहाँ तक कि प्रजातन्त्र के असफल या नाकामयाब होने की घोषणा की जाती है। बात यह है कि लोकतन्त्र उसी हालत में सफल हो सकता है, जब आदमियों में काफी बुद्धि, योग्यता, और अपनी जिम्मेवरी समझने की भावना हो। इस शर्त के पूरी होने में जितनी कमी रहती है, उतने ही अंश में लोकतन्त्र का असफल रहना स्वाभाविक है।

इस विषय पर दूसरी तरह से भी विचार किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि असल में इस समय खासकर रूस को छोड़ कर और कहीं शुद्ध लोकतन्त्र है ही नहीं। मिसाल के तौर पर इंगलैंड की शासनपद्धति लीजिए। वहाँ, शासन में पूँजीपतियों, कल-कारखानों के मालिकों या संचालकों आदि का बड़ा हाथ रहता है। पार्लिमेंट की निचली सभा (कामन्स सभा) के बहुत से सदस्य वे ही आदमी हो सकते हैं, जिन्हें पूँजीपति आदि चाहें। और, ऊपरली सभा (लार्ड-सभा)

के सदस्य तो खानदानी अमीर, जागीरदार, पादरी आदि होते ही हैं। इसके अलावा मन्त्रिमंडल में भी कम्पनियों या कारखानों से सम्बन्ध रखनेवालों का काफी प्रभाव रहता है। इस तरह असल में, इंगलैंड के शासन को लोकतन्त्री कहना भूल है। वह तो धनिकतन्त्र या पूँजीवादी तन्त्र है। इसे धनसत्तात्मक लोकतन्त्र कहा जा सकता है; पर यह तो लोकतन्त्र का मजाक ही है। यही बात संयुक्तराज्य अमरीका आदि के बारे में कही जा सकती है, जहाँ बादशाह न होने, और सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति होने पर भी शासन में ज्यादहतर पूँजीपतियों का ही बोलबाला है।

जो हो, मौजूदा राजनैतिक व्यवस्था संतोषप्रद नहीं है। इसमें अभी बहुत सुधार करना है। हरेक आदमी में समाज की राजनैतिक गतिविधि समझने उसमें भाग लेने के लिए योग्य बनने, और और अपनी योग्यता का आज़ादी से उपयोग करने की क्षमता होनी चाहिए। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए कुछ योजनाएँ बन रही हैं; अभी बहुत प्रगति की ज़रूरत है।

पिछले अध्याय में संघ-राज्यों का ज़िक्र किया गया है। संघ-राज्य की शासनपद्धति की कुछ मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—संघ में जो राज्य शामिल होते हैं, उन्हें अपने भीतरी शासन प्रबन्ध में स्वतन्त्रता होती है। वे अपनी आमदनी का कुछ हिस्सा और अपने कुछ अधिकार संघ-सरकार को दे देते हैं। संघ-सरकार उन राज्यों के आपसी झगड़े मिटाने और उनकी बाहरी हमलों से रक्षा करने के अलावा उनकी सामूहिक उन्नति की व्यवस्था करती है। विधान में यह बात साफ लिखी रहती है कि किन विषयों में संघ-सरकार को अधिकार होगा, और किन विषयों में संघ के जुदा-जुदा राज्यों को। कुछ विषय ऐसे भी हो सकते हैं, जिनके बारे में दोनों को ही अधिकार हो। अगर कभी शासन सम्बन्धी किसी विषय में संघ-सरकार, और संघ के किसी राज्य की सरकार में मतभेद हो तो उसका निपटारा संघ-न्यायालय करता है।

हमने पिछले अध्याय में कहा है कि मनुष्य जाति की राजनैतिक

प्रगति का लक्ष्य अलग-अलग राज्यों का आपस में मिलकर सब का एक राज्य, विश्व-राज्य बनना है। उसका शासन संघ-राज्यों के शासन की तरह होगा; यानी उसमें सत्र-शासनपद्धति व्यवहार में लायी जायगी। इस विषय की ब्योरेवार बातें धीरे-धीरे समय पर तय होंगी। उनके सम्बन्ध में इस समय हमारी क्या कल्पनाएँ हैं, यह हमने अपनी 'विश्व-संघ की ओर' पुस्तक में बताया है।

चौबीसवाँ अध्याय

कानून

पिछले दो अध्यायों में राज्य और शासनपद्धति के बारे में विचार किया गया है। हरेक राज्य के कुछ कानून होते हैं; ये कानून समय-समय पर बनते और बदलते रहते हैं। राज्य के सब आदमियों को अपने समय के कानूनों का पालन करना होता है। जिस आदमी के बारे में यह समझा जाता है कि इसने कोई कानून भंग किया है, उसके सम्बन्ध में राज्य के न्यायालय में विचार होता है, और यदि वह आदमी दोषी पाया जाता है तो उसे दंड दिया जाता है, या उसके सुधार की व्यवस्था की जाती है।*

पुराने जमाने में, राज्यों में कानून बनाने और फैसला करने का काम कम ही होता था। भारतवर्ष के विषय में तो यह मशहूर ही है कि यहाँ नियमों या कानूनों का मूल श्रोत धर्मशास्त्र माने जाते थे। धर्म-शास्त्र के आदेशों में फेर-बदल करने का अधिकार राजा या किसी सरकारी संस्था को नहीं था। जब कभी किसी नियम को समझने में

---

* आदमी के दंड सम्बन्धी विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा है। अपराधी को अब एक प्रकार का रोगी समझा जाता है, जिसका इलाज या सुधार होने की ज़रूरत है। इस विषय में विस्तार से हमारी 'अपराध-चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है।

कुछ कठिनाई होती या उसके अर्थ में कुछ संदेह होता था तो गाँव या नगर के बड़े-बूढ़ों की राय ली जाती थी, जिनमें सभी वर्णों के आदमी होते थे। न्याय सम्बन्धी बहुत सा कार्य भी स्थानीय आदमी, पंच या मुखिया आदि किया करते थे। प्राचीन काल में पंचायतों का बड़ा ज़ोर था, भारतवर्ष में तो वे बहुत ही प्रभावशाली थीं। इनके सदस्य बड़े-बूढ़े और अनुभवी आदमी होते थे। आजकल भी पंचायतों के सदस्यों में प्रौढ़ता या बड़ी उम्र का होना जरूरी माना जाता है।

कुछ देशों में, शुरू में राजा को ही कानून बनाने का अधिकार रहा। वह कुछ खास-खास तरह के नियमों के विषय में अपने राज्य के प्रतिष्ठित आदमियों—सरदार, सामन्त, ज़मींदार, जागीरदार, महन्त, धर्माचार्य, महाजन, सेठ आदि—से सलाह ले लिया करता था। बादशाह के इन सलाहकारों की सभा का धीरे-धीरे विकास हुआ। इसके सदस्यों की संख्या बढ़ी। कहीं कहीं तो राज्य के सभी प्रौढ़ आदमियों को सभा में भाग लेने का अधिकार रहा, और कहीं सदस्यों के लिए सम्पत्ति या शिक्षा सम्बन्धी योग्यता निर्धारित की गयी। इस सभा को व्यवस्थापक सभा कहा जाने लगा।

प्राचीन काल में कानून बनानेवाली या इस काम में राजा को सलाह देनेवाली सभा में जागीरदार, सरदार, लाट पादरी आदि बड़े-बड़े आदमी होते थे। पीछे धीरे-धीरे साधारण आदमियों को भी कानून बनाने में भाग लेने का अधिकार मिला, और एक की जगह दो-दो सभाएँ कानून बनाने लगीं।

दो सभाओं में से जिसमें आम लोगों के प्रतिनिधि होते हैं; उसे छोटी सभा या निचली सभा ('लोअर हाउस) कहते हैं; और जिस सभा में धनी-मानी या प्रतिष्ठित सदस्य होते हैं, या (संघ-शासन की हालत में) जिसमें जुदा-जुदा राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं, उसे बड़ी सभा, या ऊपरली सभा (अपर हाउस) या दूसरी सभा ('सेकिंड चेम्बर') कहते हैं। यों निचली सभा में सदस्य ज़्यादह होते हैं, और

खासकर आर्थिक विषयों में उसके अधिकार भी ज्यादह होते हैं। साधारण कानून दोनों सभाओं की मंजूरी से बनते हैं। आम तौर से, आर्थिक विषयों को छोड़ कर, दूसरे विषयों में दोनों सभाओं का अधिकार बराबर होता है। लेकिन निचली सभा में आम लोगों के प्रतिनिधि होने से वही जनता का मत ज़ाहिर करने वाली मानी जाती है। अधिकांश राज्यों में ऊपरली सभाका महत्व बहुत कम रह गया है। मिसाल के तौर पर इंगलैंड में लार्ड-सभा (धन सम्बन्धी प्रस्तावों को छोड़ कर) सार्वजनिक कानून के प्रस्तावों को अधिक-से-अधिक दो वर्ष तक कानून बनने से रोक सकती है। उसके बाद तो, उसके विरोध करने पर भी कामन्स सभा द्वारा तीन बार मञ्जूर किये जाने पर कानून बन जाता है। धन सम्बन्धी कानून का प्रस्ताव पहले कामन्स सभा में ही पेश किया जाता है, पीछे लार्ड सभा में भेजा जाता है, और उसके द्वारा संशोधित किये जाने पर भी वह बादशाह की मञ्जूरी के लिए उसी रूप में जाता है, जिसमें कामन्स सभा से मञ्जूर हुआ हो।

दूसरी सभा से यह लाभ समझा जाता है कि कानून बनने में जल्दबाजी नहीं होती, और धनी-मानी आदि ऐसे लोगों का भी कानून बनाने में काफी भाग रहता है, और उनका भी दृष्टिकोण सामने आ जाता है, जो राज्य में अल्पसंख्यक होते हैं। लेकिन इस सभा से नुकसान भी बहुत है। जब जनता बहुत प्रगतिशील होती है, आदमी क्रान्तिकारी सुधार चाहते हैं तो इस सभा की कार्रवाई से बड़ी बाधा होती है। काम में इतनी देर लगने की संम्भावना रहती है कि जनता का जोश ही ठंडा पड़ जाय। फिर पूंजीपति, जमींदार या महन्त आदि अकसर पुराने विचारों के, और सुधार-विरोधी होते हैं। इस तरह दूसरी सभा एक समस्या ही है। इसे हटाना भी कठिन मालूम पड़ता है, और सुधारना भी आसान नहीं है। इङ्गलैंड आदि कई देशों में इस विषय पर विचार हो रहा है।

समाज में आदमियों के आपसी सम्बन्ध, व्यवहार, रहनसहन आदि

जटिल होते रहे हैं। लोगों की जरूरतें बढ़ गयी हैं, और उन जरूरतों को पूरी करने के तरीके भी नये-नये निकलते रहे हैं। इसलिए उन्हें अब कायदे कानूनों की ज़रूरत बहुत ज्यादा मालूम होती है। व्यवस्थापक सभाओं को नित्य नये कानून बनाने या पुराने कानूनों को संशोधन करने का काम रहता है। कानून चोरी, ठगी, धोखेबाजी, या हत्या आदि का निषेध करता है, लेकिन उसका काम केवल यह ही नहीं होता कि लोगों को यह कहता रहे कि यह काम मत करो, वह काम मत करो। वह तो उसके काम का एक हिस्सा है। कानून असल में समाज की इच्छा को ठीक निश्चित रूप में ज़ाहिर करने की कोशिश करता है। समाज जिस काम को कराना चाहता है, उसके करने में मदद देने के लिए कानून का उपयोग करता है। कानून द्वारा देश में शिक्षा, स्वास्थ्य, आमदरफ़्त आदि का इन्तज़ाम किया जाता है। कानून लोगों को ऐसे नियम बताता है जिनसे वे आपस में मिलजुल कर रह सकें, और अच्छी तरह काम कर सकें।

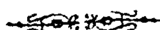
स्वाधीन प्रजातन्त्र देशों में कानून वहाँ के ही आदमियों के प्रतिनिधियों के द्वारा बनाये जाते हैं। कानून जितने अच्छे होंगे, उतना ही उनसे नागरिकों का रहन-सहन और व्यवहार आदि अच्छा होने में अधिक सहायता मिलेगी। इसलिए यह ज़रूरी है कि वे खूब सोच समझ कर, निरपक्ष भाव और उदार दृष्टिकोण से बनाये जायँ। साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि कानून द्वारा राज्य हमारे कामों में बहुत अधिक या अनावश्यक हस्तक्षेप न करे। आमतौर से यह प्रवृत्ति रहती है कि राज्य का हस्तक्षेप अधिकाधिक होता जाय; और, नागरिकों को अपने आवश्यक कर्तव्य-पालन करने के लिए जो सुविधाएँ या स्वाभाविक अधिकार होने चाहिएँ, वे कम होते जायँ। ऐसा न होने देने के लिए नागरिकों को सदैव सतर्क रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यकता है कि (१) सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ रहें, कोई नागरिक उससे वंचित न हो, (२) समाज के किसी अंग को जाति, रंग या धर्म के आधार पर विशेष

अधिकार न रहें, सब से निस्पक्ष, समानता का व्यवहार हो; (३) नागरिकों को धार्मिक, सामाजिक, और भाषण, लेखन और प्रकाशन आदि की स्वतन्त्रता रहे; हरेक आदमी को अपने विचार प्रकट करने की आज़ादी रहे; हाँ, वह इस अधिकार का दुरुपयोग न करे, और समाज को हानि न पहुँचावे। (४) कानून का जनता की भाषा में खूब प्रचार हो जाना चाहिए। अगर ज़रूरत हो तो उसे एक से अधिक भाषाओं में प्रकाशित किया जाय, जिससे हर नागरिक उसे जान सके। यदि नागरिकों को कानून का ज्ञान ही न हो तो वे उसका पालन कैसे कर सकते हैं! यदि जनता अशिक्षित है और बहुत से आदमी क़ानून सम्बन्धी सूचनाओं को पढ़ नहीं सकते तो राज्य का कर्तव्य है कि मुनादी यानी ढिंढोरे से लोगों को सूचित करता रहे। लेकिन यह उपाय अस्थायी ही समझा जाय। राज्य पर इस बात की जिम्मेवरी है कि कि वह जल्दी-से-जल्दी जनता को शिक्षित करे।

यहाँ यह ज़िक्र करना ज़रूरी है कि अब लोगों का जीवन इतना जटिल हो गया है कि छोटी-बड़ी सभी बातों के लिए कानून नहीं बनाये जा सकते। फिर, अगर आदमियों की मनोवृत्ति ठीक हो तो वे क़ानून से बचने और उसे व्यर्थ सिद्ध करने का कोई न कोई रास्ता निकालने की कोशिश किया करते हैं। हम देखते हैं कि इस युग में कायदे क़ानूनों के बड़े-बड़े पोथे तैयार हो गये हैं, और प्रत्येक राज्य में उन को समझाने और समझनेवाले वकील, बैरिस्टर, एडवोकेट, सॉलिसिटर आदि का एक बड़ा समूह रहता है। तथापि कितने ही काम ऐसे हैं, जो विचारवान व्यक्तियों द्वारा अनुचित समझे जाने पर भी कानून की दृष्टि में अपराध नहीं है। चतुर चालाक आदमी विविध अनैतिक मार्गों से अपना स्वार्थ-साधन करते रहकर भी कानून की पकड़ में नहीं आते। आवश्यकता है कि आदमी सिर्फ़ कानून के शब्दों को ही न देखें, बल्कि उसकी भावना और उद्देश्य का आदर करें, और समाज-हित के लिए कानून का अच्छी तरह पालन करें।

पच्चीसवाँ अध्याय

युद्ध



प्रत्येक युद्ध में नये-नये शस्त्रास्त्र बनते चले जाते हैं। पिछला युद्ध समाप्त हुआ था टैंक और हवाई जहाजों के प्रयोग से। यह युद्ध आरम्भ हुआ उन हथियारों से, और समाप्त हुआ नये अणुबम से। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगला युद्ध, आरम्भ होगा अणुबम से, और समाप्त होगा महाप्रलय से।......इसकी महौषधि केवल एक ही है—हिंसा का छोड़ना, अहिंसा का पालन करना।

—डा० कैलाशनाथ काटजू

आदमी लड़ता है, और पशु भी। इस तरह इस बात में आदमी पशु से मिलता है। हाँ, पशु अब भी लाखों वर्ष पहले की तरह ही लड़ते हैं, और आदमी के लड़ने के ढंग में पहले से बहुत फरक हो गया है। आदमी ने लड़ने की शिक्षा पा ली है और धीरे-धीरे युद्ध का भी विज्ञान बना लिया है, जिसमें पिछले वर्षों में बहुत उन्नति हुई है, और अब अधिकाधिक उन्नति होती जा रही है।

शुरू में आदमी को अपना भोजन हासिल करने की कोशिश में, या अपनी रक्षा के लिए पशुओं से लड़ना होता था। पशुओं से लड़ने में आदमी पहले अपने हाथ तथा लकड़ी का उपयोग करता था। इसके बाद पत्थर, और उसके बहुत मुद्दत के बाद धातुओं से काम लिया जाने लगा। इसी बीच में एक आदमी दूसरे आदमी से भी लड़ने लग गया। शुरू में वह छोटे-छोटे कबीलों या कुलों में रहता था, जो एक-दूसरे से अलग और दूर-दूर रहा करते थे। उन्हें शिकार के लिए जमीन के बड़े-बड़े टुकड़ों की ज़रूरत होती थी। जो 'शिकारगाह' अच्छी होती थी, उसे हथियाने के लिए दूसरे कबीले भी कोशिश करते थे। इस

लिए कबीलों में आपस में जमीन के लिए, या वहाँ मिलनेवाले सामान के लिए झगड़ा होता था।

कबीलों में लड़ाई की एक और भी वजह होती थी। अकसर आदमी केवल शिकार करता और लड़ता था। काम-धंधा करने का सब भार स्त्री पर था। वह आदमी के लिए बहुत उपयोगी और सुख देनेवाली थी। इसलिए हर कबीले के आदमियों की यह इच्छा रहती थी कि दूसरे कबीले की स्त्रियों को पकड़ लिया जाय, और उनसे काम लिया जाय। इस तरह कबीलों में लड़ाई की एक वजह स्त्री भी होती थी।

जब आदमी पशुओं को पालने और खेती करने लगा तो कुछ लोगों के पास जानवर या अनाज आदि के रूप में धन जमा होने लगा। दूसरे आदमियों में इससे ईर्षा या डाह पैदा होने लगी। फिर कुछ आदमी ऐसे भी थे, जिनके पास यह धन उनकी ज़रूरत से कम था। इनकी यह इच्छा रहती कि किसी तरह से दूसरों का धन हथिया लिया जाय। इस तरह अब धन के कारण भी लोगों में आपस में लड़ाई होने लगी। इससे जाहिर हुआ कि प्राचीन काल में लड़ाई जमीन, स्त्री या धन के लिए होती थी। अब भी कहावत है कि जोरू (स्त्री), ज़र (सम्पत्ति) और ज़मीन ही लड़ाई के मुख्य कारण हैं।

लडाई के मूल कारण, पहले के समान होते हुए भी, अब व्यवहार में कुछ अन्तर आ गया है। प्राचीन काल में दो कबीलों की स्त्रियों के लिए लड़ाई होने की बात कही गयी है। इसके अलावा कभी-कभी एक राजा अपने राज्य से बाहर की किसी स्त्री को बल-पूर्वक लेना चाहता था, और अगर यह स्त्री राजघराने की होती, या इसके परिवार को राज्य का आश्रय मिल जाता तो दो राज्यों में लड़ाई ठन जाती थी। अब स्त्री के लिए दो कबीलों की लड़ाई बहुत कम होती है, और दो राज्यों की लड़ाई तो प्रायः होती ही नहीं। हाँ, दो आदमियों में झगड़ा अकसर हो जाया करता है, और जब इन दोनों आदमियों को कुछ-कुछ समर्थक मिल जाते हैं तो झगड़े का रूप कुछ बड़ा हो

जाता है। फिर भी प्राचीन काल की अपेक्षा अब उसका परिणाम बहुत कम ही रहता है।

पहले बहुत सी लड़ाइयाँ इसलिए होती थीं कि दुश्मन का अन्न, खेती, पशु या दूसरी सम्पत्ति लूट ली जाय, और उस पर कब्जा कर लिया जाय। बाद में, लड़ाई में पीछे हटनेवाला पक्ष खाली की हुई जगह की पैदावार, मकान, या कारखाने आदि को नष्ट करने लगा, जिससे शत्रु उससे लाभ न उठा सके। ऐसी दशा में जीतनेवाले पक्ष को अकसर खंडहर और राख के ढेर वाली ज़मीन ही मिल पाती है। हाँ, इस जमीन पर बहुत-कुछ नये सिरे से मेहनत करके, और धन खर्च करके इसे भविष्य के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है।

प्राचीन काल में विजेता को बहुत से हारनेवालों का कुछ और उपयोग मालूम न होता था, और वह उन्हें कत्ल कर देता था। पीछे जाकर हारे हुए आदमी गुलाम बनाये जाने लगे और उनसे तरह-तरह की मज़दूरी का, या शिल्प-कला आदि का काम लिया जाने लगा। कितने ही राजा या बादशाह ऐसे भी हुए, जिन्होंने दूसरे देशों को इसलिए जीता कि वहाँ के आदमियों से मेलजोल बढ़े, उनसे आराम की वस्तुओं के साथ विद्या और ज्ञान का लेन-देन हो। ये अपने जीते हुए आदमियों की राजनैतिक आजादी बनी रहने देते थे, और उनकी आमदनी हड़पने के भी इच्छुक नहीं होते थे; ये सिर्फ थोड़ा सा वार्षिक खिराज या खास मौकों पर भेंट लेकर संतुष्ट हो जाते थे। आजकल विजेता हारे हुए देशों में अपनी भाषा, सभ्यता आदि का प्रचार करते हैं; और वहाँ के कच्चे पदार्थ लेकर, तथा वहाँ अपना तैयार माल खपाकर और अपने आदमियों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त करके उनका शोषण करते हैं।

अस्तु, अब यह विचार करें कि युद्ध के साधनों में क्या प्रगति हुई है। पहले बहुत मुद्दत तक लकड़ी और पत्थर के ही हथियार बनाये गये थे। इससे भाले और गदा के युद्ध की उत्पत्ति हुई। पीछे आदमी की निगाह लोहे या दूसरी धातुओं पर गयी तो इनसे भाला, कुल्हाड़ी,

तलवार और छुरे आदि बनाये जाने लगे। उस समय धनुषबाण बहुत उपयोगी साबित हुआ; उससे दुश्मन से बहुत दूर रहते हुए उस पर अचानक हमला किया जा सकता था। आदमी पहले पैदल ही युद्ध करता था; पीछे जब वह जानवरों को पालना और सिखाना जान गया तो उसने उनसे भी लड़ाई के काम में मदद लेनी शुरू की। घुड़सवार सेना तो प्रसिद्ध ही हो गयी। आदमी, घोड़ों के अलावा, हाथी और ऊंट पर सवार होकर या रथ में बैठकर भी लड़ने लगा।

इस सिलसिले में बख्तर या अङ्ग-रक्षक पोशाक का भी कुछ जिक्र कर दिया जाय। शरीर को जङ्गली पशुओं से बचाने के लिए आदमी पहले पेड़ों की छाल का या चमड़े का उपयोग किया करता था। जब आदमी लड़ने लगा तो उसे चमड़े का उपयोग बहुत अच्छा मालूम हुआ। पीछे लोहे के तरह-तरह के सुन्दर और मजबूत बख्तर बनाये जाने लगे; सोने और चांदी आदि कीमती धातुओं का भी खूब उपयोग हुआ। पैदल और घुड़सवार सैनिकों के अलावा घोड़े, हाथी और ऊंटों के लिए भी बख्तर काम में आते रहे हैं। शरीर-रक्षा के लिए बख्तर के अलावा ढाल का भी आविष्कार किया गया। ढाल पहले लकड़ी और पत्थर की बनती थी, पीछे हड्डी (खोपड़ी) और चमड़े की बनायी जाने लगी। उसके बाद जब आदमी धातुओं को काम में लाना सीख गया तो ढाल धातुओं की बनायी जाने लगी।

ऊपर हथियारों की बात कही गयी है। बारूद के आविष्कार से आदमी ने युद्ध के साधनों में और भी वृद्धि की। अब बन्दूक, पिस्तौल, रिवाल्वर और तोपों आदि से भी काम लिया जाने लगा।

युद्ध के साधनों में होनेवाले परिवर्तनों का आदमियों के निवास-स्थानों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। दुश्मन से बचाव करने के लिए पुराने जमाने में मकानों की मजबूती की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। अलग-अलग मकानों की ही नहीं, एक कस्बे या नगर भर के मकानों की रक्षा का विचार रखा जाता था। इसी दृष्टि से बहुत से नगर नदियों के या समुद्र के, किनारे बसाये जाते थे। कस्बों या नगरों के जिस-जिस

तरफ नदी नहीं होती थी, उस-उस तरफ, और जिनके किसी तरफ भी नदी न हो, उनके चारों ही तरफ, बहुत मजबूत शहरपनाह, परकोटा या चारदिवारी बनवायी जाती थी। कहीं कहीं यह चारदीवारी कच्ची यानी मिट्टी की होते हुए भी इतनी मजबूत होती थी, कि तोप के गोले भी उसे सहज ही तोड़ नहीं सकते थे, वे उसके अन्दर ही धंस कर रह जाते थे। इस चारदिवारी के बाहर की तरफ चारों ओर एक खाई रहती थी, जिसमें पानी भरा रहता था। इस खाई पर खास-खास जगह शहर में जाने-आने के लिए पुल होता था, जिसको जब चाहे हटाया जा सकता था। यह सब व्यवस्था इस लिए की जाती थी कि नगर-निवासी बाहरी या गैर आदमियों के हमले आदि से सुरक्षित रहें। यह बात ज्यादातर राजधानियों और खासकर किलों के लिए की जाती थी।

पुराने जमाने में कभी-कभी पूरे देश या बड़े-बड़े राज्यों की रक्षा करने के लिए भी चारदिवारी आदि बनवायी जाती थी। मिसाल के तौर पर चीन की उत्तरी सीमा पर, ईसा की तीसरी सदी में एक विशाल दीवार बनवायी गयी थी। पीछे, यह कुछ बढ़ायी गयी। यहाँ तक कि यह लगभग पन्द्रह सौ मील लम्बी हो गयी। यह दीवार तीस फुट ऊँची है, इसकी मोटाई नीचे २५ फुट तक और ऊपर १२ फुट तक है। इसके हर दो सौ गज के फासले पर ४० फुट ऊँचा बुर्ज या मीनार है। पहाड़ों, जंगलों, और खंदकों के रास्ते बनी हुई यह दीवार चीन की रक्षा की प्राचीन व्यवस्था की कथा अब तक सुना रही है।

मकान, नगर या देश की रक्षा के लिए ऐसी व्यवस्था अब नहीं की जाती। यों मकान इस लिए तो मजबूत बनाये जाते हैं कि चोर डाकू उनमें आसानी से न घुस सकें, परन्तु आक्रमणकारी सैनिकों से बचाने की दृष्टि से न मकान ही काफी मजबूत होते हैं, और न नगर या देश ही। बात यह है कि आजकल तोपों के गोलों से ऐसा भारी विस्फोट होता है, कि बहुत मजबूत दीवार भी टूट जाती है। इसके अलावा हवाई जहाजों से भी गोले बरसाये जाते हैं, जो मजबूत-से-मजबूत चारदिवारी आदि को तोड़ सकते हैं। इस लिए मकानों या

चारदिवारी आदि को अब ऐसा मजबूत नहीं बनाया जाता कि आज-कल के आक्रमण करनेवालों से उसकी रक्षा हो सके। चारदिवारियों का तो चलन ही अब उठता जा रहा है। युद्ध सम्बन्धी आधुनिक प्रगति ने किलों या नगरों के निर्माण में यह फरक पैदा कर दिया है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इस जमाने में नगरों या देशों की रक्षा की कुछ व्यवस्था ही नहीं की जाती। हाँ, अब दूसरे ढङ्ग काम में लाये जाते हैं। मिसाल के तौर पर फ्राँस के युद्ध-मंत्री मेजिनों ने जर्मनी से रक्षा करने के लिए फ्रांस की सीमा पर, जमीन के नीचे ही नीचे स्विटजरलैंड से बेलजियम तक किलों की एक मजबूत लाइन बनवायी, और उसमें लड़ाई के आधुनिक साधनों की पूरी व्यवस्था की। इस काम में लगभग दस वर्ष लगे, और यह १९३५ में पूरा हुआ। इसके जवाब में जर्मनी ने अपनी सीमा में सन् १९३९ तक सिगफ्रीड लाइन तैयार की।*

पिछली सदी से तो समुद्र भी रणक्षेत्र बन गये हैं। जंगी जहाज, जलमग्न नौकाएँ, तारपीडो, और बमशेल आदि ने समुद्र के रास्ते जानेवाले जन धन को क्षति पहुँचाने में कमाल कर दिखाया है। इसके अलावा अब हवाई युद्धों ने तो जमीन और समुद्र दोनों के युद्ध को मात करने की घोषणा कर दी है। पिछले वर्षों में सभ्यता का दम भरने वाले आधुनिक राष्ट्रों ने हवाई युद्ध की विविध सामग्री जुटाने में करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाया है। नये-नये आविष्कार इतनी तेजी से हो रहे हैं कि आज का वर्णन कल अधूरा मालूम पड़ेगा।

हमें आधुनिक महायुद्ध के अस्त्र शस्त्रों की ब्योरेवार बातों में नहीं जाना है। तो भी 'एटम बम' या अणु-बम का कुछ ज़िक्र कर देना ज़रूरी है। इसका प्रयोग पहली बार सन् १९४५ में अमरीका ने जापान के

---

*सन् १९३९ में दूसरा योरपीय महायुद्ध हुआ। जर्मनी ने हालैंड और बेलजियम को हरा दिया और फ्रांस की मेजिनो लाइन (जो बेलजियम की सीमा पर इतनी मजबूत न थी) बेकाम कर दी। पीछे इंगलैंड और अमरीका की संयुक्त सेनाओं ने जर्मनी की सिगफ्रीड लाइन को भंग कर दिया।

विरुद्ध किया; इसमें दो सौ करोड़ डालर खर्च होने का अनुमान है। २३ अगस्त को जापानी समाचार-एजन्सी ने बतलाया था कि ५०० पौंड वजन के दो एटम बम जो उन्नतिशील जापानी नगरों—हिरोशिया और नागासाकी—पर गिराये गये थे, उनके परिणामस्वरूप २,००,००० जापानी या तो मरगये या घायल हुए। पहला एटम बम हिरोशिया के समुद्री अड्डे पर गिराया गया था। इसके गिरते ही ६ मील की दूरी के अन्दर सारे मकान या तो जल कर खाक हो गये या नष्ट हो गये। भयानक गर्मी उत्पन्न हुई; इस बम के विस्फोट होते ही ऐसा ज्ञात हुआ कि २० सूर्य एक साथ चमक रहे हों।

उक्त समाचार एजन्सी का कहना है कि एटम बम की गर्मी के फलस्वरूप अभी और लोग भी मरते जा रहे हैं। जिनके शरीर पर इस बम की उड़ती हुई चिनगारी लग चुकी है, वे अच्छे नहीं होते; यहाँ तक कि जिनके शरीर पर साधारण जलने के दाग हैं, वे पहिले तो स्वस्थ नजर आते हैं, किन्तु कुछ दिनों के बाद ही वे कमज़ोर पड़ जाते हैं; उनमें से बहुतों की मृत्यु भी हो चुकी है।

यह साफ जाहिर है कि ऐसे बमों का प्रयोग होते हुए मनुष्य जाति की खैर नहीं है! अब सारी युद्ध-प्रणाली बदल गयी है। अब इस बात का कोई महत्व नहीं रहा है कि किस शहर या देश की सीमा पर कैसी मजबूत किलों की दीवार है, या खुश्की का कौनसा अड्डा किसके पास है, या समुद्र का कौनसा भाग किसके अधिकार में है। आज तो एटम बम वालों की तूती बोल रही है। इस समय इनके बनाने में खर्च बहुत अधिक पड़ता है या इनके बनाने की विधि इने गिने ही आदमी जानते हैं, लेकिन यह निश्चित है कि भविष्य में इनका बनाना आसान हो जायगा; यही नहीं, इनसे भी अधिक घातक और विनाशक साधन तैयार हो सकेगा।*

अगर हम इस जमाने के युद्ध के साधनों की बात अलग कर दें,

---

* समाचार मिला है कि रूसी वैज्ञानिक, एटम बम से भी अधिक संहारकारी शस्त्र—'कास्मिक रेज़'—का अन्वेशन कर रहे हैं।

तो आदमी पहले के मुकाबले अब कम लड़ाकू हैं, या ज्यादह, इसका हिसाब लगाना कठिन है। हाँ, आदमी कई हालतों में गुजरा है। उसने लड़ाई की मनोवृत्ति बढ़ने का भी परिचय दिया है, और शान्ति के भावों का भी। पुराने जमाने में लड़ाई दो व्यक्तियों की होती थी, पीछे समूहों या कबीलों में होने लगी, और, कुछ अंश में व्यक्तियों की लड़ाई भी जारी रही। राज्य की स्थापना होने पर उसने अपनी सीमा के भीतर होनेवाली लड़ाइयों का यथा-सम्भव दमन किया, और अपने आदमियों की लड़ने की भावना का उपयोग दूसरे राज्यों से टक्कर लेने में किया। कई-कई राज्यों के संघ या साम्राज्य बन जाने पर इस दिशा में और भी वृद्धि हुई। जब बड़ी-बड़ी शक्तियों के स्वार्थ आपस में टकराते हैं, और उनमें युद्ध होता है तो उसके आकार प्रकार का क्या कहना! पुराने जमाने से ज्यों-ज्यों सभ्यता और संगठन बढ़ा, एक-एक युद्ध में होनेवाले जन धन का संहार बढ़ता गया। अब द्वन्द-युद्ध तो प्रायः इतिहास में ही रह गये। छोटी-छोटी लड़ाइयाँ भी पुराने ज़माने की चीज़ होती जा रही हैं। अब तो महायुद्ध ही नहीं, विश्व-युद्धों का युग है, जिसमें एक-एक देश अरबों रुपया एक साल में खर्च कर डालता है, और इसके साथ आदमियों की भी भारी बलि चढ़ाता है। युद्ध-काल के बाद जो बीमारी या आर्थिक संकट आदि के रूप में उसकी यादगार कई-कई वर्ष बनी रहती है, वह रही अलग!

यह कहा जाता है कि युद्ध में एक पक्ष के हारने पर, या कोई समझौता होने पर, दोनों के मिलने से नया समुदाय बनता है तो उसमें मानो नया जीवन, नया ज्ञान और नयी शक्ति आ जाती है; और, यह युद्ध से होनेवाला बहुत बड़ा लाभ है। लेकिन शुरू में इस दृष्टि से युद्ध चाहे जितना उपयोगी हुआ हो, अब इस लाभ के लिए युद्ध का जंगली उपाय काम में लाने की ज़रूरत नहीं रही। अब तो इसके दूसरे सुन्दर और सौम्य उपाय निकल आये हैं। प्रेम और सद्भाव के प्रचार से, साहित्य और कला आदि के लेन-देन से, यह काम सहज ही हो सकता है।

युद्ध से कुछ खास इनेगिने आदमियों या समूहों को कुछ निजी लाभ भले ही हो, ज्यादहतर जनता की दृष्टि से यह बहुत ही हानिकर है। इसे बन्द करने के लिए, शान्ति बनायी रखने के लिए, आदमी ने क्या-क्या प्रयत्न किये हैं, इसका विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

छब्बीसवाँ अध्याय

शान्ति के प्रयत्न

यह बात पत्थर की लकीर है कि दुनिया के किसी हिस्से में भी तब तक शान्ति नहीं रहेगी, जब तक दुनिया के सभी हिस्सों में शान्तिकी नींव मजबूत न होगी। —विंडेल विल्की

पिछले अध्याय में युद्ध के बारे में विचार किया गया है। युद्ध का मनुष्य जाति से बहुत पुराना सम्बन्ध है। संसार के सबसे पुराने साहित्य वेदों में भी इसका बहुत जिक्र आया है। जब मनुष्यों में लड़ाइयाँ होने लगीं तो यह भी स्वाभाविक ही था कि शान्ति स्थापित करने के प्रयत्न किये जाते। इन प्रयत्नों में किस तरह धीरे-धीरे प्रगति हुई, इस विषय में हमने 'विश्व संघ की ओर' पुस्तक में खुलासा लिखा है। यहाँ कुछ खास-खास बातें दी जाती हैं।

बहुत ही पुराने ज़माने की बात छोड़ कर यह तो कहा ही जा सकता है कि अब से ढाई हजार साल पहले यूनान के नगर-राज्यों ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य उनके आपसी युद्धों को रोकना, और यदि युद्ध हो ही जाय तो युद्ध में भी एक निश्चित आचरण को अमल में लाना था। इन यूनानी राज्यों ने एक संधि-पत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक-दूसरे के नगरों को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मंदिरों की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचावेंगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नहीं डालेंगे,

और, जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे।

इसके दो सौ वर्ष बाद बौद्ध सम्राट अशोक एक संस्था के रूप में अनेक राज्यों के सामने आता है। उसने दूसरे देशों को ज़बरदस्ती विजय करने की प्रथा बन्द की; और स्वयं अपनी मिसाल और अपनी राजकीय आज्ञाओं द्वारा प्रेम, शांति और सहिष्णुता के लिए अपील की है। उसके एक शिला-लेख का कुछ अंश यह है—"हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उनमें कभी देश-विजय की प्रवृत्ति पैदा हो तो वे उसे रोक कर शान्ति और नम्रता में ही आनन्द अनुभव करें और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल (इस लोक और परलोक) दोनों में सुख होगा।"

इसके बाद जिसे योरप वाले 'मध्य युग' कहते हैं, उसमें वहाँ के ईसाई देश धार्मिक बन्धुत्व मानते थे, यानी यह कि एक धर्म के मानने-वाले सब भाई-भाई हैं; और पोप, जो ईसाई धर्म का सबसे बड़ा आचार्य था, उन सब के झगड़े निपटाया करता था। उसकी मध्यस्थता से कई ऐसे झगड़े शान्त किये गये, जिनसे योरप की शान्ति भंग होने की आशंका थी। मध्य युग के बाद पुनरुत्थान ('रिनेसां') काल में, योरप में धार्मिक भाईचारे का स्थान राष्ट्रीय भावना ने ले लिया। फिर भी वहाँ के विचारशील आदमी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के बारे में विचार करते और लिखते रहे; इनमें डेन्टे, इरेस्मस, ग्रोटस, रूसो, केन्ट और वेन्थम आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

योरप के विविध राज्यों का संगठन करने का कुछ विशेष प्रयत्न सन् १८१५ में हुआ। उस समय रूस के ज़ार अलेग्ज़ेन्डर पहले के नेतृत्व में रूस, प्रशिया और अस्ट्रिया के शासकों ने 'पवित्र-संघ' ('होली एलायंस') की योजना की, जिसमें उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि हम सब ईसाई-धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार राज्य करेंगे, और आपस में लड़ाई-झगड़ा न करेंगे। यह योजना भी बहुत समय तक न चली। वैज्ञानिक साधनों के बढ़ने के साथ-साथ बलवान राष्ट्रों की शक्ति और बढ़

गयी, वे निर्बल राष्ट्रों को अपने अधीन करने लगे। संघर्ष बढ़ चला। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी योरप में बहुत समय तक घातक युद्ध हुए। युद्ध की आशंका हर समय बनी रहने लगी।

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि पिछली सदी के युद्ध अधिकतर 'शक्ति-संतुलन' क़ायम रखने के बहाने लड़े गये। योरप की राजनीति का एक मुख्य सिद्धान्त 'शक्ति-संतुलन' रहा। एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण राज्य गुप्त संधियाँ और गुटबन्दी करते रहे। हर पक्ष ने यह कोशिश की कि उसकी शक्ति विरोधी पक्ष से किसी तरह कम न रहे; यदि उससे अधिक न हो, तो बराबर अवश्य हो। इसे ही 'शक्ति-संतुलन' नीति कहा गया है। इस नीति की जड़ में स्वार्थ, आशंका, भय, और अविश्वास था। ऐसे कमज़ोर आधार पर शान्ति बनाये रखने की आशा नहीं हो सकती।

आखिरकार, युद्धों की वृद्धि और विनाशकता ने जनता की नींद हराम कर दी। विचारवान आदमी युद्धों को समाप्त करने, और यदि ये समाप्त न हों तो कम-से-कम इन्हें घटाने या नियन्त्रित करने के उपाय सोचने लगे। महाकवि टेनिसन ने लोगों के सामने उस उज्ज्वल भविष्य का चित्र पेश किया, 'जब लड़ाई का बाजा बजना बन्द हो जायगा, युद्ध-पताकाएँ लपेट दी जायँगी, और मनुष्य मात्र की पार्लिमेंट और संसार भर का सङ्घ कायम होगा।'

विश्व-शान्ति और आपसी समझौतों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सभा सम्मेलनों की धूम मच गयी। उनकी तादाद बराबर बढ़ती गयी। उनमें खास महत्त्व की वे अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सें हैं, जो सन् १८९९ और १९०७ में हालैण्ड के हेग नगर में हुईं। उन दोनों को 'मानव जाति की पार्लिमेंट' कहा गया है। उनकी योजना के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायती न्यायालय कायम किया गया, जिसमें सब राज्य अपने विवाद-ग्रस्त मामले पेश कर सकते थे। शुरू में इस न्यायालय ने राज्यों के बहुत से मामले तय किये, और इसका फैसला उन राज्यों ने माना। पर, पीछे इस न्यायालय की उन्नति बहुत सन्तोषप्रद न रही।

पहले योरपीय महायुद्ध के बाद राष्ट्र-सङ्घ के द्वारा सन् १९२२ में हेग नगर में ही एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ। इसे 'स्थायी' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह हमेशा काम करने के लिए था। इससे पहले का न्यायालय हर बार जरूरत पड़ते पर नये जज चुन कर बना लिया जाता था। स्थायी न्यायालय के दो काम थे—दो या अधिक राज्यों के बीच का जो झगड़ा सामने आये, उसका फैसला करना; और, राष्ट्र-सङ्घ समय-समय पर जो विषय उसके सुपुर्द करे, उस पर सलाह देते रहना। इसका फैसला मानना उन्हीं राज्यों का फर्ज होता था, जिनमें झगड़ा होता था; दूसरे राज्यों या दूसरे विषयों पर इसका कोई बन्धन न था; हाँ, इसके फैसले आखिरी होते थे,उनकी कहीं अपील न थी।

अब हम १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सब से बड़ी कोशिश का जिक्र करते हैं। यह कोशिश राष्ट्र-सङ्घ नाम की संस्था द्वारा की गयी, जो सन् १९१९ में कायम हुई। इस संस्था के सदस्य वे राष्ट्र होते थे, जो यह प्रतिज्ञा करते थे कि हम बाहरी हमलों से एक दूसरे की रक्षा करेंगे और आपस में, या दूसरे किसी भी राष्ट्र से, युद्ध नहीं करेंगे, जब तक कि अपने झगड़ों को पञ्चायत के सामने फैसले या जाँच के लिए न रखलें, और तीन महीने तक फैसले की इन्तजार न कर लें। राष्ट्र-सङ्घ ने तय किया कि हर राष्ट्र की परिस्थिति और भौगोलिक अवस्था की जाँच करके उसके शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटाने की योजना तैयार की जाय। ऐसी योजनाओं पर, हर दसवें वर्ष फिर विचार किया जाय और उनका संशोधन किया जाय। इस निशस्त्रीकरण के साथ-साथ बीच-बचाव और सबकी रक्षा के प्रश्न का भी सम्बन्ध था। बीच-बचाव का अर्थ है, शान्ति के उपायों आपसी कलह मिटाना, जिससे भविष्य में युद्ध के साधनों की जरूरत ही न रहे। हर राष्ट्र की रक्षा दूसरे राष्ट्रों के शान्तिमय विचारों पर निर्भर होती है, इसलिए राष्ट्र-सङ्घ की यह कोशिश थी कि सब राष्ट्र एकसाथ तय की हुई योजना के अनुसार अपने-अपने शस्त्रास्त्र अधिक-से-अधिक घटा

कर रखें। राष्ट्र सङ्घ की एक परामर्श-समिति इस काम के लिए थी कि जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करके कौंसिल को रिपोर्ट और सलाह दिया करे।

शुरू में राष्ट्र-सङ्घ का अलग-अलग राज्यों पर अच्छा असर पड़ा। उसने उनके कई आपसी झगड़े तय किये, जिनमें पन्द्रह बीस काफी गहरे थे। एक मिसाल यहाँ दी जाती है। अक्तूबर १९२५ में बलगेरिया राज्य की सीमा पर एक यूनानी संतरी को गोली मार दी गयी। तीन दिन में यूनान की सेना ने बलगेरिया पर चढ़ाई कर दी। इस मौके पर राष्ट्र-सङ्घ ने तुरन्त दखल देकर आक्रमण रोक दिया। साथ ही राष्ट्र-सङ्घ की कौंसिल ने सर एच० रम्बोल्ड की अध्यक्षता में एक निस्पक्ष कमीशन इस लिए भेजा कि मौका देखकर झगड़े का मूल कारण मालूम करे; इस बात की जाँच करे कि दोष किसका है; और ऐसी घटना फिर कभी न होने पावे, इसके लिए उपाय सुझावे। यह काम बिना हिचक के किया गया। जब फिर कौंसिल की मीटिंग दिसम्बर में हुई, तो यूनान ने हर्जाने के तौर पर पैंतालीस हजार पौंड देना मञ्जूर किया, और दोनों राज्यों की सरकारों ने भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के सम्बन्ध में राष्ट्र-सङ्घ की योजना मान ली।

इस तरह सङ्घ को शुरू में खासी सफलता मिली। पर पीछे यह बात न रही। सन् १९२९ में संसार में आर्थिक सङ्कट हुआ, तो सब राष्ट्र अपनी-अपनी घरू समस्याओं में लग गये; अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, खासकर जब कि झगड़े योरप से बाहर के थे। सितम्बर १९३१ की एक बात लें। जापानी सेना ने चीन के मंचूरिया प्रान्त के मकदन नगर पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। इस पर सङ्घ की कौंसिल की बैठक में चीन के प्रतिनिधि ने जाँच-कमीशन नियुक्त किये जाने का आग्रह किया। जापानी प्रतिनिधि इसके खिलाफ था; अमरीका ने भी कमीशन में भाग लेना पसन्द नहीं किया। इस लिए राष्ट्र-सङ्घ ने इस मामले में पड़ने से इनकार कर दिया। जापान का हमला बढ़ता गया। आखिर, जैसे-तैसे कमीशन

मुकर्रर हुआ, और उसने अपनी रिपोर्ट दी। समझौते की कोशिश की गयी। जापान की सरकार ने कमीशन की तजवीजें मञ्जूर न कीं, और अन्त में मार्च १९३३ को जापान ने राष्ट्र-सङ्घ से त्यागपत्र देकर अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

राष्ट्र-सङ्घ इस मामले में बुरी तरह असफल रहा। इसका कारण उसके स्थायी सदस्यों की कूटनीति और अपने-अपने स्वार्थों की चिंता थी। अगर वे दृढ़ता के साथ शान्ति का प्रयत्न करते तो अकेला जापान उनके विरोध का तो क्या, उन्हें अप्रसन्न करने का भी साहस न कर सकता।

राष्ट्र-सङ्घ की शिथिलता से और उसके मेम्बरों की अनुदारता और तुच्छ स्वार्थपरता से, जापान को अन्तर्राष्ट्रीय हित के विरुद्ध काम करने की हिम्मत हुई, इससे चीन का तो नुकसान हुआ ही, राष्ट्र-सङ्घ के आदर्शों और उद्देश्यों को भी गहरा धक्का पहुँचा। निशस्त्रीकरण परिषद का काम पहले भी ईमानदारी से नहीं हो रहा था, अब तो वह परिषद निर्जीव ही हो गयी। उसमें हिस्सा लेनेवाले राज्यों ने अपने शस्त्रास्त्र या हथियार कम करने की नीति छोड़ दी। जापान की मिसाल से इटली का भी हौसला बढ़ा, उसने अबीसीनिया यानी इथियोपिया को धर दबाया। राष्ट्र-सङ्घ के ढीलेपन और निकम्मेपन ने ही जर्मनी में हिटलर की शक्ति बढ़ायी। योरप में अनेक उलटफेर हुए, जिनका आखरी नतीजा दूसरा महायुद्ध (१९३९-४५) हुआ। इस तरह राष्ट्र-सङ्घ की विफलता की जिम्मेवारी उन राष्ट्रों पर है, जिन्होंने अपनी कायरता या खुदगरजी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम न लिया, और विश्व-शान्ति के लिए अपनी ताकत और अपने असर का उपयोग न किया।

राष्ट्र-सङ्घ का सङ्गठन ही ठीक नहीं था। कहने को तो उसका दरवाजा संसार भर के राज्यों के लिए खुला हुआ था, पर असल में उसकी बागडोर कुछ बड़े-बड़े राज्यों के हाथ में थी, जिन्होंने अनेक भू-भागों को अपने अधीन कर रखा था, और जो पहले महायुद्ध के

बाद की संधि से अपना साम्राज्य और प्रभुता खूब अधिक बढ़ा चुके थे। ये राज्य अपने अधीन प्रदेशों को आजाद करने के लिए तैयार न थे। इनमें त्याग की वह भावना ही न थी, जो विश्व-शान्ति की चिन्ता करनेवालों में होनी बहुत जरूरी होती है। वे कहीं सभ्यता फैलाने के नाम से, कहीं दूसरों को शासन-कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, कहीं निर्बलों या अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की आड़ में, असङ्गठित या पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन रखकर उनकी पैदावार या सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते थे। उनमें से कुछ को ये अपना अधीन देश न कह कर राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार शासित ('मैंडेटेड')* या रक्षित प्रदेश आदि नामों से पुकारते थे। पर इससे उनकी हालत में खास फरक नहीं पड़ा।

अब राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण यानी सेना आदि घटाने की नीति का विचार करें। बड़े-बड़े राज्यों ने सिद्धान्त रूप में तो निशस्त्रीकरण को पसन्द कर लिया, पर जब अमल करने की बात आयी तो उन्होंने अपने-अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र घटाये नहीं। इसके खिलाफ, न केवल राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्य ही, बल्कि वे राज्य भी जिनका संघ के संगठन में खास हिस्सा था, आत्म-रक्षा या तिजारत आदि के बहाने, या गुप्त रूप से, अपनी-अपनी फौज और हथियार बढ़ाने की चिन्ता करते रहे। निशस्त्रीकरण-सम्मेलनों का कोई नतीजा नहीं निकला। हर साम्राज्यवादी राष्ट्र ने अधिक-से-अधिक सैनिक शक्ति रखना जरूरी और अनिवार्य समझा। उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि "जब तक रक्षा का पूरा इन्तजाम न हो, निशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।"

अगर सोचा जाय तो शान्ति कायम करने के लिए असली समस्या निशस्त्रीकरण नहीं है। यह तो रोग का बाहरी उपचार मात्र है,

---

*पहले महायुद्ध के बाद जो रंगदार जातियों के देश विजेताओं को मिले उन्हें आज़ादी के अयोग्य समझा गया, और तजरुबेकार और उन्नत राष्ट्रों की शागिर्दी में रखा गया। ये राष्ट्र उन देशों का शासन राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार करते थे, फिर भी उनका दमन और शोषण बहुत-कुछ अपने अधीन देशों की तरह ही करते थे।

जिसका फल अधूरा और क्षणिक ही हो सकता है। जब तक राष्ट्रों में स्वार्थ-त्याग, और सब के भले को देखने की भावना न हो, तब तक शस्त्रास्त्रों के कम करने से, या ज्यादह घातक शस्त्रों की जगह कम घातक शस्त्र रखने मात्र से, शान्ति कायम करने का काम नहीं हो सकता। सब से बड़ी ज़रूरत है, जनता में शान्ति और प्रेम के भावों के प्रचार की, अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे के सम्बन्ध में लोकमत जागृत करने की। श्री० चियांग काई शेक ने ठीक कहा है कि 'अगर आदमी अपनी बुद्धि और अपने चरित्र-बल को युद्ध को रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बन्दूक से लड़ाई लड़ने में कोई खास फरक नहीं है।' जब तक आदमी अपनी युद्ध-मनोवृत्ति पर अंकुश न रखें, तब तक वे चाहे जिस हथियार से से काम चला सकते हैं; और यदि कोई भी हथियार न मिले तो घूंसे, मुक्के, दांत और नख आदि से ही अपनी हिन्सक भावना का सबूत दे सकते हैं, जैसा कि प्राचीन काल में किया करते थे। अब आदमी के अधिक बुद्धिमान और वैज्ञानिक हो जाने से उसने जन-संहार के तरीकों में भी उन्नति कर ली है। बुद्धि और विज्ञान का यह दुरुपयोग ही है। ज़रूरत है कि आदमी इनके सदुपयोग की तरफ ध्यान दे, और इन्हें मानव समाज की सेवा और सहायता में लगावे; स्वार्थ, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का अन्त किया जाय; और, हर देश को पूरी आर्थिक और राजनैतिक आजादी दी जावे।

सारांश यह कि राष्ट्र-संघ के द्वारा शान्ति कायम करने के सम्बन्ध में मानव जाति का जैसा हित होना चाहिए था, न हुआ। राष्ट्र-संघ की कमजोरियों ने दूसरे महायुद्ध का मौका पैदा कर दिया, जिसमें इस संस्था का ही अन्त हो गया। इस पर भी राष्ट्र-संघ सोचने के लिए अच्छी सामग्री छोड़ गया। अब जो संस्थाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके उद्देश्य को पूरा करने की जिम्मेवारी लें, वे उसके जीवन और कार्यों से अच्छी शिक्षा ले सकती हैं। एक खास शिक्षा यह है कि कोई भी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-रोग का इलाज नहीं कर सकती, जब

तक सब राष्ट्र आपस में बराबरी और भाईचारे का परिचय न दें; और जनता में ऊँच-नीच, गोरे-काले, योरपीय, एशियाई, अफ्रीकी, अमरीकी आदि का भेद-भाव दूर होकर प्रेम और सहानुभूति की भावना न जागे। सब राष्ट्रों को स्वार्थ और संकीर्णता छोड़ने में देर लगेगी, पर यह बात नामुमकिन नहीं है, और हमें उस दिशा में आगे बढ़ते रहना चाहिए।

भविष्य में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए इस समय खास कर तीन बड़े राष्ट्रों—रूस, अमरीका और इंगलैंड के सहयोग की बात चल रही है। ऐसा सिद्धान्त एक-दम गलत है। संसार को अगले युद्ध से बचाने के लिए तो ऐसा संगठन बनाया जाना चाहिए, जिसमें सभी राज्य समानता के आधार पर शामिल हों। इसके अलावा युद्धों को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि साम्राज्यवाद का अन्त किया जाय। कोई भी राष्ट्र, किसी भी आधार पर, दूसरे देश को अपने अधीन न करे। हर देश स्वतंत्र हो, सब का परस्पर में सहयोग और सहानुभूति हो; समानता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए संसार भर में एक विश्व-संघ की स्थापना की जाय। इसकी योजना अब व्यवहारिक राजनीति की बात मानी जाने लगी है। इसी में मनुष्य-जाति के शुभ भविष्य की आशा है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

अहिन्सा : सत्याग्रह और असहयोग

हिन्सा का अर्थ है अन्त में मानवता का समूल नाश। और, यही कारण है कि मानवता की आत्मा इसे सब रक्षायोग्य वस्तुओं को नष्ट करनेवाली समझती है। बुद्ध, ईसा, टाल्स्टाय और गाँधी इसी आत्मा की पुकार हैं।

—बर्नार्ड शा

पिछले अध्याय में इस बात का विचार किया गया है कि युद्धों को रोकने और शान्ति बनाये रखने के लिए समय-समय पर क्या-क्या प्रयत्न किये गये और उनमें कहाँ तक सफलता मिली। जाहिर है कि अब तक के अधिकांश प्रयत्न सन्धियों और समझौतों के रूप में हुए, और उनके करनेवाले रहे राजनीतिज्ञ या शासक आदि। कभी-कभी एक ही शक्ति या सत्ता इतनी प्रबल हो गयी कि उसके सामने दूर-दूर तक किसी को सिर उठाने की हिम्मत न हुई; कभी-कभी दो-तीन या ज्यादह शक्तियों ने मिलकर अपनी प्रभुता दिखायी और बलपूर्वक शान्ति बनाये रखी। लेकिन ये सब प्रयत्न थोड़े-थोड़े समय के लिए ही सफल हुए; अन्त में ईर्षा-द्वेष, लोभ-मोह आदि अपना रंग दिखाकर रहे। ताकतवरों को अपना वैभव बढ़ाने की फिक्र रही, और वे पराधीनों की संख्या बढ़ाते तथा उनका शोषण करते रहे। इससे समय-समय पर बड़े-बड़े राष्ट्रों में युद्ध या महायुद्ध हुए, जिनमें उस समय के बढ़िया-से-बढ़िया साधनों का उपयोग किया गया। भौतिक विज्ञान को इन्होंने अपनी चेरी बना कर उसका खूब दुरुपयोग किया।

'ईंट का जवाब पत्थर' की बात हम बराबर सुनते आ रहे है। अभी तक हिन्सा का विरोध अक्सर हिन्सा से किया गया। इस प्रयोग को करते-करते आदमीने कितना समय बिता दिया। कितने आदमियों की कुर्बानी हुई, कितना धन नष्ट हुआ, और कितना बहुमूल्य समय बरबाद हुआ! इसके बहुत थोड़े से हिस्से से भी, अहिन्सात्मक उपायों से, मनुष्य-जाति का कितना कल्याण हो जाता! प्रेममय प्रयत्नों से इस पृथ्वी का नक्शा ही बदल जाता!

समय-समय पर कुछ महानुभावों ने हिन्सा के विरोध में अहिन्सा की विजय के उदाहरण उपस्थित किये हैं। भारतवर्ष में भक्त प्रह्लाद की, अपने क्रूर अत्याचारी पिता हिरण्यकश्यप पर; और महर्षि वशिष्ट की, अभिमानी विश्वमित्र पर; सत्याग्रह के ज़रिये विजय पाने की बात कौन नहीं जानता! इस तरह की मिसालें दूसरे देशों में भी मिलती हैं। इनका सम्बन्ध धार्मिक या सामाजिक विषयों से और

कुछ इने-गिने व्यक्तियों से था। भारतवर्ष में सर्वसाधारण जनता में प्रेम और अहिन्सा का प्रचार, ढाई हज़ार वर्ष हुए गौतम बुद्ध और महावीर ने किया। इनमें बुद्ध को विशेष सफलता मिली। उसके धर्म में दीक्षित होकर सम्राट् अशोक ने बर्मा, श्याम, आसाम और चीन, जापान ही नहीं, मध्य और पश्चिमी एशिया और पूर्वी योरप तक अहिंसा का संदेश भेजा। अशोक का अहिन्सा-भाव कितना प्रबल था, यह उसके शिला लेखों से अच्छी तरह ज़ाहिर हो जाता है।

गौतम बुद्ध के बाद संसार में अहिंसा के दूसरे महान प्रचारक हज़रत ईसा थे। इनका जन्म लघु एशिया (एशिया माइनर) में जूडिया के नजदीक बेथलम गाँव में, एक बढ़ई के घर हुआ। अंगरेज़ी सन् ईस्वी इनके ही नाम पर चलता है। तरह-तरह की मुसीबतें उठाकर इन्होंने यहूदी समाज की बहुत सी कुरीतियों और अंध-विश्वासों को दूर किया। अपने प्यार भरे संदेश से, अपने सेवा-भाव से, और अपनी खरी बात व्यवहार और आलोचनाओं से, इनका यश दूर-दूर तक फैलता गया। सत्ताधारियों को यह सहन न हुआ और उन्होंने इस महापुरुष को सूली पर चढ़ाकर छोड़ा। पर धन्य हैं, ईसा मसीह! इन्होंने अपने विरोधियों को भी प्यार की ही निगाह से देखा और प्रार्थना की—'भगवान, इन्हें क्षमा करना; ये नहीं जानते कि ये क्या करते हैं।' क्यों न हो; इनका जीवन निष्कपट था, इन्होंने दूसरों को जो उपदेश दिया, वह करके दिखाया, इनकी मृत्यु भी उपदेश देनेवाली रही।

इनके बाद समय-समय पर इनके चलाये धर्म को मानने और प्रचार करने में कितने ही महानुभावों ने बहुत त्याग और कष्टसहन का परिचय दिया। हाँ, अकसर सत्ताधारी धर्माचार्यों (पोपों) और शासकों ने बहुत लोभ और हिन्सा का व्यवहार किया। ईसाई धर्माचार्यों की ज्यादतियाँ मध्य युग के साथ चली गयीं, लेकिन ईसाई कहे जाने वाले शासक अपनी वीरता अब तक हिन्सात्मक युद्धों में ही दिखा रहे हैं!

इन युद्धों को किस प्रकार रोका जाय ? क्या सत्याग्रह आदि अहिंसक उपायों का उपयोग सामूहिक रूप से किया जा सकता है ? राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए ऐसे उपायों को काम में लाना उपहास या मज़ाक समझा जाता था। नये-नये घातक हथियारों वाली सैनिक शक्ति के सामने जनता बेबस और असहाय मालूम होती थी। उसे अपने उद्धार का कोई रास्ता नहीं मिल रहा था। जनता को ऐसे अस्त्र की बात सुझाने का श्रेय, जो बहुत प्रभावशाली होने के साथ अहिन्सक भी हो, महर्षि टाल्सटाय और महात्मा गाँधी आदि महानुभावों को है।

टाल्सटाय (१८२८-१९२०) की जन्मभूमि होने का गर्व रूस देश को है। ये एक ऊंची श्रेणी के परिवार में पैदा हुए, और इन्होंने कालिज़ छोड़ने के बाद कुछ समय आरामतलबी में बिताया। इन्होंने सेना में भी काम किया। इस तरह इन्हें रईसों की जिन्दगी का तथा सेना द्वारा की जाने वाली हिन्सा का अच्छा अनुभव हुआ। पीछे इनके मन में इन दोनों बातों के प्रति विद्रोह की भावना पैदा हुई, और बढ़ती गयी। इन्होंने अपना जीवन दलितों और पीड़ितों की सेवा में लगा दिया, और अपनी सारी सम्पत्ति त्याग कर किसानों का सा रहन-सहन अपनाया। इन्होंने कई प्रभावशाली ग्रन्थों की रचना की। इनके एक ग्रन्थ का नाम है, 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है'। इसका महात्मा गांधी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

अहिन्सा के राजनैतिक स्वरूप के विकास और प्रचार होने का विशेष अवसर भारतवर्ष में मिला है। इस दो रूप हैं—सत्याग्रह और असहयोग। धार्मिक सत्याग्रह की बात ऊपर कही जा चुकी है। सामाजिक असहयोग की बात भी यहाँ बहुत पुराने समय से है। दुराचारी आदमी को जाति-बाहर कर दिया जाता है। जाति-बिरादरी के सब आदमी उससे असहयोग कर देते हैं। इससे उसका काम चलना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। वह अपनी भूल पर विचार करने, और उसका सुधार करने को मजबूर हो जाता है।

प्रजा के दुखों पर ध्यान न देनेवाले राजा या सरकार से असहयोग

करने की बात यहाँ पहले से चली आती है। हाँ, इस देश के लम्बे इतिहास में इसके प्रयोग के उदाहरण कम ही हैं; शायद इसकी ज़रूरत भी कम हो रही हो। जो हो, आधुनिक काल में इसका विचार इसी सदी में होने लगा। सन् १९०५ में, कांग्रेस के बनारस अधिवेशन के सभापति श्री० गोखले ने बंग-विच्छेद-विरोधी लोकमत की ओर संकेत करते हुए यह भविष्य-सूचक बात कही थी—'यदि ऐसे लोगों को, जिनका आदर करने में दूसरे देशों को खुशी होगी, अपने ही देश में निरादर और निराशा की परिस्थिति अनुभव करनी होगी तो मैं केवल यही कह सकता हूँ कि जनता के हित के लिए नौकरशाही से सहयोग करने की आशा को दूर से नमस्कार !

पीछे, २ जनवरी १९०७ के भाषण में लोकमान्य तिलक ने कलकत्ते में कहा कि "नया (राष्ट्रीय) दल यही चाहता है कि तुम समझलो कि तुम्हारा भविष्य हर तरह तुम्हारे ही हाथ में है। जिस दिन तुम आजादी हासिल करने का संकल्प करोगे, उसी दिन तुम स्वतंत्र हो जाओगे। तुम्हें हथियार उठाने की ज़रूरत नहीं है। प्रत्यक्ष प्रतिकार की शक्ति न होने पर भी, क्या तुम विदेशी सरकार को राज्य करने में प्रत्यक्ष सहायता न देने का आत्मसंयम और स्वार्थ-त्याग नहीं बतला सकते ! यही बहिष्कार है, और बहिष्कार को राजनैतिक अस्त्र कहने का मतलब भी यही है। कर वसूल करने तथा शान्ति-रक्षा के लिए हम उन्हें सहायता न दें। हिन्दुस्तानी रक्त और धन हिन्दुस्तास के बाहर उनकी लड़ाई लड़ाने के लिए खर्च न होने दें। इंसाफ के काम में भी उनकी सहायता न करें, हम अपने न्यायालय स्थापित करें, और अवसर आने पर कर भी न दें। क्या हम लोग अपनी एकता के बल पर इतना नहीं कर सकते ? यदि हम यह कर सकते हैं तो कल से ही आजाद हैं।' इस उद्धरण से साफ जाहिर है कि श्री० लोकमान्य तिलक के ध्यान में असहयोग की विस्तृत योजना आ गयी थी, पर इसे कार्य रूप में परिणत करने का काम महात्मा गांधी ने किया।

महात्मा गांधी का शुभ जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ को हुआ

था। इन्होंने पहले पहल सत्याग्रह और असहयोग का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में किया। उस समय टाल्सटाय ने इन्हें आशीर्वाद देते हुए यह आशा प्रगट की थी कि गांधी जी के बताये हुए रास्ते की ओर सारे संसार को ध्यान देना पड़ेगा। टाल्सटाय की यह आशा बिलकुल सच्ची साबित हुई। म० गांधी ने भारतवर्ष में पहले बिहार और गुजरात के कुछ स्थानीय विषयों में अपनी अहिन्सक योजना का प्रयोग किया। सन् १६१६ ई० से वे भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन के सूत्रधार हो गये, और यहाँ की राष्ट्र-सभा ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उनकी नीति अपनाली।

कुछ लोगों का ख्याल है कि भारतवासी निहत्थे और कमजोर हैं, ऐसी दशा में अहिन्सा को नीति या राजनैतिक चाल के रूप में काम में लाने के सिवाय दूसरा चारा ही नहीं है। लेकिन गाँधी जी ऐसा नहीं मानते। वे अहिंसा को बलवानों का ही अस्त्र मानते हैं, कायरों का नहीं। इसलिए उनका मत है कि जो लोग सङ्कट के समय अहिन्सा द्वारा अपनी रक्षा न कर सकें, उन्हें कायरता का परिचय देने के बजाय हिन्सा के द्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिए। इस तरह किसी को अपनी कमजोरी छिपाने के लिए अहिन्सा की आड़ लेना ठीक नहीं है; अहिन्सा का पालन करने के लिए हमें काफी बलवान होना चाहिए, हमारी अहिन्सा वीरों की अहिन्सा हो। शत्रु यह जानले कि हम उसकी अधीनता स्वीकार न करेंगे, किसी भी हालत में उसे हमारा सहयोग न मिल पायेगा, हमारी भूमि के किसी हिस्से को पालेने से उसे कुछ भी लाभ न हो सकेगा। हम कष्टों को सहते हुए भी हिन्सा से बचे रहेंगे, और अन्त में शत्रु को भी हिन्सा करने से बचाने में सफल होकर रहेंगे।

अहिन्सक या शान्ति के सैनिक की योग्यता और शिक्षा के बारे में म० गांधी के कुछ विचार इस प्रकार हैं—'हिन्सक सेना के सैनिक को सब से बड़ी आवश्यकता शारीरिक बल की होती है, जिससे वह दूसरों को मारने की ताकत बढ़ा सके। इस लिए बुड्ढे, रोगी, औ छोटी उम्रवाले उससे अलग रखे जाते हैं, परन्तु शान्ति-सैनिक में मुख्य गुण

यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्योछावर कर सके। यह सेना बूढ़ों, औरतों, बच्चों, अंधों, लंगड़ों और रोगियों का भी स्वागत कर सकती है। इससे ज़ाहिर है कि इस सेना में अधिक जनता हिस्सा ले सकती है। इस सेना को हथियारों की ज़रूरत नहीं होती, इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाय; अपनी जान जोखम में डालकर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाय। शान्ति-सैनिक किसी को भी शत्रु नहीं मानता; जो आदमी उसे शत्रु समझें, उनके लिए भी उसके हृदय में प्रेम और दया होती है। वह उनका सुधार और उन्नति चाहता रहता है। शान्ति-सैनिकों में बूढ़े और रोगी आदि शामिल होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहाँ तक हो सके, अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिए। अनेक बार ऐसा मौका आ सकता है कि उन्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, वर्षा, मारपीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उनमें यह साहस या चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगों को आग या बाढ़ आदि से बचा सकें, और लड़ाई दंगे के बीच में पड़कर, लड़ने-वालों से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें। *

कुछ लोग यह कहा करते हैं कि अहिंसा नीति से भारतवर्ष को पच्चीस वर्ष में भी स्वराज्य नहीं मिला, इसलिए यह असफल हुई। यह आक्षेप बेबुनियाद है। भारतवर्ष में इन वर्षों में कितनी जन-जागृति हुई है, औसत दर्जे के आदमियों में नौकरशाही का विरोध करने की कितनी हिम्मत आयी है, महिलाओं और बालकों तक की, अन्याय और अत्याचार का मुकाबला करने की कितनी तैयारी हो गयी है; यह सब ध्यान में लाने की बात है। फिर, हमारा त्याग या कुर्बानी ही अभी तक कितनी हुई है। भारतवर्ष की चालीस करोड़ की आबादी में से कितनों ने सच्चाई और ईमानदारी से इस अहिंसक आन्दोलन में भाग लिया है; और जिन्होंने भाग लिया, वे भी कहाँ तक अपने कर्तव्य पालन में पूरे तौर से डटे रहे! इसके साथ तुलना कीजिए हिंसक

---

*अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' में प्रकाशित लेख से

विरोध की। एक बार की कुछ महीनों की ही लड़ाई में कितने आदमी मर जाते हैं, या जख्मी हो जाते हैं, धन धान्य की बरबादी की बात रही अलग। यह भी आवश्यक नहीं कि एक बार की ही हिन्सक लड़ाई से किसी देश को आजादी मिल जाय। आयर्लैंड और रूस आदि की राजक्रान्ति कितने कितने समय चली, यह सोचने की बात है। अनेक बार तो हिंसक लड़ाई में भाग लेनेवाले नेता ही विजयी हो जाने पर जनता की रक्षा का ध्येय छोड़कर उसे सतानेवाले बन गये। फ्रांस ने अठारहवीं सदी के अन्त में अत्याचारी शासकों को हटाने के लिए नेपोलियन का स्वागत किया था। नेपोलियन ने हिन्सा के जोर से लोगों की इच्छा पूरी की, लेकिन बाद में वह खुद ही अत्याचारी बन गया। हिन्सा ने सफल होकर भी आखिर में असफलता दी। पर अहिन्सक युद्ध के तो असफल होने की बात ही नहीं होती; जब उसे प्रत्यक्ष विजय नहीं मिलती, तो भी उसके द्वारा जनता का नैतिक धरातल तो ऊँचा उठता ही है; वह कभी अपने पीछे द्वेष, दुर्भावना या बदला लेने की विरासत नहीं छोड़ता।

अहिन्सात्मक आन्दोलन में न सिर्फ भारतवर्ष की आजादी का सवाल है, बल्कि इसमें सारी मनुष्य-जाति का हित है। मानव समाज के हितैषियों को चाहिए कि हिन्सात्मक युद्धों का अन्त करने के लिए खासकर भारतवर्ष में, और कुछ-कुछ दूसरे देशों में, जो अहिन्सात्मक आन्दोलन चल रहा है, उसमें केवल तमाशा देखनेवाले न बनें; बल्कि तन मन से, पूरी शक्ति से, उसमें हिस्सा लें, जिससे सब देश आजाद हों, सब को आजादी की रक्षा हो, संसार का भविष्य सुधरे, और मनुष्य अपने असली मानव पद को प्राप्त करे।

———

छठा भाग

मानसिक प्रगति



मनुष्य ने जो कुछ सोचा है, आज उसका जीवन उसी का फल है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो उसका मन है, वही उसके विचारों का, उसके संकल्पों का, उत्पत्ति-स्थान है। मन ही विचारों की जन्म-भूमि है। मन ही हमारा कल्पवृक्ष है। मन के द्वारा ही हमारी कल्पनाओं का विकास होता है।······राष्ट्र का मन ही राष्ट्रीय कल्पवृक्ष है। इस कल्पवृक्ष के द्वारा ही राष्ट्र के भूत, वर्तमान और भविष्य में एकता का सूत्र पिरोया रहता है।

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

अठाईसवाँ अध्याय

भाषा

भाषा बहुत सी बातों के संयोग से बनती है, वह बनायी नहीं जाती।

—मदन मोहन मालवीय

आदमी ने विविध क्षेत्रों में बहुत प्रगति की है, और करता जा रहा है। इसका एक खास कारण यह है कि वह समाज में दूसरों के साथ मिलजुल कर रहता है, और उसमें सोचने विचारने की, और अपने विचार स्पष्ट, निश्चित रूप में और ब्योरेवार ज़ाहिर करने की, अजीब योग्यता है। आदमी भाषा का उपयोग करता है। भाषा के द्वारा आदमी के विचार समाज में, गाँव या नगर भर में, फैलते हैं। फिर, आदमी एक जगह से दूसरी जगह, एक देश से दूसरे देश में, जाते रहते हैं तो जुदा-जुदा स्थानों में रहनेवाले आदमियों को एक-दूसरे के विचार जानने का अवसर मिलता है। बड़ी उम्र के आदमी बच्चों से बातचीत करके, अपने विचार दूसरी पीढ़ी के लिए छोड़ जाते हैं; इस तरह आदमी के विचार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलते रहते हैं, और बढ़ते रहते हैं।

भाषा आदमी के विचारों को प्रगट करने का ही साधन नहीं है, उससे विचारों के पैदा होने या बढ़ने में भी बड़ी सहायता मिलती है। हमारे सोचने, विचारने, किसी बात की कल्पना करने, किसी चीज़ या आदमी को पहचानने आदि के काम बहुत कुछ शब्द पर निर्भर रहते हैं। अकसर जब कोई आदमी हमें बहुत समय बाद मिलता है तो हम सोचते हैं कि यह आदमी कुछ परिचित तो है, पर उसके बारे में ज्यादा बातों का विचार नहीं कर पाते। आख़िर में, जब हमें उसका नाम याद आ जाता है, या जब वह अपना नाम हमें बता देता

हैं तो एकसाथ हमें उसके बारे में बहुत सी बातें अपने आप याद आ जाती हैं। इसी तरह कोई आदमी हम से कहता है कि मैंने बाजार में ऐसे रंग, ऐसे आकार और इतने वजन आदि की चीज देखी तो कई बार हम ठीक अन्दाज नहीं कर पाते कि वह चीज़ क्या है। लेकिन उसका नाम सुनने पर हमारे सामने उसके रूप-रङ्ग, आकार आदि का पूरा चित्र खिंच जाता है। इससे ज़ाहिर है कि एक-एक नाम या शब्द का कितना महत्व है; वह कितने विचारों या भावों को जाग्रत कर देता है।

भाषा किस तरह बनी, यह बताना एक स्वतंत्र और बहुत जटिल विषय है। अपनी ज़रूरतें दूसरों को बताने के लिए गूंगे आदमी किस तरह कुछ चिह्नों का प्रयोग करते हैं, उससे इसका कुछ अन्दाज हो सकता है। मालूम होता है कि शुरू जमाने में आदमी हाथ मुंह आदि की हरकतों या इशारों से ही काम निकालते थे। मिसाल के तौर पर दो हाथों की अंजली बना कर उसे मुंह के पास लेजाने से प्यास का आशय लिया जाता है। आंख मीच कर सिर को एक हाथ के सहारे कुछ टेढ़ा करने से नींद का भाव जाहिर होता है। हाथ से पेट की ओर इशारा करने से भूख की बात दिखायी जाती है। हाथ जोड़ कर पैरों में सिर नवाने से, माफी मांगने या दया चाहने की इच्छा सूचित होती है। इस तरह के अनेक उदाहरणों की कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

संकेतों से पूरा भाव मालूम नहीं होता, और अंधेरे में वे दिखायी नहीं देते। धीरे-धीरे एक चीज के लिए कुछ खास-खास शब्दों का व्यवहार होने लगा। इन में जो ज्यादह सरल या सुविधाजनक हुआ, उसी शब्द को लोगों ने अधिक अपनाया। आस पास के आदमी उस शब्द का एक खास अर्थ लेने लग गये। शुरू शुरू में मूल शब्द कैसे और कहाँ से लिये गये, इसके बारे में लोगों ने तरह-तरह के अनुमान किये हैं। सम्भव है कि आदमी ने कुछ शब्द ध्वनि या आवाज के आधार पर ग्रहण किये; पशु पक्षियों की, पेड़ पत्तों की, पानी के

चलने या गिरने की, आश्चर्य या खुशी में स्वयमेव निकलनेवाले शब्दों की, जैसी आवाज सुनी वैसे ही शब्द बना लिये गये। पर ऐसे शब्द किसी भाषा के कुल शब्दों में थोड़े ही होते हैं। मालूम होता है कि आदमी ने अन्य शब्द बिना किसी ऐसे आधार के स्वयं अपनी स्वाभाविक शक्ति से ही बनाये।

भाषा के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह है कि क्या पहले पहल कोई एक ही भाषा थी, जिससे दूसरी सब भाषाएँ बनीं, और पीछे देश-काल के भेद से जुदा-जुदा हो गयीं, अथवा, शुरू में कई भाषाएँ थीं, जो कभी-कभी आपस में मिलती रहीं और अब अनेक भाषाओं के रूप में मौजूद हैं। यह प्रश्न बहुत विवादग्रस्त है। इसका उत्तर बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि क्या आरम्भ में मनुष्य जाति किसी एक ही जगह उत्पन्न हुई और वहाँ से संसार के सब स्थानों में गयी, अथवा, वह कई खास-खास जगह उत्पन्न हुई और वहाँ से बहुत से स्थानों में फैली। साधारण तौर से ऐसा माना जाता है कि संसार की मौजूदा सब जातियों को कुछ इनेगिने समूहों में विभक्त किया जा सकता है, इस समय की हर एक जाति का प्रादुर्भाव उन समूहों में से किसी एक से हुआ। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान के विद्वानों का मत है कि संसार की वर्तमान भाषाओं के कुछ ऐसे वर्ग निश्चित किये जा सकते हैं; जिनमें से प्रत्येक वर्ग मूल में एक-दूसरे से जुदा है। अर्थात्, सब भाषाओं का मूल कोई एक भाषा न होकर थोड़ी सी भाषाएँ थीं, जो पीछे अनेक भाषाओं में परिणत हो गयीं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले कुछ बहुत महत्व की, और थोड़ी सी ही, चीजों या बातों के लिए शब्द बने। पीछे इनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ी। ज्यों-ज्यों आमदरफ़्त और सभ्यता बढ़ती गयी, भाषा की शब्द-सम्पत्ति बढ़ती रही। जो समूह या जाति जितनी अधिक उन्नत होती गयी, उसकी भाषा उतनी ही अधिक विकसित हुई। भाषा के विकास की कहानी बहुत लम्बी है। हमें यहाँ संक्षेप में कुछ खास-खास बातों का ही ज़िक्र करना है।

बहुत से देशों की भाषाओं में मनुष्यों की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को सूचित करनेवाले शब्द बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। यह साफ़ मालूम होता है कि एक भाषा का ऐसा शब्द दूसरी भाषा के शब्द से बना है, उसमें कुछ थोड़ा सा परिवर्तन हो गया। इससे यह परिणाम निकलता है कि इन देशों के आदमियों का निवास आरम्भ में किसी एक ही जगह था। वहाँ से आदमी धीरे-धीरे दूसरी जगह जाकर बसे, फिर कुछ पीढ़ियों के बाद वहाँ से अब कुछ आदमी तीसरी जगह जाकर बसे। इस तरह यह सिलसिला जारी रहा। जो आदमी एक स्थान को छोड़कर किसी नये स्थान में गये, वे अपने साथ कुछ-कुछ शब्द भी ले गये। इन शब्दों में से कुछ पीछे उपयोगी न रहे, पर कुछ बराबर काम में आते रहे; हाँ, काम में आने से उनका रूप कुछ इस तरह बदलता रहा, जैसे नदी की धारा में पत्थर के टुकड़े अपने कोनों और किनारों का ह्रास होने पर चिकने सालिगराम बन जाते हैं। अस्तु, कितने ही देशों की भाषाओं में कुछ शब्द एक-सरीखे हैं; स्थान-भेद के अनुसार उनके उच्चारण में थोड़ा बहुत अन्तर है। ऐसे शब्द बहुत थोड़े ही हैं, शेष शब्द तो एक-दूसरे से जुदा हैं। बात यह है कि जैसे-जैसे समय बीतता गया, हर देश के आदमियों की ज़रूरतें बढ़ती गयीं, नये-नये विचार मन में आते गये, उन्हें प्रकट करने के लिए नये शब्दों की आवश्यकता हुई। ये शब्द उन्होंने अपने-अपने बना लिये। धीरे-धीरे उनकी भाषाएँ जुदा-जुदा हो गयीं। मिसाल के तौर पर फारिस, यूनान, रोम, जर्मनी, फ्राँस इंगलैण्ड आदि की भाषाओं में कुछ शब्द संस्कृत शब्दों के थोड़े ही बदले हुए स्वरूप हैं; वैसे ये भाषाएँ एक दूसरे से जुदा हैं। ये भाषाएँ एक वर्ग की मानी जाती हैं। इन भाषाओंके शब्दोंमें जो सामान्यता है, वह यह जाहिर करती है कि किसी समय इनके बोलनेवालों के पूर्वजों की संस्कृति एकही रही है। और, इन भाषाओंकी विभिन्नता यह सूचित करती है कि पीछे जाकर उन लोगों की अपनी-अपनी प्रगति, उन्नति या अवनति होती रही है, उनके इतिहास रस्मरिवाज़, परम्परा, धर्म या सामाजिक व्यवस्था के विकास में अन्तर

होता गया है।

पुराने जमाने में आदमी छोटे-छोटे गाँवों में रहते थे। एक गाँव के आदमियों का दूसरे गाँव वालों से, और खासकर दूर दूर के आदमियों से, बहुत कम सम्बन्ध होता था। आने-जाने की और आपस में मिलने-जुलने की सुविधाएं ही कम थी। इसलिए अकसर ऐसा होता था कि पाँच-दस वर्ग मील के अन्दर रहनेवाले ही आपस में अच्छी तरह बातचीत कर सकते थे। इस दायरे से बाहर के आदमियों की उतनी अच्छी तरह बातचीत नहीं हो सकती थी। ज्यों-ज्यों फासला ज्यादह होता था, एक जगह के आदमियों के लिए दूसरी जगह वालों की भाषा समझना अधिक कठिन होता था; अकसर जैसे-तैसे इशारों से काम चलाना पड़ता था। इस तरह हर बीस-पचास वर्ग मील के अंदर के आदमियों की एक अलग-अलग दुनिया थी।

जिसे हम आजकल एक देश, या जाति कहते हैं, वह पहले सैकड़ों टुकड़ों में बटी हुई थी, और हरेक की भाषा बहुत-कुछ जुदा-जुदा थी। धीरे-धीरे इस हालत में परिवर्तन हुआ। खास तौर से व्यापार या लड़ाई आदि में दूर-दूर के आदमियों का मिलना हुआ; कभी-कभी उन्हें एक-दूसरे के पास रहने का भी प्रसंग आया। इस प्रकार एक भाषा के बोलनेवालों ने दूसरी भाषावालों से कुछ शब्द या मुहावरे लिये, और कुछ दिये भी। हरेक भाषा में कुछ नये शब्द आते रहे। हाँ, कुछ शब्दों का अर्थ धीरे-धीरे बदला भी; और कुछ शब्दों का व्यवहार बन्द भी हुआ।

किसी लेखक ने लिखा है कि "प्रति वर्ष प्रत्येक भाषा में प्रायः २० नये शब्द जुड़ जाते हैं।* सब से आश्चर्य की बात यह है कि साधारण जनता इन शब्दों को जोड़ने में सहायक होती है। चूंकि इन शब्दों का कोई धातुगत आधार नहीं रहता, इसलिए व्याकरण-शास्त्री अथवा भाषाविशारद उनका भरसक बहिष्कार करने की चेष्टा करते रहते हैं, पर चूंकि

*शब्दों की वृद्धि देश-काल पर निर्भर है: हर समय और सब भाषाओं के लिए एकसा ही अनुमान करना ठीक नहीं है।

जनता उन्हें प्रति क्षण की बोलचाल में अपनालेती है, इसलिए वे उसका बहिष्कार करने में असफल सिद्ध होते हैं। धीरे-धीरे वे शब्द भाषा की मिट्टी में जड़ पकड़ लेते हैं, और भावी युग के शब्द-कोषों को झख मारकर उन्हें स्वीकार करना पड़ता है। वर्तमान महायुद्ध ने अंग्रेजी भाषा में बहुत से नये शब्दों को जन्म दिया है, उदाहरण के लिए 'क्विसलिंग' को ही लीजिए। यह शब्द 'देशद्रोही' के लिए काम में लाया जाता है। भविष्य में अंग्रेजी शब्दों के कोष न चाहने पर भी इस को स्वीकार करने को बाध्य होंगे, क्योंकि इसका प्रचार इस हद तक हो चुका है कि भाषा-जगत में उसके प्रवेश को कोई शक्ति रोक नहीं सकती।"*

मिली हुई सीमाओं वाले राज्यों या देशों के पास-पास के आदमियों ने, और एक बड़े देश में रहनेवाली जुदा-जुदा जातियों ने, एक मिली हुई भाषा की ज़रूरत और फायदे समझे। कुछ ने उसके बनाने में अमली हिस्सा लिया, और कुछ ने अनजाने उनका साथ दिया। पर कुछ लोगों का यह मत रहा कि हमारी भाषा बिलकुल शुद्ध रहे, इसमें किसी तरह की मिलावट या परिवर्तन न होने पाये। इन्हें दूसरी भाषा का कोई शब्द, मुहावरा, या शैली लेना स्वीकार न था। इन्होंने अपनी भाषा को व्याकरण के ऐसे कठोर नियमों से जकड़ दिया कि ये उन नियमों का ज़रा भी उलङ्घन करनेवालों की भाषा को अशुद्ध कहने लगे। जहाँ ऐसे लोगों की बात चली, वहाँ भाषा का प्रवाह रुक गया, और कुछ दशाओं में वह भाषा मुर्दा भाषाओं में गिनी जाने लगी। लेकिन बहुत से स्थानों में ऐसे लोगों की बात विशेष चली नहीं। जो लोग मिली-जुली भाषा की निन्दा करते थे, उन्हें भी पीछे जाकर उसका थोड़ा-बहुत उपयोग करना पड़ा और, आनेवाली पीढ़ियों ने तो उसे अपना ही लिया। मिली-जुली भाषाओं ने एक-एक देश के जुदा-जुदा हिस्सों को मिलाया। यह क्रिया लगातार जारी रहने का ही यह नतीजा है कि हम छोटे-छोटे क्षेत्रवाली भाषाओं और नगर-

*'साप्ताहिक भारत' ता० ४ फरवरी १९४५

राज्यों की जगह अब राष्ट्र-भाषाओं और राष्ट्र-राज्यों तक आ पहुँचे हैं; और, यह आशा करने लगे हैं कि धीरे-धीरे कुछ पीढ़ियों के बाद एक दिन ऐसा भी आ जायेगा, जब विश्व-भाषा का विकास हो जायगा, जो संसार भर के आदमियों के लिए विचार-विनिमय का साधन होगी और विश्व-राज्य या विश्व-संघ के निर्माण में सहायक होगी।

विश्व-भाषा का प्रचार होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि संसार की अन्य सब भाषाओं का लोप हो जायगा। जिस तरह भारत-वर्ष में राष्ट्र-भाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) की उन्नति के साथ बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम उन्नति कर सकती हैं, और कर रही है, उसी तरह विश्व-भाषा के साथ संसार में कुछ बड़ी-बड़ी भाषाएँ भी रहेंगी। हाँ,सब मौजूदा राष्ट्र-भाषाओं के रहने की आशा नहीं की जा सकती, और आवश्यकता भी नहीं है। यों तो आदमियों को अपनी-अपनी चीज से बेहद मोह होता है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं भावुक आदमी अपनी स्थानीय भाषा अर्थात् उपभाषा या बोली को भी बहुत अधिक महत्व देते हैं, और उसे शिक्षा और साहित्य की भाषा बना कर अमर करने की फिक्र में रहते हैं; पर हमें याद रखना चाहिए कि मनुष्य जाति के काम में आनेवाले साधनों का चिरकाल से विकास और रूपान्तर होता रहा है, और आगे भी होता रहेगा। दुनिया की अनेक उपभाषाएँ या भाषाएँ लुप्त होती रही हैं, कई कई भाषाओं और उपभाषाओं का स्थान एक अधिक योग्य और उपयोगी भाषा ने ले लिया है। इस तरह हर एक देश की भाषाओं और बोलियों की संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है; और, ज्यों ज्यों मनुष्य उन्नति करेगा, आमदरफ़्त के साधनों का विकास होगा, यह संख्या और भी कम होने वाली ठहरी। इसका अफसोस करने की ज़रूरत नहीं। यह स्वाभाविक ही है, और मानव समाज के लिए हितकर भी।

अस्तु, भाषाओं का विकास हो रहा है। अभी कोई भी भाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। हम बातचीत करते हुए अनेक बार यह अनुभव

करते हैं कि हमारे कथन से सुननेवाले को यथेष्ट ज्ञान नहीं हो रहा है, कुछ भावों को प्रकट करने के लिए हमें समुचित शब्द नहीं मिलते। कई बार भाषण करने में अच्छे-अच्छे वक्ताओं को भी हाथ और चेहरे की हरकतों का, या दूसरी भाषाओं के शब्दों का, सहारा लेना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि भाषाओं के विकास की बहुत गुञ्जाइश और आवश्यकता है; विद्वानों को इसमें भरसक सहयोग प्रदान करना चाहिए।

इसके अलावा, हम याद रखें कि भाषा के रूप में हमें एक बड़ी शक्ति मिली है। हमें चाहिए कि हम इस शक्ति का सदा सदुपयोग करें। जब कोई आदमी दूसरे को गाली देता है, झूठ बोलता है, किसी की निन्दा, चुगली या खुशामद करता है, अथवा किसी प्रकार के बुरे शब्दों का व्यवहार करता है तो वह एक महत्वपूर्ण दैवी देन का दुरुपयोग करता है। हर एक भाषा में कुछ अपशब्दों का होना मनुष्य के लिए बड़े कलङ्क की बात है, हमें इन शब्दों का उपयोग छोड़ कर इन्हें अप्रचलित या बेकाम बनाना है। इसके लिए आवश्यकता है कि हम क्रोध और ईर्षा-द्वेष आदि को अपने मन से दूर भगावें, और अपनी बात व्यवहार में संयम और निग्रह से काम लें। भाषाओं को ऊंचा बनाने के लिए आदमी को ऊंचा बनना है।

उनतीसवाँ अध्याय

लिपि

"आदिम आर्य-सुन्दरियाँ अंगभंगी, मुख-मुद्रा और नयन-बाण द्वारा ही स्नेह की नैसर्गिक भावना का प्रदर्शन करती रहीं। तदुपरान्त प्रकृति के अनुरूप रेखा-चित्रों द्वारा भाव-व्यञ्जना प्रगतिशील हुई। चीन तथा पेरु देश की सुन्दरियाँ रज्जु से लटकते हुए नाना

वर्णों के तागों की रज्जु के साथ दी हुई ग्रन्थियों द्वारा राजकीय और ऐतिहासिक घटनाएँ तक लिपिबद्ध करने लगीं—यही तो पेरु देश की किपु लिपि थी। साथ ही कोयल की 'कुहू-कुहू' की माधुरी से मुग्ध हो उसे "कुहू-कुहू" कहकर पुकारने के लिए उनकी वाग्-शक्ति फूट पड़ी और भाषा की सृष्टि हुई। फिर हमने सुना—शकुन्तला जैसी आर्य-बालाओं ने कमल-पत्र और भोज-पत्रों में भाषा-लिपि अङ्कित की।"

—एक पत्रक

लिपि का आविष्कार कैसे हुआ? आदमी ने लिखने का ढङ्ग अपना मन बहलाने के लिए ही नहीं निकाला, उसे यह काम मजबूर होकर करना पड़ा। पहले बताया जा चुका है कि पशु-पालन और खेती का आविष्कार होने पर आदमियों में अधिकार और मिलकियत या स्वामित्व का भाव पैदा हुआ। वे सोचने लगे कि यह चीज मेरी है, और यह चीज़ दूसरे की। अब एक समस्या पैदा हुई। अपनी चीजों की पहचान कैसे हो, जिससे उनकी रक्षा की जाय। कल्पना करो, एक जगह दस समूह रहते थे, जिनमें से हरेक के पास कुछ कुछ पशु थे। जङ्गल में चरने या पानी पीने आदि के समय एक समूह के पशुओं का दूसरे पशुओं से मिल जाना स्वाभाविक था, फिर उन्हें अलग-अलग केसे किया जाय? यह कैसे मालूम हो कि अमुक पशु रामू का ही है, शामू या मोहन का नहीं?

जब कि आपसी वाद-विवाद मिटाने के लिए हरेक अपने डंडे का सहारा लेने को तैयार रहता था तो समय-समय पर लोगों में मारपीट हो जाना स्वाभाविक था। इसका अन्त करने के लिए धीरे-धीरे किसी के दिमाग में यह बात आयी कि अलग-अलग समूहों के पशुओं पर जुदा-जुदा निशान लगाए जायँ। जहाँ एक बार यह रीति चली तो दूसरी चीजों पर भी निशान लगाये जाने लगे। किसी ने अपनी चीजों पर सीधी लकीर खींची, किसी ने आड़ी, और किसी ने तिर्छी; किसी ने एक-एक ही लकीर से काम लिया, किसी ने दो-दो

लकीरें खींचीं, और किमी ने तीन-तीन। ये आड़ी टेढ़ी लकीरें, ये बेढङ्गे किरमकाँटे मनुष्य जाति की शुरू की हालत में बहुत उपयोगी हुए। इनके आविष्कार ने उस समय की अनेक लड़ाई झगड़ों का अन्त कर दिया, और लिपि या लिखावट की नींव डाल दी। पीछे आनेवाली पीढ़ियों के बुद्धिमान लोगों ने अपनी सूझबूझ से काम लेकर उसमें तरह-तरह के सुधार किये, और लिपि के विकास का रास्ता साफ किया।

लिपि के आविष्कार ने आदमी को तरह-तरह की बहुत सी बातें याद रखने में मदद दी है, या यों भी कह सकते हैं, कि अब आदमी को उन्हें याद रखने के लिए अपने दिमाग पर जोर डालना नहीं पड़ता; वह मामूली बातों को भी नोट कर लेता है, और उन्हें याद रखने के झंझट से बच जाता है। लिपि के आविष्कार से पहले की दशा जानने के लिए एक अनपढ़ आदमी का विचार करें। अब तक भी गाँवों के किसी अनपढ़ आदमी को जब कोई बात याद रखनी होती है तो वह अपने पहनने के कपड़े के सिरे पर गाँठ लगा लेता है। इस गाँठ को देखकर आदमी को उस बात की याद आती रहती है, आख़िर जब वह काम पूरा हो जाता है. और उस बात को याद रखने की ज़रूरत नहीं रहती तो गाँठ खोल दी जाती है। यह बात इतनी प्रचलित है कि हिन्दी भापा में 'पल्ले गाँठ बाँधना' कहावत हो गयी है।

यह तो ज़ाहिर ही है कि याद रखने का यह तरीका बहुत उपयोगी नहीं है, खासकर जब कि कई बातें एक साथ या कुछ बातें ब्योरेवार याद रखनी हों। मिसाल के तौर पर प्राचीन काल में दो कबीलों में लड़ाई के बाद संधि होती थी और उनमें दोनों पक्ष की ओर के कुछ शर्तें तय होती थीं; क्या उपाय किया जाय कि ये शर्तें पीछे भी याद रहें। ऐसे अवसरों के लिए कहीं-कहीं आदमी ने चित्रों का उपयोग किया; याद रखने योग्य घटना को यथासम्भव पूर्ण रूप से चित्र में ज़ाहिर किया गया। इस तरह के कुछ चित्र बहुत पुराने जमाने की गुफाओं में मिले हैं। धीरे-धीरे चित्रों का संक्षिप्त संस्करण

होता रहा। पहले चित्र मूल वस्तु की आकृति या शक्ल से मिलता हुआ होता था, पीछे चित्र का रूप धीरे-धीरे संक्षिप्त होता रहा, और काफी बदलता रहा।

समय बीतता गया। कुछ लोगों ने चित्र-लिपि में एक और कदम बढ़ाया। चित्रों से किसी चीज के बजाय, कोई विचार जाहिर किया जाने लगा। सम्भव है, इसके बाद अनेक सदियाँ बीत जाने पर चित्रों का उपयोग ध्वनि या शब्द को जाहिर करने के लिए होने लगा। इसके बाद (संक्षिप्त) चित्र से शब्द का उतना अंश सूचित किया जाने लगा जितना एक बार में बोला जाता है, और पीछे जाकर उससे वर्णमाला का एक अक्षर ही जाहिर किया जाने लगा।

अक्षरों की उत्पत्ति कई तरह से हुई होगी। देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने श्री० शामा शास्त्री का यह मत उद्धृत किया है कि "देवताओं की प्रतिमा बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी, जो कई प्रकार के त्रिकोणादि यंत्रों के मध्य में लिखे जाते थे, और वे यंत्र 'देवनगर' कहलाते थे। उन देवनगरों के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में अक्षर माने जाने लगे; इसी से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।"*

जो हो, अब संसार के अलग-अलग हिस्सों में जुदा-जुदा तरह की लिपियों का चलन है। प्राचीन काल में कोई-कोई लिपि दूर-दूर तक फैलती गयी, और स्थान-भेद से उसमें समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहा। यों तो छापेखाने के प्रचार के बाद भी विविध लिपियों में समय-समय पर कुछ अन्तर होता रहा है, फिर भी छापेखाने ने लिपियों को कुछ स्थिरता प्रदान करदी है। पहले उनमें बहुत परिवर्तन हुआ है। मिशाल के तौर पर श्री० ओझा जी ने लिखा है कि 'मध्य एशिया, जापान आदि से मिले हुए थोड़े से नागरी लिपि के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों एवं हमारे यहाँ मिले हुए असंख्य प्राचीन

*देखिए, 'नागरी अंक और अक्षर' पुस्तक।

शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्कों की नागरी लिपि में, वर्तमान नागरी लिपि से बड़ा अन्तर है, जो समय के साथ क्रमशः होता गया है। जिसको प्राचीन नागरी लिपि का ज्ञान न हो, ऐसे विद्वान के सामने यदि अशोक के लेख का फोटो रख दिया जाय तो वह उसकी लिपि को कभी नागरी न कहेगा। इतना ही नहीं, वह इस बात को सहसा स्वीकार भी न करेगा कि उस विलक्षण लिपि के परिवर्तन होते-होते हमारी वर्तमान नागरी लिपि बनी है।......यह कहना अनुचित न होगा कि अशोक के लेखों की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से अधिक सरल थी, और गुजराती लिपि की तरह उसके अक्षरों के सिर नहीं बनते थे। परन्तु पीछे लेखकों के हाथ से उसके अनेक रूपान्तर हुए, जिनके मुख्य तीन कारण अनुमान किये जा सकते हैं—(१) अक्षरों के सिर बनाना। (२) अक्षरों को सुन्दर बनाने का यत्न करना। (३) त्वरा (जल्दी) से लिखना तथा कलम को उठाये बिना अक्षर को पूरा लिखना।" इससे स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि का धीरे-धीरे विकास हुआ है। यही बात अन्य लिपियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

विविध लिपियों का क्रम विकास एक ही नहीं, कई स्वतंत्र पुस्तकों का विषय है। यहाँ इतना ही जिक्र कर देना है कि बहुत से विद्वानों का मत है कि देवनागरी के अक्षरों से कई लिपियों का निर्माण हुआ, और उन लिपियों के अक्षरों से यह ज्ञात हो सकता है कि उनका मूल देवनागरी ही थी। इस विषय पर श्री० केशवदेव जी मिश्र ने 'नागरी अङ्क और अक्षर' पुस्तक में प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि बंगला गुजराती और गुरुमुखी लिपियों की वर्णमाला देवनागरी अक्षरों से प्रवाहित हुई है। न केवल इन लिपियों के संग-संग देवनागरी अंक गये हैं, परन्तु अर्बी, फारसी और अंगरेजी लिपियों में भी देवनागरी अंक लिये गये हैं।

लिपि में खासकर ये गुण देखे जाते हैं—(१) सौंदर्य (२) शीघ्र-लेखन, और (३) निश्चय अर्थात् हरेक अक्षर की एक निश्चित ध्वनि, और हरेक ध्वनि के लिए एक खास अक्षर; इस तरह जो लिखा जाय,

वही पढ़ा जाय। संसार भर में जितनी भी लिपियाँ हैं, उनमें इन तीन गुणों में कोई एक या अधिक अवश्य होंगे। इन गुणों में निश्चय का गुण बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है। इस गुण की दृष्टि से भारतवर्ष की देवनागरी या नागरी लिपि का स्थान बहुत ऊंचा है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों के ऊपर की रेखा हटायी जा सकती है। ऐसा करते समय ख, घ, म, और ण का रूप कुछ बदलने की ज़रूरत होती है।

देश-काल के अनुसार चीजों को परखने की कसौटी बदलती रहती है। किसी लिपि के गुणों में इस बात का भी विचार किया जाता है कि उसमें शिक्षा आसानी से दी जा सके, तथा उसमें टाइप करने तथा छापने की सुविधा हो। इस दृष्टि से नागरी लिपि के कुछ अक्षरों के रूप तथा संयोग अर्थात् जोड़ने में कुछ परिवर्तन किया जा रहा है। मिसाल के तौर पर 'अ' की बारहखड़ी (अ, अा, अि, अी, अु, अू, अे, अै आदि) तथा संयुक्त अक्षरों को तोड़कर (जैसे ग्र का ग्‍र, क्ष को क्‍ष, क्त, को क्‍त) लिखा जाने लगा है। इसी तरह दूसरी लिपियों के परिवर्तनों का विचार किया जा सकता है।

लिपि का सहारा पाकर ही आदमी की भाषा ने दूर-दूर के स्थानों में पहुँचने में कामयाबी हासिल की है। वैसे भी भाषा के द्वारा हम अपने विचार दूसरों को ज़ाहिर तो कर सकते हैं, और दूसरों के विचार हम जान भी सकते हैं, पर यह उसी दशा में हो सकता है, जब दूसरा आदमी हमारे सामने हो, या कम-से-कम इतना पास हो कि एक की आवाज दूसरे तक जा सके। आदमी की सुनने की शक्ति बहुत परिमित ही है; वह बिना यंत्रों के सहारे (जिनका आविष्कार थोड़े से समय से ही हुआ है, और जिनका अब भी सर्वसाधारण के लिए काफी उपयोग नहीं है) थोड़े से ही फासले की बात सुन सकता है। दूर-दूर तक अपनी बात कैसे पहुँचायी जाय! यह समस्या धीरे-धीरे आदमी के सामने आयी; इसे लिपि के आविष्कार ने हल किया। आदमी अपनी बात लिख कर बहुत दूर रहनेवालों के पास भी पहुंचाने लगा।

लिपि का प्रचार तथा यातायात के साधनों की उन्नति हो जाने पर अब यह सम्भव हो गया है कि संसार के एक कोने पर रहनेवाला आदमी दूसरे सिरे के आदमियों के विचार जान सके और उन्हें अपने विचारों से परिचित कर सके। लेकिन अभी यह बात पूरी तरह से अमल में नहीं आ रही है। इसमें हमारी भावना और संकीर्णता बाधक है। हम एक श्रेष्ट लिपि को न अपनाकर तरह-तरह की जुदा-जुदा लिपियाँ काम में लाते हैं। बहुत से आदमी अपने प्रान्त की लिपि का प्रचार चाहते हैं; कितने ही आदमी उस लिपि को विशेष महत्व देना चाहते हैं, जो उनकी धर्म-पुस्तकों की मूल लिपि है; कुछ आदमी अपने शासकों की लिपि का उपयोग करने को मजबूर हैं, या करना लाभकारी समझते हैं; और, कुछ लोग ऐसी लिपि को अपनाना चाहते हैं, जो संसार भर में अधिक से अधिक फैली हुई है।

संसार के विविध हिस्सों में समय-समय पर जुदा-जुदा लिपि, अथवा एक-एक लिपि के जुदा-जुदा रूप रहे हैं।* उनमें समय-समय पर लोगों की भावना तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। बहुत सी लिपियाँ अब लुप्त हो गयी हैं। नयी-नयी लिपियों के निर्माण का काम भी होता रहा है। इस समय जुदा-जुदा देशों में ही नहीं, कितने ही देशों के अलग-अलग हिस्सों में भी अलग-अलग लिपियाँ प्रचलित हैं, एक ही भाषा बोलनेवाले बहुत से आदमी कई-कई लिपियों का व्यवहार कर रहे हैं। अधिकतर लिपियाँ बायें से दायें को लिखी जाती हैं, जैसे कि देवनागरी लिखी जाती है। लेकिन कुछ लिपि ऐसी हैं जो दायें से बायें को लिखी जाती हैं, जैसे कि फार्सी लिपि। और, कुछ लिपि तो ऊपर से नीचे को लिखी जाती है, जैसे चीन की लिपि। निदान, तरह-तरह की बहुत सी लिपियाँ चल रही हैं।

आजकल जल्दी लिखने की आवश्यकता बढ़ती जाती है। हम

*भारतवर्ष के मोहन—जोदड़ो और हरप्पा में खपड़ों पर जो लिखावट है, वह हजरत ईसा से पांच हजार वर्ष पहले की है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

चाहते हैं कि जिस रफ़ार से आदमी बोल सकता है, या बातचीत कर सकता है, उसी रफ़ार से लिखा भी जा सके, जिससे नेताओं या विद्वानों के सार्वजनिक भाषण आदि पूरे नोट किये जा सकें। इस उद्देश्य से बहुत से लोगों ने पहले घसीटवाँ लिखना आरम्भ किया, या कुछ खास-खास बातें भाषण आदि के समय नोट करके, ब्योरेवार बातों की पूर्ति पीछे की, या कुछ खास-खास शब्दों को संकेत रूप में लिखने और कम महत्व वाले शब्दों को छोड़ देने की पद्धति से काम लिया गया। पर पीछे जाकर आदमी को इससे भी संतोष न हुआ। वह कुछ और सुधार की बात सोचता रहा। अन्त में जाकर शीघ्र-लिपि या 'शार्टहैंड का आविष्कार किया गया।

शार्टहैंड में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक छोटी सी सीधी, आड़ी या टेढ़ी रेखा निश्चित है। इस लिपि में लिखते समय कोई शब्द छोड़ा नहीं जाता; सब शब्द निर्धारित रेखाओं के संकेतों में व्यक्त किये जाते हैं। पीछे आवश्यकता या सुविधा होने पर इस लिपि में लिखा लेख साधारण लिपि में तैयार किया जा सकता है। इस लिपि के सहारे सभा-सोसायटियों के भाषणों और नेताओं के वक्तव्यों आदि की पूरी रिपोर्ट ली जाती है, यहाँ तक कि किसी लेखक के केवल भाषण देने से ही, उसका लेख या पुस्तक तैयार की जा सकती है। शार्टहैंड-लेखक किसी अच्छी और दुर्लभ पुस्तक को थोड़े समय के लिए माँग कर उसके आवश्यक हिस्सों की सहज ही नकल कर सकता है।

अंगरेजी में पिटमेन की शार्टहैंड की पुस्तक प्रथम बार सन् १८३७ में प्रकाशित हुई थी। तब से समय-समय पर इसमें कुछ परिवर्तन या सुधार होते रहे हैं। हिन्दी आदि दूसरी भाषाओं में कुछ उसी ढंग पर शार्टहैंड लेख-प्रणाली चलायी गयी है।

पहले कहा गया है कि इस समय जगह-जगह जुदा-जुदा लिपियाँ प्रचलित हैं। संसार भर की बात तो दूर रही, कितने ही देशों में भी एक-एक सामान्य लिपि नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि आदमी सब लिपियाँ नहीं सीख सकता। ऐसे आदमी भी कम ही हैं, जो दो-तीन

लिपियों से अधिक जानते हों और यह भी कुछ आसान काम नहीं है कि संसार भर का सभी श्रेष्ठ साहित्य किसी एक लिपि (और एक भाषा) में प्रकाशित हो। इसका नतीजा यह होता है कि प्रत्येक लिपि में लिखी या छपी पुस्तकों का प्रचार सीमित रहता है, सब आदमी उससे लाभ नहीं उठा सकते; मनुष्य जाति की एकता में बाधा पड़ती है, और लोगों को बहुत कठिनाई होती है। समय-समय पर इस बात का विचार हुआ है कि कोई एक लिपि ऐसी हो, जो संसार भर के आदमियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए काम में लायी जाय, और विश्व-लिपि बनकर सारी मनुष्य जाति की एकता में सहायक हो।

नवम्बर १६४४ का समाचार है कि संयुक्त राज्य अमरीका के भूतपूर्व सिनेटर अंधे राबर्ट ओवेन ने एक सरल वर्णमाला तैयार की है, जो संसार की किसी भी भाषा के बोलने वाले काम में ला सकते हैं। इस वर्णमाला में ४२ अक्षर हैं, जो किसी भी स्टैंडर्ड मोनोटाइप मशीन में छापे जा सकते हैं। हरेक अक्षर एक खास आवाज़ को ज़ाहिर करता है। इस विश्व-लिपि के सहारे आदमी अपनी भाषा के अलावा किसी भी दूसरी भाषा को, किसी द्वि-भाषा-पुस्तक की मदद से, सहज ही सीख सकते हैं। सीनेटर आवेन ने कहा है—"मैं इस वर्णमाला के आविष्कार से ऐसा उपाय करना चाहता हूँ, जिससे सारे संसार के आदमी एक-दूसरे के विचार आसानी से जान सकें, और आपस में मित्रता और प्रेम करने की सुविधा पा सकें।"

एक बात और। आदमी ने अपने विचारों को लिपि-बद्ध करना सीख लिया है, और इस काम में वह उन्नति कर रहा है। पर इसके साथ एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या लिखना और क्या नहीं लिखना चाहिए। यदि अनावश्यक या हानिकर बातें लिखी जायँगी तो यह लिपि-ज्ञान का दुरुपयोग ही होगा। इस ओर आदमी को बहुत सावधान और सतर्क रहने की ज़रूरत है। इस विषय पर विशेष आगे साहित्य के प्रसङ्ग में लिखा जायगा।

× × ×

लिपि के साथ, लिखावट के साधनों का भी थोड़ा विचार किया जाय। आजकल लिखना प्रायः कागज़ पर ही होता है। पर कागज़ बनाने की योग्यता प्राप्त करने के लिए आदमी को न-जाने कितनी मंज़िलें तय करनी पड़ी हैं, और उनमें कितने हज़ार वर्ष लगे होंगे। पुराने ज़माने में आदमी चमड़े के टुकड़े पर ही कुछ लिख लिया करता होगा; फिर, पत्थर का इस्तेमाल जान लेने पर वह किसी तेज नोकदार चीज़ से पत्थर पर लिखने लगा होगा। अनेक स्थानों में अब भी पुराने शिलालेख मिलते हैं। कहीं-कहीं मिट्टी की पकाई हुई इंटों पर भी तरह-तरह के लेख मिले हैं।

पत्थर पर की पुरानी लिखावट के नमूने लाटों पर बहुत जगह मिलते हैं। भारतवर्ष में अशोक आदि की लाट मशहूर हैं। ताम्बे के पत्रों पर भी लिखा गया है। यहाँ के बहुत से राजाओं ने किसी को जो भूमि दान की है, तो उसके सम्बन्ध में लिखे हुए ताम्रपत्र अब भी लोगों के पास मौजूद हैं। धीरे ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर लिखने का विचार हुआ। अब भी बहुधा मंत्र-तन्त्र भोजपत्र पर लिखे जाते हैं। जो हो; घास, लकड़ी या बाँस के गूदे से कागज़ बनाने का काम बहुत मुद्दत बाद शुरू हुआ। पहले कागज़ कैसा मोटा और खुरदरा होता था, इसका कुछ अन्दाज़ हाथ के बने साधारण कागज़ से किया जा सकता है। धीरे-धीरे इसमें सुधार किया गया। अब तो मशीनों से कारखानों में तरह-तरह का सुन्दर, चिकना, और कई रंगों का बढ़िया कागज बनाया जाता है।

पेंसिल के बारे साप्ताहिक 'भारत' के एक लेख में बताया गया था कि मध्ययुग के जर्मन संन्यासी अपनी पांडुलिपियों को सजाने के लिए ग्रेफाइट नामक एक विशेष धातु के टुकड़े को काम में लाया करते थे। उस टुकड़े से वे अपनी पांडुलिपि के चारों ओर लकीरें खींचते थे। बाद में एक संन्यासी ने सोचा कि उस टुकड़े को हाथ से पकड़ने से हाथ गंदा हो जाता है। इसलिए उसने यह तरकीब निकाली कि खोखली लकड़ी के भीतर ग्रेफाइट के उस टुकड़े को बिठा दिया और

तब उससे लिखना शुरू किया। इस प्रकार पेंसिल का आविष्कार हुआ। पर जिस रूप में पेंसिल आज काम में लायी जाती है उसका आविष्कार सन् १७९४ के पहले नहीं हो पाया था।

अब कलम की बात लीजिए। इसके, पुराने जमाने में, अनेक रूप रहे हैं। सम्भव है शुरू-शुरू में नोकदार हड्डी से लिखने का काम लिया गया हो; फिर पत्थर, धातु, और लकड़ी की नोकदार डंडी ने काम दिया हो। भारतवर्ष में अब भी बहुत से आदमी नेजे या सरकंडे की कलम का उपयोग करते हैं। अब 'सभ्य' आदमी बहुत आगे बढ़ गया है; बढ़िया-बढ़िया निब वाले होल्डर ही नहीं, फाउन्टेन पेन का इस्तेमाल करता है, जिसमें कलम के साथ रोशनाई का भी इन्तजाम रहता है। रोशनाई को मौजूदा रूप रंग तक लाने में भी आदमी ने कई मंजिलें तय की हैं; पाठक उनका विचार स्वयं कर लें।

इस तरह नयी-नयी लिपियों के बनने से, और लिखने के नये-नये साधनों के आविष्कार से, यह साफ़ ज़ाहिर है कि इन विषयों में भी प्रगति या विकास ही संसार का नियम है।

तीसवाँ अध्याय

साहित्य

साहित्य सदा प्रगतिशील है, क्योंकि वह जीवन का चित्र है, और जीवन सदा आगे बढ़ता है। प्रगतिशील होना जैसे जीवन का लक्षण है, वैसे ही साहित्य का भी। —जयन्तीलाल रुइया

पिछले अध्याय में लिपि के बारे में लिखा गया है। लिपि के उपयोग से ही आदमी साहित्य को स्थूल रूप दे सका है। इस अध्याय में हमें साहित्य की प्रगति का विचार करना है, साहित्य के अन्तर्गत हमने ललित साहित्य के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान, आदि

भी माना है। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का उपयोग हम यहाँ उस व्यापक रूप में कर रहे हैं, जिसे 'वाङ्मय' कहा जाता है। साधारण तौर से संसार का सब से पुराना साहित्य भारतवर्ष का ऋग्वेद माना जाता है, जिसे भारतवासी लाखों ही नहीं करोड़ों वर्ष पहले का, और अधिकांश योरपीय विद्वान ईसा से चार-छः हजार वर्ष पहले का, मानते हैं। दूसरे देशों में साहित्य भारतवर्ष के बाद ही सामने आया।

प्राचीन काल में साहित्य के इतने अलग-अलग भेद नहीं थे। यद्यपि भारतवर्ष में कुछ स्थूल सा वर्गीकरण बहुत समय से है, यहाँ के भी प्राचीन साहित्यकार अपने एक-एक ग्रन्थ का क्षेत्र इतना व्यापक रखते थे कि आजकल की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनमें अनेक विषयों का मिश्रण है। मिसाल के तौर पर कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशों की विजय तक अनेक बातें दी हैं— शहरों का बसाना, खुफिया पुलिस का इन्तजाम, फौज की रचना, अदालतों की स्थापना, फौजदारी और दीवानी के कानून, विवाह सम्बन्धी नियम, दाय भाग, दत्तक, शत्रुओं पर चढ़ाई, किलेबन्दी, संधि या सुलहनामे, औषधियों द्वारा शत्रु को हानि पहुँचाना आदि। इसी तरह पुराणों का क्षेत्र कितना व्यापक है, यह इस बात से जाना जा सकता है कि उनमें आगे दिये हुए सब विषयों का विवेचन है—जगत की उत्पत्ति कैसे हुई; सृष्टि होजाने पर पृथ्वी के ऊपर नदी, सागर, पर्वत किस प्रकार हुए; वृक्ष, लता, जीव जन्तुओं, और पीछे मनुष्य की सृष्टि किस प्रकार हुई; मनुष्यों ने किस तरह देश देशान्तरों में जाकर निवास किया, कैसे वे जुदा-जुदा जातियों में विभक्त हुए, किस तरह उन्होंने घर आदि बनाना सीखा, खेती और उद्योग धंधों का ज्ञान प्राप्त किया, कैसी-कैसी शासनपद्धति अमल में आयी, कैसे-कैसे राजवंश हुए, इत्यादि। महाभारत-लेखक ने साफ़ तौर से यह दावा किया कि जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है, अर्थात् महाभारत में सभी विषयों का समावेश है।

ज्यों ज्यों साहित्य बढ़ता गया, उसके अलग-अलग वर्ग बनने लगे

एक-एक ग्रन्थ में किसी एक खास विषय का ही विचार होने लगा। वर्गीकरण की खास वृद्धि बहुत थोड़े समय से, उन्नीसवीं सदी से ही होने लगी है। यह पहले योरपीय साहित्य में देखने में आयी। अब तो साहित्य की कितनी ही जुदा-जुदा शाखाएँ हो चली हैं; जैसे भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, कृषि, विज्ञान, स्वास्थ-रक्षा, गार्हस्थ शास्त्र, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कानून, दर्शन, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, आलेख्य (ड्राइङ्ग), वैद्यक, व्यापार, उद्योग आदि। फिर, इनमें से एक-एक की कई-कई शाखाएँ हैं। इस प्रकार साहित्य की वृद्धि और प्रगति का एक परिणाम इसका वर्गीकरण हुआ है। आजकल उन्नत भाषाओं में एक-एक विषय की एक-एक शाखा पर सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं। और, कितने ही आदमी कुछ विषयों का साधारण ज्ञान प्राप्त करके किसी एक विषय की भी किसी शाखा विशेष का ज्ञान प्राप्त करने में लगे रहते हैं, और उसके ही विशेषज्ञ होने के अभिलाषी रहते हैं।

साधारण तौर से, पहले हर देश में काव्य या पद्य साहित्य का निर्माण हुआ। आदमी जिन बातों को बहुत ही महत्वपूर्ण या आकर्षक समझता था, उन्हें ही लिखता था। विद्वानों की संख्या बहुत कम थी। ऐसे लोग इनेगिने ही होते थे जो लिख सकते थे, या लिखा हुआ पढ़ सकते थे। इन्हें दूसरे आदमी बहुत श्रद्धा और आश्चर्य से देखते थे। निदान, साहित्य का उपयोग करनेवाले कम थे, और उसके रचने वाले तो और भी कम। उस समय आदमी का जीवन प्रकृति के निकट अधिक था, और वह स्वभाव से पहले कवि हुआ; लेखक या गद्य लिखने वाला पीछे। हर एक देश में पहले कविता की रचना हुई। गद्य साहित्य का जन्म और विकास बहुत पीछे हुआ।

साहित्य के विकास का विचार करते हुए मानव इतिहास की तीन अवस्थाएँ सामने आती हैं—(१) मनुष्य जाति ने जिन पदार्थों या घटनाओं को अपने लिए लाभदायक समझा, उन्हें किसी-न-किसी देवता के नाम से कहा, और उसके सम्बन्ध में तरह-तरह के गीतों की

रचना की। ऐसे गीत हरेक जाति के साहित्य में मिलते है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, भूकम्प, बाढ़, वर्षा, आदि प्राकृतिक दृश्यों को देख कर मन में जो भाव पैदा हुए, उन्हें कविता या पद्य में जाहिर किया गया। इन रचनाओं को पौराणिक कथा या देवगाथा (माईथोलोजी) कहते हैं। (२) पीछे, उन्नति करने पर, दिल और दिमाग का विकास होने पर आदमी की निरीक्षण-शक्ति और अनुभव बढ़ा। इस समय वीरगाथाओं और युद्ध की कथाएं शुरू हुईं। इस अवस्था में इतिहास के क्षेत्र की सीमा प्राकृतिक वस्तुओं और चमत्कारों के अलङ्कार-पूर्ण वर्णन तक न रही, बल्कि उसमें ऐसे कार्यों को भी शामिल किया गया, जिन्हें आदमी कर सकता है। हाँ, इनका वर्णन खूब बढ़ा-चढ़ा कर किया गया। इस समय के इतिहास में महापुरुषों के अत्युक्तिपूर्ण जीवनचरित्र या उनके जीवन की विशेष घटनाएँ भरी होती हैं। यहाँ तक कि महापुरुषों को पाठकों के सामने देवता या अवतार के रूप में रखा जाता है। हाँ, इन रचनाओं से उस समय की सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थिति का परिचय मिलता है। (३) तीसरी अवस्था वह है, जब मनुष्य के इतिहास को इस उद्देश्य से लिखा जाने लगा कि उससे असल में ठीक-ठीक इतिहास का ज्ञान हो; घटनाओं को जानबूझ कर बढ़ा-चढ़ा कर न लिखा जाय।* लेखकों के मोह, पक्षपात या स्वार्थ के कारण इस अवस्था में भी बहुधा सत्य की हत्या या अवहेलना देखने में आती है।

यद्यपि कुछ लेखक (कवि) अपने संतोष या आनन्द के लिए (स्वान्तः सुखाय) लिखनेवाले भी रहे हैं, लेखक पहले ज्यादातर राजा महाराजाओं के ही आश्रित रहते थे। जैसा साहित्य वे पसन्द करते, वैसा ही तैयार किया जाता। बहुत राजा महाराजा या तो राग-रङ्ग में मस्त रहते थे और भोग विलास का जीवन बिताते थे, या कभी-कभी

*श्री रामनारायण जी मिश्र विशारद के, 'शिक्षा-सुधा' में प्रकाशित, एक लेख के आधार पर।

लड़ने-भिड़ने का काम करते थे, अथवा ईश्वर-भजन करना पसन्द करते थे। इसलिए पहले जो साहित्य तैयार होता था वह शृङ्गार रस, वीर रस या भक्ति रस का ही अधिक होता था। भारतवर्ष के सम्बन्ध में इन बातों का विचार पाठक खुद ही कर सकते हैं। बाहर का एक उदाहरण आगे दिया जाता है।

श्री० सीताराम जी चतुर्वेदी एम० ए० ने 'साधना' में लिखा है - "कैल्डिया वाले लिक्खाड़ वहाँ की सरकार से पैसा पाते थे। जब वहाँ के राजा चढ़ाई पर जाते थे, तो लिक्खाड़ को भी अपना टंट-घंट बाँध कर साथ जाना पड़ता था। वहाँ वह लिखता जाता था—इतनी बस्तियाँ हथियाईं, इतने बैरी खेत आये, इतना माल हाथ लगा, इतने दिन लड़ाई हुई। साथ ही वह राजा की बड़ाई के पुल भी बाँधता जाता था—यों उछले, यों पैतरा मारा, यों तलवार चलाई; यों चमके, यों दमके, और यों जीत गये। धर्म की पोथियाँ लिखनेवाले कैल्डिया के पुजारी लोग भी सरकारी चाकर ही थे। लड़ाई और धर्म की पोथियों के साथ साथ इन खपड़पोथियों में खेती, तारों की चाल और राज्य के चलाने की बातों पर भी लिखा हुआ मिलता है।"

इससे ज़ाहिर है कि उस समय का साहित्यकार थोड़े से आदमियों, धनी मानी, या राजा बादशाहों आदि के लिए लिखता था। उसे उन की रुचि का ध्यान रखना लाजमी था; बहुत दफा तो वह उनकी फ़रमाइश पर ही लिखता था। इस हालत में वह अपने विचार प्रकट करने में पूरी आजादी से काम नहीं ले सकता था। अब वह बात नहीं है। अब लिखनेवाले बहुत हैं, और जिनके लिए लिखा जाता है, उनकी संख्या और भी बढ़ी हुई है, और बढ़ती जाती है। इस समय का लेखक हजारों लाखों पाठकों के लिए जनसाधारण के लिए, लिखता है। वह उनके सुख-दुख, उनकी आवश्यकताओं, उनकी अभिलाषाओं और भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे इन सब विषयों पर लिखना होता है।

इस ज़माने में अच्छा लेखक जनता या समाज का चित्र खींचने

वाला तथा उसे रास्ता बतानेवाला होता है ।* ऐसा ही लेखक प्रगतिशील या प्रगतिवादी कहा जा सकता है । इस समय बहुत से लेखकों के सामने समाज के पुनर्निर्माण का जो रूप है, वह समाजवादी या मार्क्सवादी है । इसमें सन्देह नहीं है कि पूँजीवाद ने इस समय समाज को बड़े संकट में डाल रखा है, और इसके विरुद्ध क्रान्ति करके समाजवादी व्यवस्था में सहायक होना प्रगतिवाद है, लेकिन यह अनिवार्य नहीं है कि प्रगतिवादी लेखक मार्क्सवादी ही हो । प्रगतिवाद को मार्क्सवाद के साथ जोड़ना उसे सीमित और बन्धनयुक्त कर देना है । वास्तव में प्रगतिवाद मार्क्सवाद से पहले भी रहा है, देशकाल के अनुसार उसमें परिवर्तन हुआ, और हो सकता है ।

पहले किताबें हाथ से लिखी जाती थीं । आजकल बहुत से बड़े-बड़े पुस्तकालयों और संग्रहालयों में कितनी ही पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों तथा लेखों आदि का संग्रह मौजूद है । भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ कुछ लोगों के पास निजी तौर से भी हस्तलिखित पुस्तकों के बस्ते बंधे हुए हैं; उन्हें वे अपने पूर्वजों की यादगार के रूप में रखे हुए हैं । [इनके रखने की विधि ऐसी अवैज्ञानिक है कि वे पुस्तकें धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है । कुछ लोगों ने तो अनपढ़ होने की वजेह से उन पुस्तकों को रद्दी में या बहुत सस्ती बेच दिया है ।]

पुस्तकों को हाथ से लिखने में बहुत देर लगती है । अगर कोई अच्छी पुस्तक लिखी जाय तो हाथ से उसकी दस-बीस कापी ही हो सकती है, और यदि किसी तरह से ये प्रतियाँ नष्ट हो जायँ तो संसार से उस पुस्तक के विषय का ज्ञान ही लुप्त हो जाय । कहा जाता है कि मिस्र वालों के पास सिकन्द्रिया में एक बड़ा पुस्तकालय था, उसमें हजारों पुस्तकें हाथ से लिखी हुई थीं । एक युद्ध में यह पुस्तकालय जल गया । बहुत सी पुस्तकें ऐसी थीं कि उनकी कहीं भी दूसरी कापी

*दुर्भाग्य से कुछ लेखक सर्वसाधारण की कमज़ोरी का अनुचित लाभ भी उठाते है । वे उत्तेजक, या द्वेष-भाव या वैर विरोध बढ़ानेवाली, और पाठकों की प्रगति रोकने वाली सामग्री तैयार करते हैं ।

न थी, उन पुस्तकों से मानव जाति वंचित होगयी। छापे का प्रचार हो जाने से अब यह कठिनाई नहीं रही। अब एक-एक पुस्तक की हजारों प्रतियाँ छपती हैं। अगर कुछ स्थानों की प्रतियाँ नष्ट भी हो जायँ तो भी दूसरी जगह की प्रतियों से काम चल सकता है; यहाँ तक कि केवल एक ही प्रति रह जाने पर फिर उसकी हजारों प्रतियाँ छप सकती हैं।

छापे की कल का आविष्कार पहले-पहल कहाँ हुआ, इसमें बड़ा मतभेद है। योरपीय देशों में से हालैंड वालों का दावा है कि उनके देशवासी कास्टर ने सन् १४२६ में इसका आविष्कार किया; जर्मनी वालों का कथन है कि सन् १४३८ में गटनवर्ग नामक जर्मन ने पहले-पहल इसकी ईज़ाद की। यह तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि संसार भर में सब से पहले चीन में छापने का काम शुरू हुआ, हाँ उसकी उन्नति और प्रचार एक हद तक होकर रुका रह गया। भारतवर्ष में मोहर पर अक्षर खोदकर उसकी छाप लगाने की प्रथा तो बहुत पुराने जमाने से चली आती है। श्री० डाक्टर जोगेन्द्रनाथ घोष ने अपने एक लेख में जो १८७० में नेशनल सोसायटी में पढ़ा गया था, इस बात का जिक्र किया है कि सन् १७८० के लगभग बनारस जिले से खुदाई करने पर दो प्रेस निकले थे, जिनमें आजकल की तरह टाइप आदि सब सामान था और टाइप जोड़ने का सिलसिला भी प्रायः आजकल जैसा ही था। पुरातत्ववेत्ता अगरेजों का मत है कि यह प्रेस कम-से-कम हज़ार वर्ष पहले का है।

छापे के काम में धीरे-धीरे अनेक सुधार हुए हैं। पहले लकड़ी के अक्षरों से, हाथ से छपायी होती थी, वह बहुत भद्दी और धीरे-धीरे होती थी। अब उस रीति का काम प्रायः बन्द हो गया है। आजकल ज्यादहतर ये दो रीतियाँ प्रचलित हैं—पत्थर पर लिखे हुए अक्षरों से छापना और सीसे के ढले हुए अक्षरों को जोड़कर छापना। इन दोनों रीतियों में भी दूसरी ही रीति का चलन अधिक है। हाथ से छापे के अक्षर जोड़ने ('कम्पोज' करने) की कठिनाई को दूर करने के

लिए अब 'मोनोटाइप' यंत्र बनाया गया है, जिसमें मशीन द्वारा ही टाइप ढलता और कम्पोज होता है। इस दिशा में दूसरा सुधार 'लाइनो-टाइप' यंत्र का आविष्कार है। इसमें एक-एक अक्षर न निकल कर पूरी लाइन की लाइन एक साथ ही सीसे के टुकड़े में ढली हुई निकलती है। इसे उठाने और दूसरी लाइनों के साथ जोड़ने में बड़ा सुभीता रहता है।

पहले छपाई का काम हाथ से चलनेवाले छापेखाने ('हैंड प्रेस') में होता था। पीछे भाप से, और बादमें बिजली से होने लगा। छोटे कामों को जल्दी करने के लिए 'ट्रेडल', और अखबार तथा पुस्तकों के लिए 'सिलिंडर' मशीन काम में आने लगी। अब तो 'रोटरी' यंत्र का उपयोग होने लग गया है, जिसमें एक घंटे में हज़ारों काग़ज़ आसानी से छप सकते हैं। इस तरह पत्र-पत्रिका और पुस्तक आदि बहुत सस्ती तैयार हो जाती हैं। अब साहित्य इतना सुलभ है कि मामूली हैसियत का आदमी भी कई पुस्तकें आदि खरीद सकता है।

पहले जब किसी पुस्तक की एक या इनी-गिनी प्रतियाँ ही होती थीं, तो उनके पाठ में मिलावट आसानी से हो सकती थीं। एक प्रसिद्ध आचार्य या नीतिकार कोई बात लिखता तो दूसरे आदमी पीछे उसकी रचना की नकल में कुछ बातें अपने पक्ष की मिला देते। और, क्योंकि जनता को, मूल रचना करनेवाले आचार्य या नीतिकार में बहुत श्रद्धा होती, इसलिए उसके नाम पर बहुत सी बेमेल और परस्पर विरोधी तथा हानिकारक बातें प्रचलित हो जातीं। भारतीय पाठक जानते हैं कि रामायण और मनुस्मृति आदि का शुद्ध पाठ मालूम करने के लिए यहाँ विद्वानों को कितना परिश्रम करना पड़ा है, फिर भी उनकी कुछ बातों के सम्बन्ध में, पाठकों में मतभेद है। आधुनिक रचनाओं में, उनकी हजारों प्रतियां छप जाने के कारण, कोई मिलावट होने की आशंका नहीं रही।

किसी-किसी पुस्तक की तो आजकल लाखों प्रतियाँ छपती हैं, और यातायात के साधनों की उन्नति के कारण देश से बाहर भी काफ़ी संख्या में जाती हैं। एक देश के आदमियों का दूसरे देश वालों से विचारों का आदान-प्रदान बढ़ता जा रहा है। पढ़े-लिखे आदमी दुनिया भर की विचार-धाराएँ आविष्कार और अनुसंधान आदि जानते रहते हैं। उनके विचारों का थोड़ा-बहुत प्रभाव उनके पास के अनपढ़ आदमियों पर भी पड़ता है। इस तरह किसी देश के आदमियों का जीवन सर्वथा एकांगी नहीं रहता। अच्छे ऊँचे साहित्यकार के सामने विश्व और उसकी समस्याएँ रहती हैं, और, वह उनपर गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस तरह अब प्रेस तथा दूसरे आधुनिक आविष्कारों के कारण विश्व-साहित्य अधिकाधिक परिमाण में तैयार होता है, और पढ़ा जा रहा है।

अस्तु, इन बातों से आधुनिक साहित्य से होनेवाले ज्ञान-प्रचार का परिचय हो जाता है। परन्तु साहित्य के प्रकाशन का एक दूसरा भी पहलू है। प्राचीन काल में कोई विद्वान किसी ऐसे विषय की ही पुस्तक की रचना या उसकी नकल करता था, जो बहुत ही उपयोगी होती थी। साहित्य आदर और मान की वस्तु थी। साहित्यकार पूजा और प्रतिष्ठा का अधिकारी होता था, ग्रन्थ-रचना से उसका नाम अमर हो जाता था। वह भी अपनी जिम्मेवारी समझता था, और अकसर अच्छी-अच्छी कृतियों से समाज की सेवा करता था। शुरू-शुरू में जब पुस्तकें छपीं तो सर्वसाधारण का छपी हुई बात पर बड़ा विश्वास होता था; लोगों की यह धारणा थी कि जो भी बात छपी है, वह सोलहो आने सच्ची है, उसमें शंका की कोई गुंजायश नहीं। पर अब क्या दशा है! पुस्तक, ट्रैक्ट या पत्रक आदि छपाना आसान और कम खर्च का काम होने से, लेखक और प्रकाशक के निजी लोभ के कारण, आएदिन ऐसी अनेक बातें छपती रहती हैं, जिन पर विचारवान आदमी विश्वास नहीं करते, और जिनसे भाले-भाले पाठक खूब ठगे जाते हैं। खंडन-मंडन, गाली-गलोच,

और झूठी निन्दा-स्तुति से भरा अश्लील कुरुचिपूर्ण साहित्य बहुत बड़े परिमाण में नित्य प्रकाशित होता रहता है। पाठकों के मन और हृदय पर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हें सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता है कि किस चीज़ को पढ़ें और किसे न पढ़ें।

छापेखाने आदि के आविष्कार से पहले, जब साहित्य का परिमाण कम होता था, और वह सुलभ भी न था, आदमी पुस्तकों को बहुत ध्यान से पढ़ते थे, और उस पर खूब विचार और मनन करते थे। पर अब तो कितने ही पाठक कोई पुस्तक खरीद कर उसे पढ़ने की खास फिक्र नहीं करते। अधिकांश आदमी अपने पढ़े पर विचार नहीं करते; वे शान्ति और गम्भीरता से यह नहीं सोचते कि हमें इन बातों पर कहाँ तक अमल करना चाहिए। उनके पढ़ने से उनके जीवन, रहन-सहन या आचार-विचार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। आवश्यकता है, आदमी साहित्य की प्रगति करने के साथ, उससे यथेष्ट लाभ भी उठाते रहें।

इकत्तीसवाँ अध्याय

संवाद

हाल की बात है। मैं दूसरी मंजिल के अपने कमरे में बैठा लिख रहा था। अचानक बहुत से तोतों की कुछ अजीब और कर्कश आवाज सुनी। आवाज कुछ देर आती ही रही। मेरा ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। बाहर आकर देखता हूँ तो नीम के पेड़ से तोते आ-आकर मंडरा रहे हैं, और चिल्ला रहे हैं। इधर-उधर देखने से मालूम हुआ कि नीम के पास वाली छत पर एक नेवला घूम रहा है। अब समझ में आया कि तोते उस हिन्सक प्राणी से अपने सब साथियों को

सावधान करने के लिए यह शोर मचा रहे हैं। मैं ने देखा, तोते जैसे कमजोर पक्षियों की भी उस कर्कश आवाज का यह प्रभाव हुआ कि नेवले को दुम दबाकर भागते ही बना।

यह घटना कुछ निराली नहीं है। समाचार भेजने और समाचार जानने की इच्छा थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में होती है। पशु-पक्षियों को जब किसी खतरे की आशंका होती है तो वे एकखास प्रकार की आवाज करते हैं। इस आवाज को सुनकर उस जाति के सब प्राणी इकट्ठे हो जाते हैं, और उस खतरे को दूर करने की कोशिश करते हैं। इस तरह समाचार भेजने में उनकी सुरक्षा की भावना होती है। पर उनकी इस प्रवृत्ति का विकास नहीं हुआ, जैसे वे हजारों वर्ष पहले इस कार्य को करते थे, उसी तरह अब भी करते हैं। आदमी इसमें धीरे-धीरे विकास करता रहा है।

आदमी की, समाचार जानने की प्रवृत्ति के मूल में सुरक्षा की ही भावना थी। जब आदमी पशुपालन और खेती का काम करने लगे, और उनमें धनवान या सम्पत्तिवान होने की भावना होने लगी तो उनमें एक-दूसरे का माल असबाब छीनने की भी प्रवृत्ति हो गयी। उसी समय से आदमी को यह ज़रूरत होने लगी कि वह अपने पास के दूसरे आदमियों की गति-विधि का समाचार जानता रहे। उस समय बहुत दूर-दूर के आदमियों का आपस में सम्पर्क नहीं था। वह छोटे-छोटे दलों या समूहों का ज़माना था, इसलिए बहुत दूर के लोगों के समाचार जानने की आवश्यकता न थी।*

राज्य का निर्माण होने पर, और धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढ़ने पर राज्य के भीतरी समाचारों का महत्व बढ़ने लगा। नागरिकों की यह इच्छा रहती है कि उन्हें शासकों के विचारों और कार्यों का पता लगता रहे, क्योंकि उनका उनसे बहुत सम्बन्ध रहता है। इसी तरह शासक भी यह कोशिश करते रहते हैं कि उन्हें जासूसों आदि के द्वारा

*यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों में संसार के विविध देशों की लम्बाई चौड़ाई आदि का ठीक-ठीक ब्योरा दिया हुआ नहीं मिलता।

यह मालूम होता रहे कि जनता का अपने शासकों के प्रति क्या रुख है, जिससे वे समय पर आवश्यक कार्यवाही कर सकें।

ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ा और सभ्यता का विकास हुआ उसका दूर-दूर के आदमियों से सम्बन्ध होता गया और वह उनके समाचार जानने को उत्सुक रहने लगा। व्यापारी अपना माल दूर-दूर लेज़ाकर बेचता है, उसका बहुत से आदमियों से मेलजोल हो जाता है, वह उन आदमियों के कुशल-क्षेम तथावहाँ के बाजार-भाव आदि के अलावा यह भी जानना चाहता है कि वहाँ की राजनैतिक स्थिति कैसी है, कोई अशान्ति या उपद्रव आदि की बात तो नहीं है; अथवा वहाँ कोई बीमारी तो फैली हुई नहीं है। सैनिक भावना वाले आदमी यह जानना चाहते हैं कि किस राज्य में ऐसी कमजोरी या अव्यवस्था है, जिसका लाभ उठाया जा सकता है, याना किस राज्य को आसानी से जीता जा सकता है। धर्म-प्रचार की भावना से भी आदमी दूर-दूर के आदमियों के विचार और उनकी सामाजिक स्थिति आदि जानने को उत्सुक रहता है। फिर, जब लोगों की रिश्तेदारी या मित्रता दूर-दूर के स्थानों में होने लगती है तो वे उनका हाल जानना चाहते हैं। इसके अलावा, आदमी में नये-नये समाचार जानने की जिज्ञासा या कौतूहल भी होता है, इससे उनका मनोरञ्जन या मानसिक तृप्ति होती है। इस तरह कई कारणों से आदमी में अपने पास तथा दूर-दूर के समाचार जानने की प्रवृत्ति होती है।

समाचार भेजने के साधनों का समय-समय पर देश-काल के अनुसार विकास होता रहा है। प्रारम्भ की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं—जब भाषा का विकास नहीं हुआ था, उस समय आदमी दूसरे प्राणियों की तरह अपने दल वालों को आनेवाले खतरे की सूचना एक खास तरह की आवाज से देता था। लेकिन आदमी की आवाज बहुत थोड़ी दूर ही जा सकती है। दूर-दूर तक आवाज पहुँचाने की तरकीबें सोची गयी, तुरही या नगारा उनके ही विकसित रूप हैं। अब तो भोंपू (साइरन) का उपयोग होता है।

ऐसी आवाज़ से हमें परिस्थिति का संकेत तो मिलता है, पर पूरी बात मालूम नहीं होती। भाषा का विकास होने से पहले आदमी के पास उसका कुछ उपाय भी न था। और, जब आदमी बातचीत करके अपना विचार जाहिर करने लगा तो भी एक बाधा सामने रही। आदमी की बात उसके साथी थोड़ी दूर तक ही सुन सकते हैं; वह एक फरलांग या इससे ज़्यादा दूर के आदमियों को अपनी बात नहीं सुना सकता। पुराने जमाने में अगर हमें किसी ऐसे आदमी से बातचीत करनी होती जो एक-दो मील या ज्यादह दूर पर हो, और उसके पास हमारा खुद का जाना न हो सकता, तो उसका उपाय यही था कि हम अपनी बात एक दूसरे आदमी को कहते, वह वहाँ जाकर हमारी बात उससे कहता; और उसके जवाब में जो कुछ उसे कहा जाता, उस बात को वह हमारे पास आकर हम से कहता। इसके बाद अगर फिर हमें कुछ कहलाने की ज़रूरत होती तो उसी क्रिया को दोहराना पड़ता। किसी मध्यस्थ या बीच के आदमी द्वारा दूर के आदमी से विचार-विनिमय करना कितना कठिन है, और कितना अपूर्ण रहता है, यह सहज ही समझा जा सकता है। जो बात जिन शब्दों में हमने कही है, उसे दूसरा आदमी उन्हीं शब्दों में, या ठीक उसी अर्थवाले शब्दों में कहे, यह कुछ आसान काम नहीं है। लिपि के आविष्कार ने इस कठिनाई को हटा दिया। इसके उपयोग से कोई आदमी अपनी बात अपने शब्दो में लिखकर दूसरे के पास भेज सकता है। लिपि के बारे में पहले लिखा जा चुका है।

जब एक राज्य को दूसरे राज्य से समाचारों का आदान प्रदान करना होता था, तो यह कार्य उनके दूतों द्वारा किया जाता था। दूतों का पद बड़ा पवित्र और बहुत महत्व का माना जाता रहा है। यहाँ तक कि अगर कोई दूत दूसरे राज्य से कोई ऐसी बात कहदे जो उस राज्य वालों को अच्छी न लगे, तो भी उसे कुछ दंड नहीं दिया जाता था। हर दशा में वह अवध्य माना जाता था, यानी शत्रु द्वारा उसे मारा नहीं जाता था। अकसर दूतों के साथ ऐसी वस्तुएँ भी

भेजी जाती थीं जो युद्ध या संधि सूचक मानी जाती थीं। मिसाल के तौर पर तलवार प्राचीन काल से युद्ध का, और सफेद झंडा युद्ध-समाप्ति या शान्ति का, निशान माना गया है।

जङ्गली जातियों में ऐसी प्रथा है कि जब किसी पञ्चायती सभा आदि की सूचना देनी होती है तो किसी पेड़ का पत्ता लेकर जंगली प्रदेश के प्रमुख स्थानों में घुमा दिया जाता है। इस तरह ये पत्ते भी समाचार पहुँचाने के साधन बन जाते हैं। जब शत्रुता आदि के कारण पड़ोसी राज्य से समाचार पाने का कोई साधन नहीं रह जाता तो छिपे-छिपे, भेष बदल कर, जान को खतरे में डालकर भी, समाचार लाया जाता है। इस तरह बहुत प्राचीन काल से, गुप्तचरों (जासूसों) का दल रखना राज्य की सुरक्षा के लिए अनिवार्य माना जाता रहा है। पुराने ज़माने में व्यापारी भी एक देश से दूसरे देश में दूर दूर तक समाचार पहुँचाने का साधन रहे हैं। ये लोग दूसरे देशों की सभ्यता, रहनसहन खानपान, वेषभूषा और विविध घटनाओं का मनोरंजक समाचार सुनाया करते थे। व्यापारियों के द्वारा ही भारत की सुख-समृद्धि का समाचार फारिस, अरब, यूनान आदि देशों तक गया और वहाँ वाले उस समाचार को सुनकर ही यहाँ आने और आक्रमण करने लगे।

लिपि का आविष्कार होने के बाद समाचार भोजपत्र, ताड़पत्र, ताम्रपत्र आदि पर लिख कर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाया जाने लगा। राज्यादेश शिलालेखों के रूप में प्रजा तक पहुँचाये जाने लगे। चमड़े का उपयोग भी प्राचीन काल से अब तक कुछ हेरफेर के साथ महत्वपूर्ण कार्यों में किया जाता रहा है। मिस्र में मिट्टी के पात्रों पर चित्र अंकित करके समाचारों का आदान-प्रदान होता था। कबूतर और घुड़सवार भी समाचार भेजने के पुराने साधन हैं; कबूतरों से अब तक युद्ध-स्थलों में समाचार पहुँचाने का काम लिया जाता है। डाक द्वारा समाचार भेजने की प्रथा भारत में चन्द्रगुप्त के समय में भी सुनी जाती है, उसके बाद मुगलों के समय में तो इसकी अच्छी व्यवस्था थी।

समाचारों के आदान-प्रदान में विशेष परिवर्तन पत्र-पत्रिकाओं से हुआ है। इनका प्रचार मुद्रण-कला का आविष्कार होने से पहले भी था। मिसाल के तौर पर रोम में जूलीयस सीज़र के समय, यानी ईसा से पूर्व 'ऐक्टा ड्यूर्ना' (दैनिक घटनाएँ) नाम से समाचारों का संग्रह खास-खास जगह चिपकाया जाता था, और साम्राज्य के दूसरे प्रान्तों में भी भेजा जाता था। तथापि समाचार पत्रों का विशेष प्रचार छापेखानेका आविष्कार होने पर हुआ। धीरे-धीरे इनके आकार-प्रकार, सामग्री आदि की उन्नति होती रही। रेल, तार, जहाज, टेलीफोन, हवाई जहाज और रेडियो आदि से इनके काम में बहुत सहायता मिली है। इनके आविष्कार के बारे में दूसरी जगह लिखा गया है। अब हमें ताजे समाचार पढ़ने का ऐसा अभ्यास हो गया है कि अगर किसी देश में आज कोई महत्व-पूर्ण घटना होती है, और हमें अगले दिन सवेरे के समाचारपत्र में उसकी खबर नहीं मिलती तो हम झुँजलाते हैं और समाचारपत्र की व्यवस्था की निन्दा करते हैं। अच्छे समाचारपत्र इस बात का काफी ध्यान रखते हैं, और अपने पाठकों को ताजी से ताजी खबरें देते रहते हैं। समाचारों के अलावा वे तरह-तरह की दूसरी ज्ञान बढ़ानेवाली या मनोरंजक सामग्री भी देते हैं।

पत्र-पत्रिकाओं के सुलभ और सस्ते होने से, इनके पाठक बराबर बढ़ते जा रहे हैं। कितने ही आदमी तो एक-एक दैनिक पत्र से संतुष्ट न होकर कई-कई पत्रों को खरीदते हैं। बात यह है कि यद्यपि मुख्य-मुख्य समाचार तो किसी भी एक पत्र से मिल जाते हैं, फिर भी कुछ बातें हर पत्र में जुदा-जुदा होती हैं। इसके अलावा सम्पादकीय और दूसरे लेख, हरेक के अलग-अलग होते हैं, और पाठक इन लेखों में प्रगट किये हुए विचार जानना चाहते हैं।

साधारण हैसियत के आदमी दैनिक पत्रों का खर्च न सह सकने के कारण किसी ऐसे साप्ताहिक से ही संतोष कर लेते हैं, जिसमें एक हफ्ते के समाचारों का संकलन हो। साप्ताहिक पत्रों में कविता, कहानी, विविध विषयों के लेख आदि भी मिल जाते हैं। मासिक पत्रों में

ऐसी सामग्री और भी अधिक होती है, उनमें साहित्य के यथा-सम्भव सभी अंगों का समावेश रहता है। कुछ मासिक पत्र किसी खास विषय के होते हैं, जैसे भूगोल, शिक्षा अर्थशास्त्र, कृषि या विज्ञान आदि के। और, कुछ मासिक पत्र खास तौर से बालकों, लड़कियों, या स्त्रियों आदि के लिए ही निकाले जाते हैं। कुछ पत्र अर्द्ध साप्ताहिक, पाक्षिक, या त्रैमासिक आदि भी होते हैं, लेकिन ज़्यादहतर दैनिक, साप्ताहिक या मासिक का ही प्रचार है।

उन्नत देशों में पत्र पत्रिकाओं का प्रचार कितना बढ़ा हुआ है, इसका कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि अमरीका में दैनिक पत्रों की संख्या २१०० है, और वहाँ पर चार करोड़ बीस लाख प्रतियों की प्रतिदिन खपत होती है। वहाँ की आबादी के हिसाब से तीन व्यक्तियों के पीछे एक पत्र का औसत पड़ता है। अमरीका में मासिक पत्रों का १,८६,०००,००० का सर्क्यूलेशन (प्रचार) है।* इसके मुक़ाबले में भारतवर्ष आदि कितने ही देशों में पत्रों का प्रकाशन बहुत ही कम है ; लेकिन यह धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

स्वराज्य की स्थापना, और शिक्षा का प्रचार होने पर सभी देशों में पत्रों का प्रचार खूब बढ़ने वाला है। यही नहीं, वैज्ञानिक उन्नति के कारण इसी सदी में ऐसी प्रगति हो जायगी कि सब महत्वपूर्ण समाचार तो लोगों को घर बैठे रेडियो द्वारा ही मिल जाया करेंगे। उनके लिए समाचारपत्रों की ज़रूरत न रह जायगी। पत्र-पत्रिकाएँ तो आदमी सिर्फ इस लिए देखेंगे कि उनसे सामायिक घटनाओं तथा अन्य विषयों पर विद्वानों, नेताओं या राजनीतिज्ञों के विचार मालूम होंगे, यद्यपि यह काम भी कुछ अंश में रेडियो द्वारा हो जाया करेगा। जो हो, इस समय पत्र-पत्रिकाओं का मानव प्रगति के साधन के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है। ये हर एक देश के 'कम़ खर्च बाला नशीं' उपदेशक, अध्यापक, सुधारक और आन्दोलक हैं। निर्बल या कमजोरों के लिए

---

* ये अंक 'विश्वमित्र' के रजत जयन्ती अंक से लिये गये हैं।

लड़ना और उन्हें बल और साहस प्रदान करना इन्हीं का काम है; सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी प्रकार के विकारों को दूर कर नये, सुन्दर और सुखदायी युग को निमंत्रित करने का कार्य इनके ही जिम्मे है; इस लिए सम्पादकों और संचालकों का उत्तरदायित्व स्पष्ट है; उन्हें मनुष्य जाति की सेवा का यह महान कार्य खूब सोच समझ कर करना चाहिए।

बत्तीसवाँ अध्याय

शिक्षा



माननीय जीवन की प्रगति शिक्षा पर ही निर्भर है। शिक्षा जीवन के विकास के लिए परमावश्यक है। मस्तिष्क को परिष्कृत कर जीवन को पूर्णता और परिपक्वता की ओर लेजाने में शिक्षा का प्रधान हाथ रहता है। —श्रीमती कुसुम मेहता

आदमी की बुद्धि का विकास उसकी उम्र के साथ होता जाता है, लेकिन एक ही पीढ़ी में उसकी चरम सीमा या आखरी हद नहीं आ जाती। हर पीढ़ी में आदमी अपने बड़ों से बहुत सी बातें सीखता है, और खुद बड़ा होकर अपने से छोटों को सिखाता है। यह सीखने और सिखाने का क्रम चलता रहता है। और, मनुष्य जाति की उन्नति या प्रगति का प्रधान कारण है। अगली पीढ़ी, पिछली पीढ़ी से बहुत सी बातों का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करती है, और तरक्की की गाड़ी को और आगे बढ़ती है।

आदमी को शिक्षा देनेवाली सब से पहली संस्था परिवार है; और उसे सब से पहले ज्ञान देनेवाले उसके माता-पिता आदि ही होते हैं। बात यह है कि आदमी अपने बचपन में, जबकि उसपर बाहरी बातों

का बहुत अधिक प्रभाव पड़ सकता है, अपने परिवार में रहता है। बच्चे अपने मा-बापको बहुत से काम करते देखते हैं, और उनकी नकल करके बहुत सी बातें सहज ही सीख लेते हैं। आदमी की जिन्दगी में भाषाका कितना महत्व है, यह जाहिर ही है। और, भाषा हमें कौन सिखाताहै ? हमारे माता पिता, भाई बहिन बचपनमें हमें पालनेमें हिलाते हुए, या गोद में खिलाते हुए हमें अपनी हरकतों की नकल करने की प्रेरणा करते हैं; हम उनकी आवाज को, और पीछे उनके शब्दों को, धीरे-धीरे उच्चारण करने की कोशिश करते हैं। यह काम बहुत धीमी गति से होता है, पर इतनी मजबूती से हो जाता है, कि पीछे स्थायी सा ही हो जाता है।

इसके अलावा परिवार में हम उठने-बैठने और चलने का ढङ्ग, खाने पीने का ढङ्ग, और घर के धंधे करने के ढङ्ग सीखते हैं। यहाँ तक कि हमारी रुचि और विचार, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और आदर्श आदि भी हमारे परिवारवालों से बहुत कुछ मिलते-जुलते होते हैं। परिवार में हम माँ बाप भाई बहिन आदि के साथ जो समय बिताते हैं, उसमें जो बात देखते हैं, सुनते हैं, और स्वयं भी करते हैं, उन सब का हमारे मन पर गहरा असर हुए बिना नहीं रहता। जो परिवार जितना अधिक उन्नत, सभ्य और ज्ञानवान होगा, उतना ही उसके बालकों को अधिक लाभ पहुँचेगा। इसी लिए प्राचीन काल में भारतवर्ष में परम्परागत या खानदानी व्यवसाय को सीखने की पद्धति जारी थी। यह ठीक है कि विशेष प्रतिभा वाले युवक अपने पैत्रिक व्यवसाय को छोड़ कर अपनी रुचि के अनुसार कोई दूसरा स्वतंत्र व्यवसाय भी चुन सकते थे; लेकिन आम तौर से युवक अपने-अपने खानदानी व्यवसाय को ही सीखते और उसमें खूब होशियार होने की कोशिश किया करते थे। उनके माता पिता उन्हें उसी की शिक्षा देते थे। यूनान और रोम में भी पहले परम्परागत व्यवसाय की बात बहुत प्रचलित थी। वहाँ 'स्वतन्त्र' या नागरिक अधिकार वाले पुरुष पढ़ाई और युद्ध का काम करते थे। शिल्प और दस्तकारी का काम दासों के

सुपुर्द था, जो नागरिक अधिकारों से वंचित होते थे। हाथ के काम या शारीरिक श्रम को नीचे दर्जे का समझा जाता था।

जो हो, पहले परिवार युवकों को शिक्षा देने में महत्वपूर्ण भाग लेता था। पीछे लोगों का रहनसहन जटिल होने पर इस बात में अन्तर आता गया। शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता बढ़ती गयी। अलग-अलग देशों में शिक्षा-संस्थाएँ जुदा-जुदा ढंग की रही हैं। भारतवर्ष में पहले यह परिपाटी थी कि बालक सात-आठ वर्ष का होने पर गुरुकुल में भेज दिया जाता था। वहाँ सब विद्यार्थियों से समान व्यवहार होता था। ऊँच नीच, गरीब अमीर का कोई भेद-भाव न था। गुरू सब विद्यार्थियों को अपने पुत्र के समान मानता था। शिक्षा सब निश्शुल्क थी। गुरुकुलों के खर्च की व्यवस्था सामाजिक दान-धर्म, भिक्षा या सरकारी सहायता से होती थी, उन्हें इस विषय की कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। विद्यार्थियों की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का खास स्थान था, उनके स्वास्थ्य और चरित्र की ओर पूरा ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मचर्य-पालन पर बहुत जोर दिया जाता था; और विद्यार्थियों को सब प्रकार के राग रंग से दूर रखते हुए उन्हें सादे जीवन का अभ्यास कराया जाता था। विद्यार्थी पच्चीस वर्ष के होने पर गुरुकुल से निकलते थे, तब वे अपनी रुचि के अनुसार काम धंधा करते, और गृहस्थी का भार संभालते थे।

बौद्ध, ईसाई और मुसलिम समाज में पहले शिक्षा का बहुत-कुछ काम मठों और मसजिदों आदि में होता था। ये अन्य शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा पर खास ध्यान देती थीं। पुरानी यादगार के रूप में इस तरह की कुछ संस्थाएं जहाँ-तहाँ अब भी मिलती हैं। अब ज्यादह-तर संस्थाएँ सार्वजनिक हैं, उनमें धार्मिक शिक्षा या तो बिलकुल ही नहीं दी जाती, या बरायेनाम दी जाती है। पहले शिक्षा का अर्थ खास कर लिखना-पढ़ना सीखना ही माना जाता था, अब तो वह एक साधन मात्र समझा जाता है, शिक्षा के विषय अनेक हैं।

इन विषयों पर लिखने से पहले, शिक्षा-संस्था के स्थान के बारे में

समय-समय पर जो परिवर्तन हुए हैं, उन पर एक नजर डाल ली जाय। शुरू में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए बड़ी बड़ी इमारतें न थीं। अकसर उन्हें खुली हवा में, पेड़ों के नीचे ही शिक्षा दी जाती थी। रहन-सहन सादा होने से उसमें खास तकलीफ नहीं मालूम होती थी। पीछे आदमी धीरे-धीरे प्रकृति से दूर होता गया; 'सभ्यता' बढ़ती गयी। धूप और बारिश आदि से बचने का भी विचार होने लगा। निदान, शिक्षा-संस्था के लिए मकान बनाये जाने लगे। पहले एक ही इमारत में सब काम चला लिया जाता था। बीच में एक बड़ा 'हाल' (कमरा) और उससे मिले हुए कुछ दूसरे कमरे होते थे। पीछे रोशनी, हवा, और शान्ति के विचार से जुदा-जुदा कमरे 'हाल' से अलग, कुछ फासले पर बनाये जाने लगे। उनके बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाने लगा कि जहाँ तक हो सके विद्यार्थियों को दायीं ओर से रोशनी मिले, हवा इस तरह आवे कि झोंके न मालूम पड़े, आवाज कमरे में गूंज न जाय। जैसे-जैसे शिक्षा में लकड़ी और धातु का काम, सिलाई का काम, भोजन बनाने का काम आदि विषय बढ़ते गये, इनके लिए खास ढंग के कमरे बढ़ाये जाने लगे। 'हाल' पहले सब विद्यार्थियों को इकट्ठा करने भर के काम आता था, वह धीरे-धीरे सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र बनने लगा; उसमें उत्सव, संगीत और नाटक तथा वादविवाद ('डिबेट') का काम होने लगा। अब शिक्षा-संस्थाओं में खेलने की ज़मीन, व्यायामशाला, वाचनालय, पुस्तकालय, जलपान (नाश्ता) करने की जगह, उद्यान (पार्क) की व्यवस्था आवश्यक समझी जाती है।

इन बातों को यहीं समाप्त कर, अब हम शिक्षा के विषयों का विचार करते हैं। पहले साहित्य और भाषा पर बहुत जोर दिया जाता था। उसकी यादगार बहुत से देशों से अब भी बनी हुई है। भारतवर्ष में कितने ही विद्यार्थी केवल व्याकरण का विषय लेकर आचार्य बनते हैं। और, सिर्फ साहित्य ('लिटरेचर') के विशारद, रत्न या आचार्य आदि की अधिकता तो बहुत से देशों में पायी जाती है।

लेकिन अब धीरे-धीरे दूसरे विषयों (विज्ञानों) की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। इसी तरह जहाँ पहले संस्कृत, फारसी, अरबी, लेटिन और यूनानी आदि पुरानी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत सा समय और शक्ति लगायी जाती थी, अब लोगों की यह धारणा बढ़ती जा रही है कि इन भाषाओं को एक खास हद तक सीखना उपयोगी है, और वह भी सब के लिए नहीं। अब आधुनिक भाषाओं का प्रचार बढ़ता जाता है, और उनके ही द्वारा विविध विषयों को सीखा और सिखाया जाता है।

शिक्षा के विषयों में अब भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र, कानून, दर्शन (पदार्थ) विज्ञान, मनोविज्ञान, कृषि व्यापार आदि कितने ही विषय हैं। इनके अलावा चित्रकारी, संगीत और नृत्कला आदि को भी शिक्षा दी जाती है।

अब शारीरिक व्यायाम और मनोरंजन की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाता है। बहुत सी संस्थाओं में तरह-तरह की कसरत और तैरना सिखाया जाता है। कहीं-कहीं तो विद्यार्थियों को समय-समय पर बाहर घुमाने और वहाँ ही भोजन कराने की व्यवस्था की जाती है। कुछ संस्थाएँ साल में एक बार विद्यार्थियों की टोली अपने स्थान से काफी दूर लेजाकर वहाँ प्राकृतिक या ऐतिहासिक दृश्य आदि दिखाने का इन्तजाम करती हैं। इसी तरह पहले बालकों की शिक्षा में ताड़ना या दंड का स्थान था, अब इसे गंवारू असभ्य और पुराने युग की बात समझा जाता है और मनोविनोद के साथ शिक्षा दी जाती है।

बालकों को शिक्षा देने की पद्धति के बारे में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। इस समय जो पद्धतियाँ प्रचलित है, उनमें से कुछ ये हैं :—

'मांटेसरी' शिक्षापद्धति का मुख्य अंग बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों का वैज्ञानिक ढंग से ट्रेनिंग करना है। मिसाल के तौर पर रेत लगे कागज (सेंड पेपर) के कुछ टुकड़े होते हैं, उनमें से एक बहुत खुरदरा होता है, दूसरा उससे कम, तीसरा उससे कम। इस तरह वे क्रम से अधिक और कम खुरदरे होते हैं। बालक उन पर हाथ फेर कर उन्हें अधिक

और कम खुदरेपन के हिसाब से लगाता है। वह धीमी और तेज आवाज की घंटियों या सीटियों आदि को उनकी आवाज के क्रम से रखता है। इसी तरह बच्चे को अनेक प्रकार के रंगों और आकारों का ज्ञान हो जाता है।

'डालटन' शिक्षापद्धति के अनुसार चलनेवाले स्कूलों में न तो अलग-अलग कक्षाओं (क्लासों) के लिए जुदा-जुदा कमरे ही होते हैं और न अलग-अलग विषयों के लिए जुदा-जुदा घंटे। हरेक विषय का ज्ञान पाने के लिए एक अलग प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) होती है, जिसमें उस विषय की सब पुस्तकें, चार्ट, नक्शे और यंत्र आदि रहते हैं विद्यार्थियों को बता दिया जाता है कि उन्हें इस-इस विषय में एक हफ्ते में, और एक महीने में इतना कार्य करके, साल भर में इतना कार्य पूरा करना है। विद्यार्थी इस विषय में स्वतंत्र होता है कि वह पहले किस विषय का कार्य पूरा करे, अथवा एक विषय के लिए एक दिन में कितना समय दे। जिस विषय का कार्य उसे करना होता है, उसी विषय की प्रयोगशाला में वह चला जाता है। वहाँ उस विषय को खास तौर से जाननेवाला अध्यापक रहता है; यदि विद्यार्थी को किसी तरह की कोई कठिनाई हो तो वह उसे हल कर देता है। यह साफ जाहिर ही है कि इस पद्धति का उपयोग बहुत छोटे विद्यार्थियों के लिए नहीं हो सकता।

किंडर गार्टन' शिक्षापद्धति में शिक्षा का कार्य बच्चों को दिये हुए उपहारों और तरह-तरह के खेलों के द्वारा होता है। 'किंडर गार्टन' का अर्थ है, बालकों का बगीचा, अर्थात् ऐसा बगीचा जहाँ फूलों के स्थान पर बच्चे विकसित होते हैं।*

देश-काल के अनुसार कहीं किसी पद्धति का प्रचार अधिक है, कहीं किसी का। पराधीन देशों को अपनी शिक्षा-पद्धति निश्चित करने या इस विषय के नये-नये प्रयोग करने की काफ़ी सुविधा नहीं होती; यों दूसरे आविष्कारों की तरह शिक्षा सम्बन्धी नयी-नयी खोजों का कुछ

*श्री० ब्रजमोहन गुप्त एम० ए० के लेख के आधार पर।

असर उन पर पड़ता ही है।

भारतवर्ष में पिछली सदी में सरकारी शिक्षा बहुत कुछ मेकाले द्वारा निश्चित इस नीति के अनुसार शुरू हुई—'हमें अपनी सारी शक्ति लगाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार कर सकें, जिसके आदमी हमारे और हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिये का काम कर सकें; जो जाति और रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अंगरेज हों।' उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यहाँ लोगों का ध्यान अंगरेजी शिक्षा के दोषों की ओर गया और यहाँ ऐसी संस्थाएँ स्थापित की जाने लगीं, जो सरकार द्वारा ठहरायी हुई पाठ-विधि का उपयोग करते हुए भी विद्यार्थियों में सदाचार, सादगी और देश-प्रेम का भाव भरने लगीं। सन् १९०५ के बाद स्वदेशी और बहिष्कार की भावना के साथ राष्ट्रीय शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। पीछे सन् १९३७ से 'वर्धा शिक्षा योजना' अमल में आने लगी। इसकी मुख्य बातें ये थीं—सात साल से लेकर चौदह साल की उम्र तक विद्यार्थियों को बुनियादी शिक्षा दी जाय, जिसमें किसी दस्तकारी को आधार माना जाय, ऐसे बालक-बालिकाएँ तैयार हों, जो स्वावलम्बी जीवन बिता सकें, और राष्ट्र तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करें। सन् १९४४ से देशवासियों की समग्र-शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार किया जा रहा है—सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व बुनियादी शिक्षा, सात वर्ष से चौदह वर्ष तक की बुनियादी शिक्षा, चौदह वर्ष से बाद की उत्तर बुनियादी शिक्षा, और इन तीनों के अलावा दूसरे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा। भारतवर्ष की शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति के विषय में कुछ खुलासा तौर से, हमारी 'भारतीय जागृति' में लिखा गया है।

यह जाहिर है कि पुराने जमाने के मुकाबले अब शिक्षा का स्वरूप बहुत बदल गया है। इसका क्षेत्र अब कहीं बड़ा हुआ है। आधुनिक संस्थाओं में व्यवसाय-धंधे का भी ज्ञान कराया जाता है, विद्यार्थियों

को नागरिक कर्तव्य और अधिकार बताये जाते हैं, स्वास्थ्यरक्षा के उपाय सिखाये जाते हैं, और देश की तथा कुछ अंश में संसार की अर्थनीति और राजनीति से परिचित कराया जाता है। मतलब यह कि समाज में अच्छी तरह जीवन बिताने के लिए आदमी की अच्छी-से-अच्छी तैयारी कराना शिक्षा संस्थाओं का उद्देश्य होता है।

यह उद्देश्य कहाँ तक पूरा होता है, या इसमें क्या-क्या कमी रह जाती है, इसका खुलासा विचार करने की यहाँ जरूरत नहीं है। संक्षेप में यही जिक्र कर देना है कि अभी तो संसार की कितनी ही आबादी ऐसी है, जिसकी स्कूल और कालिजों में बिल्कुल ही पहुँच नहीं है। और, अच्छी-से-अच्छी शिक्षा-संस्थाएँ भी आदमी की आयन्दा की जिन्दगी के लिए बहुत अधूरी सी तैयारी कर पाती हैं। उदाहरण के तौर पर भारतवर्ष की यूनीवर्सिटियों से हर साल हजारों ग्रेजुएट या स्नातक निकलते हैं। उनकी शिक्षा में कितना धन, समय और शक्ति खर्च होती है। परन्तु वह शिक्षा उनके जीवन की समस्याओं को हल नहीं करती। जब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते हैं, वे एक कल्पित स्वर्ग में रहते हैं, ऊंची-ऊंची उड़ान भरते हैं, बड़े बड़े विद्वानों की बातों पर तर्क-वितर्क करते हैं, और अपने लिए खूब मनसूबे या योजनाएँ बनाते हैं। लेकिन जब डिग्री या उपाधि लेकर वे व्यावहारिक जगत में आते हैं तो उनकी कल्पना का स्वर्ग नष्ट हो जाता है, वे डिग्रियाँ और उपाधियाँ उन्हें निकम्मी जान पड़ती हैं, क्योंकि उनसे उनका जीवन-निर्वाह भी नहीं होता, अपने गुजारे के लिए उन्हें दर-दर भटकना और अधिकारियों की खुशामद करना होता है। उनका स्वाभिमान जाता रहता है। बहुत से तो दुखी होकर आत्महत्या तक कर बैठते हैं। जिन थोड़े से सौभाग्यशाली युवकों को कहीं नौकरी मिल जाती है, वे भी संतुष्ट या सुखी नहीं रहते। विश्वविद्यालय में पढ़ते समय इन्होंने अपना 'रहन-सहन का दर्जा' खूब ऊंचा रखा था, या इन्हें ऐसा रहना पड़ा था, जिसमें बहुत अधिक खर्च हो। सादगी और संयम की शिक्षा इन्हें मिली नहीं थी। इनके शिक्षक अधिकतर ऐसे थे, जो त्याग और सेवा

का आदर्श न रख कर केवल स्वार्थ-साधन के लिए पढ़ाने या उपदेश का काम करते थे, इससे इनके मन पर अच्छा संस्कार ही कैसे पड़ता !

यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष पराधीन है, और यहाँ की शिक्षा-पद्धति विदेशी शासकों द्वारा निर्धारित और नियंत्रित होने के कारण इसमें लोकहित की उपेक्षा की गयी है। इसमें बहुत-कुछ सचाई मानते हुए भी हमारा यह प्रश्न बना ही है कि क्या स्वाधीन देशों की शिक्षा-पद्धति ऐसी है, जैसी वह होनी चाहिए। इसमें शक नहीं कि वहाँ शिक्षा का द्वार सर्वसाधारण के लिए खुला है, और शिक्षित व्यक्तियों को प्रायः अपनी आजीविका के लिए ऐसा सङ्कट उठाना नहीं पड़ता। परन्तु क्या यही काफी है ?

शिक्षा का उद्देश्य केवल आर्थिक उन्नति ही नहीं है, उसका उद्देश्य है, मनुष्य को शारीरिक, बौद्धिक, भौतिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी दृष्टियों से योग्य बनाना। शिक्षित व्यक्ति वह है, जो अपने आपको सुखी बनाने के अतिरिक्त समाज की सुख-समृद्धि में योग दे, और दूसरों की सेवा और सहायता करना अपना कर्तव्य समझे। स्वाधीन और उन्नत कहे जाने वाले देशों में भी फी सैकड़ा या फी हजार कितने आदमी इस कसौटी से शिक्षित कहे जाने योग्य हैं ? यदि उनकी संख्या काफी हो तो यह संसार लूट-खसोट, मारकाट और विनाशकारी घटनाओं का क्षेत्र न होकर, प्रेम और विश्वबंधुत्व का दृश्य उपस्थित करनेवाला बन जाय। निदान, यह स्पष्ट है कि अभी शिक्षा-पद्धति में बहुत परिवर्तन होने की आवश्यकता है। प्रगति की मौजूदा मंजिल किसी प्रकार सुखदायी या संतोषजनक नहीं है। अभी बहुत प्रगति करना शेष है। मनुष्य जाति की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति उसी समय संतोषप्रद मानी जायगी, जब हर देश के आदमी 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ेंगे और उसे जीवन में परिणत करेंगे।

———

तेतीसवाँ अध्याय

कला

आदमी सौन्दर्य-प्रेमी है, उसे सुन्दर चीजें अच्छी लगती हैं। हम सौन्दर्य की ठीक-ठीक परिभाषा भले ही न कर सकें, पर हम जानते हैं कि नदी, पहाड़, झरना, फूल पत्ते, जंगल और हरी-हरी घास आदि अच्छे अच्छे प्राकृतिक दृश्यों को देख कर हमें कितना आनन्द आता है, पक्षियों की चहचहाहट सुनकर कैसी खुशी होती है, रात को कितनी ही बार हम चन्द्रमा और तारों को बहुत देर तक देखते रहते हैं। सुन्दर वस्तुओं को देखकर, तथा मधुर स्वर को सुनकर अनेक बार हम अनायास ही अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगते हैं; हम कहते हैं, "सुन्दर! बहुत सुन्दर! वाह वाह!" आदि। हम ताली बजाते हैं, कभी-कभी अपने मन ही मन उन चीजों की प्रशंसा करते हैं। यह सब हमारे सौन्दर्य और माधुर्य प्रेम का लक्षण है।

हम चाहते हैं कि हम सुन्दर हों, हमारा वस्त्र सुन्दर हो, हमारी भाषा सुन्दर हो, हमारा मकान सुन्दर हो। अनेक बार जब हम अकेले होते हैं तो भी हम इस सौन्दर्य का आनन्द ले सकते हैं। पर साधारणतया हमारी यह इच्छा होती है कि दूसरे हमारे सौन्दर्य को देखें और उसे सराहें। इसलिए हम अपने शरीर तथा अपने वातावरण को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाने के लिए बहुत प्रयत्न करते रहते हैं।

जङ्गली आदमियों की अपने शरीर को सजाने की तरह तरह की मिसालें मिलती हैं। कितने ही आदमी अपने शरीर को गोदते हैं; अब गोदने में ज्यादह तकलीफ़ नहीं होती, पर पहले तो इसके लिए बहुत तकलीफ सहनी पड़ती थी। आदमी को जब यह विश्वास हो जाता है कि ऐसा करने से वह सुन्दर या खूबसूरत दिखायी

देने लगेगा तो वह वैसा करने के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाता! सौन्दर्य बढ़ाने के खयाल से कहीं सिर को चपटा किया जाता है; नाक होठ और कानों में छेद किये जाते हैं, उन छेदों को बढ़ाया जाता है, और उनमें बालियाँ पहनी जाती हैं। चीन में कुछ समय पहले स्त्रियाँ लोहे के सख्त जूते पहन कर अपने पैरों को छोटा बनाये रखती थीं, और योरप अमरीका की स्त्रियाँ कमर में पेटी कस कर बाँधती थीं, जिससे कमर पतली रहे। भारतवर्ष में अनेक स्त्रियाँ हाथ में कोहनी तक चूड़ियाँ, और फिर कोहनी से ऊपर चूड़ियाँ, गले में हँसली और मालाएँ, पैरों में भारी कड़ी या दूसरे जेवर, और हाथों और पैरों की अगुलियों में अंगुठियाँ या छल्ले पहिनती हैं। इन सब जेवरों के कारण काम करना तो दूर, चलने-फिरने में भी तकलीफ होती है। पर आदमी का स्वभाव है, खूबसूरती के लिए असुविधा और कष्ट सब कुछ सहता है! जो हो, इन सब बातों से जाहिर है कि आदमी अनेक प्रकार से अपना सौन्दर्य-प्रेमी या कला-प्रेमी होना जाहिर करता है।

कला के अनेक रूप हैं—साहित्य, सङ्गीत, चित्र, नृत्य और वस्तु-कला या निर्माण-कला आदि। इन कलाओं के व्यक्त करने के मुख्य साधन लेखनी, वाणी, तूलिका (कूंची), अंग-संचालन और पत्थर (या ईंट चूना) आदि हैं। कुछ आदमी कलाओं के दो भेद करते हैं—(१) ऐसी कलाएँ, जिनमें गति होती है, जिनमें शरीर के अंगों का ऐसा संचालन होता है, जो सुन्दर मालूम हो। मिसाल के तौर पर नाचना, गाना, नाटक आदि। (२) ऐसा मनोहर या आकर्षक कार्य जो आदमी एक जगह बैठे-बैठे कर लेता है; जैसे भवन-निर्माण, संग-तराशी या पच्चीकारी, चित्रकारी, बेल बूटे या नक्शे बनाना। इसी तरह कलाओं के दो भेद और भी किये जाते हैं—(क) ललित कलाएँ, जिनमें सौंदर्य के विचार की प्रधानता हो, जैसे संगीत, काव्य, चित्र और मूर्ति-कला आदि; और (ख) उपयोगी कलाएँ, जिनमें उपयोगिता के विचार की प्रधानता हो; इनमें रोजमर्रा की आवश्यकताओं के विविध कार्य सम्मिलित हैं। असल में ये वर्गीकरण पूर्ण रूप

से ठीक नहीं, केवल कामचलाऊ और कृत्रिम हैं। सौन्दर्य कला का प्राण है और सच्चा सौंदर्य मानव जीवन के लिए उपयोगी होता ही है।

आदमी में सौंदर्य-प्रेम की भावना शुरू से ही है। जब कि वह जंगली हालत में था, और उसे अपने लिए भोजन तलाश करने की भी बड़ी समस्या थी, उस समय भी मौका मिलने पर वह अपने शरीर को सजाने से नहीं चूकता था। यह पहले बताया ही जा चुका है कि कि शुरू शुरू आदमी ने कपड़ा पहनने का विचार खासकर अपना शरीर सजाने के उद्देश्य से ही किया था। जब आदमी के पास सिर्फ पत्थर के ही नोकदार औज़ार थे, उस समय वह उन औजारों से ही गुफाओं की दीवारों पर पशु पक्षी आदि की तसवीरें बनाया करता था। जब आदमी ने किसी दस्तकारी में उन्नति की तो उसके साथ उसने अपने कला-प्रेम का भी परिचय दिया। जगली हालत में आदमी ने टोकरी, या बर्तन आदि बनाये या मिट्टी, पत्थर लकड़ी या सींग आदि की दूसरी चीजें बनायीं तो उसने कई बार सिर्फ इस बात का ही ध्यान नहीं रखा कि इन चीजों से उसका काम चल जाय, बल्कि उसने इन्हें यथा-सम्भव ऐसा बनाया कि वे अच्छी दिखायी दें। ज्यों-ज्यों आदमी उन्नति करता गया, वह अपने व्यवहार की चीजों के रूप, रंग, आकार (डिज़ाइन) आदि की ओर अधिक ध्यान देने लगा।

यह कहा जा सकता है कि शिकारी का जीवन बिताते हुए आदमी को अपने सौंदर्य-प्रेम की भावना व्यक्त करने के लिए विशेष अवसर नहीं मिलता था। खेती का आविष्कार होने पर जब कुछ बलवान लोगों ने कमजोर आदमियों को अपने अधीन करके, उन्हें गुलाम बना कर उनसे तरह-तरह की मेहनत मज़दूरी का काम लेना शुरू कर दिया, तब गुलामों के या जमीन के मालिकों को खूब फुरसत मिलने लगी। इस फुरसत का उपयोग बहुत-कुछ कलाओं के विकास या वृद्धि में हुआ। फुरसत वाले आदमियों की बुद्धि और कल्पना को नये-नये क्षेत्रों में अपना जौहर दिखाने का अवसर मिलने लगा और वे अपने मनोरञ्जन

या दिल-बहलाव के लिए नये-नये उपाय सोचने लगे।

श्री यशपाल जी ने अपने एक लेख में लिखा है—'पहिले अपने हाथ से काम करके ज़रूरत पूरी होती थी। अब अगर आपके पास गुलाम हैं तो मसनद पर बैठिए; गुलाम आपका सब काम करेंगे। पहिले आदमी में जितनी शक्ति थी, उससे वह अपना पेट भर पाल कर थक जाता था। अब उसके थकने का सवाल नहीं रहा। इस लिए उसे पहाड़ खोदने और दरिया पाटने की सूझने लगी। मीलों से सुन्दर पत्थर ढो-ढोकर ईरान, रोम, मिस्र और भारत में भव्य इमारतें खड़ी होने लगीं, और गुलामों के मालिक दूसरा जरूरी काम न होने से आकाश में बुद्धि के घोड़े दौड़ाने लगे। तारों की चाल के हिसाब लगने लगे। समय काटने के लिए बांस में तार बांध कर बीणा बनी और उस दास स्त्री को जो जमीन खोद और पत्थर तोड़ कर उतने आनन्द की सृष्टि न कर सकती थी, जितनी कि वह स्वामि के सामने कमर में बल देकर और ठुमक-ठुमक कर उसकी आँखों को रिझा सकती थी, हुक्म हुआ—'तुम नाचो'। उस सुन्दरी के हावभाव की ताल पर संगीत चला, जिसने मालिक के कानों को अमृत से भर दिया। उस संगीत में न केवल कानों को तृप्त करनेवाले परन्तु हृदय को गुदगुदाने वाले वर्णन, व्याख्या और संकेत पैदा हुए। ऐसे विलक्षण या चतुर आदमी को, जो किसी भी स्थूल पदार्थ के बिना शब्दों से ही मोहक चित्र बना दे, महाकवि, और पंडित की उपाधि दी गयी। समाज में कला और विद्या का ..सार हुआ।'

पहले कहा गया है कि गुलामी की प्रथा ने कलाओं का विकास और वृद्धि की। गुलामों के मालिकों को अपनी साधारण जरूरतों को पूरा करने की फिक्र न रही, उन्होंने अपना फ़ुरसत का समय तरह-तरह की कलाओं की कल्पना में लगाया। पीछे उनका स्थान ज़मींदार जागीरदार और पूंजीपतियों ने लिया। इस तरह कलाएँ प्रायः धनवानों या सत्ताधारियों के आश्रित रही हैं। लेकिन समय-समय पर ऐसे भी कलाकार होते रहे हैं, जिन्होंने दूसरों की अधीनता स्वीकार न कर अपने

स्वाभिमान और स्वाधीनता के भावों का परिचय दिया है। यह ठीक है कि इन्हें अकसर बहुत सी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, पर इन्होंने धीरज रख कर सब तरह की मुसीबतों को सहा और कलाओं का गौरव बढ़ाया। ऐसे ही महानुभावों के उद्योग और कष्ट-सहन से समाज की प्रगति ठीक दिशा में होने में सहायता मिली है।

कला का मानव जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, वह जीवन की अभिव्यक्ति ही है। इस लिए जीवन की तरह कला की भी प्रगति होती रहती है, उसके नियम-विधान आदि बदलते रहते हैं; कला एक ही प्रकार की रूढ़ि या शैली में नहीं बंधी रह सकती। यह बात श्री॰शान्तिप्रिय जी द्विवेदी के लेख के आगे दिये हुए हिस्से से साफ़ हो जायगी— "मानवी मनोविज्ञान के अनुसार ही युग-प्रवर्तक कलाकार समय-समय पर कला को नूतन रूप रंग प्रदान करते हैं। समय के प्रवाह के साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की सरलता नष्ट होती जाती है, ज्यों-ज्यों उसमें विषमताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों उसका मनोविज्ञान भी जटिल होता जाता है। इस जटिलता के कारण ही कला को मनुष्य के सम्मुख नाना प्रकार से उपस्थित करना पड़ता है। किसी सीधे सादे युग में मनुष्य से सिर्फ यही कह देना पर्याप्त रहा होगा कि 'सच बोलो' और मनुष्य ने सच अपना लिया। परन्तु सत्यवादी होकर अप्रियवादी भी हो गया तब उससे कहना पड़ा—'अप्रिय सत्य मत बोलो।' मनुष्य ने इस पाठ को भी ग्रहण कर लिया। परन्तु किसी युग का शिशु की तरह सुबोध आज्ञाकारी मानव-समुदाय चिरकाल सहज नहीं रह सका, उसमें जीवन की कठिनता भी आ गयी। तब साहित्यकारों को उससे काव्य के सूत्ररूप में ही नहीं, बल्कि विशद कथा रूप में भी आत्मीयता जोड़ने की आवश्यकता जान पड़ी। परन्तु मनुष्य की चेतना कानों में ही नहीं, आखों में भी समाई हुई है। अतएव मनुष्य सदैव से जो सुनता आया है, उसका आंखों द्वारा भी समाधान चाहने लगा। उसकी इस इच्छा की पूर्ति नाटकों द्वारा हुई। इसी प्रकार वाणी ने समाज के भीतर साहित्य द्वारा क्रमशः नाना भांति से प्रवेश किया। आज काव्य,

कथा, उपन्यास, नाटक इत्यादि विविध उपहारों को लेकर साहित्य मानव समाज के साथ अपनापन बढ़ा रहा है। यदि कोई आज यह कहे कि 'तुम आत सूत्रों में ही बातचीत करो, वाणी का इतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं' तो जिस प्रकार यह आदेश निरर्थक हो सकता है, उसी प्रकार यह परामर्श भी अनावश्यक होगा कि किसी समय में काव्यों और अन्यान्य कथाओं के लिए जो अमुक-अमुक नियम थे, आज भी उन्हीं पर चलो।"

ऊपर यह बताया गया कि कला के नियम विधान आदि देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। एक समय के नियम उस समय के लिए बहुत उपयुक्त रहे होंगे, उन्हीं नियमों का हमेशा के लिए बन्धन बना रहना बहुत हानिकारक हो सकता है। इसी विचार से यह कहा जा सकता है कि 'कला, कला के लिए' है, यानी वह स्वावलम्बी है, वह किसी खास समय की रूढ़ियों में बंधी नहीं रह सकती। इसके खिलाफ, अगर कोई आदमी 'कला, कला के लिए' का अर्थ यह लेता है कि उसे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसकी उपयोगिता के विचार की आवश्यकता नहीं, तो यह बात बेमानी है, इसमें कोई तत्व नहीं।

किस-किस देश में कब किस-किस मंजिल को पार करके एक-एक कला का विकास हुआ, यह बहुत विस्तार का विषय है। साहित्य के विषय में कुछ मोटी-मोटी बातें अलग अध्याय में कही गयी है। इसी तरह संगीत के बारे में मनोरंजन के अध्याय में लिखा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि कलाओं का जन्म और प्रारम्भिक विकास भारतवर्ष में बहुत पुराने जमाने में होने का काफी प्रमाण मिलता है। और अब भी यहाँ का संगीत आदि बहुत ऊंचे दर्जे का माना जाता है। हाथ के कते सूत से कपड़ा और कालीन आदि बुनने की कला में भी भारतवर्ष का स्थान प्रमुख रहा है।

अब आदमी यंत्र-युग में रह रहा है। हाथ की कारीगरी का उपयोग कम हो गया है। हर तरह की चीज मशीन से बड़े पैमाने पर बनाने की कोशिश की जाती है। गाने-बजाने के नये-नये यंत्र तैयार

होते जा रहे हैं। टाकी, रेडियो और टेलिविजन ने पुराने समय के नाटकों, चित्रों, नृत्य और संगीत-सम्मेलनों को पीछे हटा दिया है। यों भी कहा जा सकता है कि यंत्रों के सहारे कलाओं का आनन्द सिर्फ स्थानीय आदमियों के लिए परिमित न रह कर हजारों मील दूर रहने-वालों को भी मिल सकता है।

कलाओं का प्रचार और विकास मनुष्य की प्रगति का लक्षण ही नहीं, उसका बड़ा भारी सहायक भी है। सौन्दर्य सब को प्यारा लगता है, वह सबको प्रसन्न सरता है। वह जाति-भेद, रंग-भेद और सम्प्रदाय-भेद आदि नहीं मानता। वह जुदा-जुदा जाति वालों को इकट्ठा करता है, उनमें मेल और सद्‌भावना बढ़ाता है। ताजमहल जैसी इमारत का आंगन एक ऐसा प्लेटफार्म है, जहाँ रूसी, चीनी, जापानी, जर्मन, अंगरेज और अमरीकी सभी बराबरी के नाते से खड़े हो सकते हैं, अमीर और गरीब का वहाँ कोई भेद नहीं रहता, अशिक्षित आदमी भी शिक्षितों की कतार में खड़े हो सकते हैं, ऊंच नीच आदि की वहाँ कोई कल्पना ही नहीं रहती। इस समय मनुष्य जाति जुदा-जुदा, और अकसर एक दूसरे से ईर्षा-द्वेष रखनेवाले ही नहीं, कुछ दशाओं में तो एक दूसरे के खून के प्यासे बहुत से टुकड़ों में बँटी हुई है, इसका एक उपाय यह है कि ऊंचे दर्जे के कलाकार काफी संख्या में कार्यक्षेत्र में आवें, और अपनी सुन्दर कृतियों से दूर-दूर की जनता को इतना मुग्ध कर दें कि सब लोग आपसी भेदभावों को पूरी तरह भुला दें।

इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी कृतियाँ वे ही कलाकार प्रदान कर सकते हैं, जिनका हृदय प्रेम और एकता, अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व के भावों से भरा हो। ऐसे कलाकारों की जितनी आवश्यकता है, उसे देखते हुए अभी उनकी संख्या बहुत कम है। तो भी यह संतोष का विषय है जगह-जगह इस तरह की विभूतियाँ नजर आती हैं। साहित्यिक कलाकारों का एक अच्छा उदाहरण फ्रांस के प्रसिद्ध रोमा रोलां थे, जिनका गत ३० दिसम्बर १९४४ को देहान्त हुआ।

आपकी विशाल-हृदयता का कुछ परिचय इस बात से मिलता है कि उन्होंने योरपीय और एशियाई का भेदभाव नहीं माना, बल्कि शान्ति की खोज के लिए अपने योरपीय भाइयों को यह परामर्श दिया कि वे भारतवर्ष की आश्चर्यजनक आध्यात्मिकता का स्वाद लें। उन्होंने महात्मा गांधी, रविन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का चरित्र श्रद्धा और भक्तिभाव से मनन किया। भारतवर्ष के प्रति अपनी भावनाएँ प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—"मैं फ्रांसीसी हूँ, और ऐसे परिवार में पैदा हुआ हूँ, जो सदियों से फ्रांस की जमीन में फला-फूला। जब मैं सिर्फ बीस वर्ष का था और मुझे भारत के धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान न था, तभी से मुझे भारत के प्रति एक अगाध प्रेम हो गया।......इसका कारण मैं यह समझता हूँ कि मेरे अन्दर पश्चिमी आर्य और पूर्वी आर्य का कोई घनिष्ट एकीकरण है। मुझे पूरा विश्वास है कि मैं हिमालय से उतरते हुए विजेता आर्यों का वंशज हूँ, और मेरी रगों में उनका रक्त बह रहा है।"

मनुष्य जाति की यथेष्ट प्रगति के लिए महान कलाकारों की कितनी जरूरत है!



चौंतीसवाँ अध्याय

विज्ञान

व्यवहार के जितने अंग हैं—क्या व्यापार, क्या कृषि, क्या शिल्प, क्या चिकित्सा—सब में विज्ञान द्वारा अपूर्व उन्नति हुई है। व्यवहार-दृष्टि से भी कहीं अधिक, तत्व दृष्टि से इस उन्नति का महत्व हमें स्वीकार करना पड़ता है। प्रकृति का अधिक ज्ञान होने से, अब हम जगत के रहस्यों पर पहले से कहीं अधिक ठीक विचार कर सकते हैं।

—हेकल

आदमी में सोचने-विचारने की आदत है। अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए वह कोई न कोई उपाय सोचता है, उसके मार्ग में जो बाधा आती है, उससे वह बच कर ही नहीं निकलता, उस पर विजय पाने की भी वह कोशिश करता है। उसकी सोचने-विचारने की शक्ति ने ही विज्ञान को जन्म दिया। और, क्योंकि यह शक्ति उसमें शुरू से है, इस लिए विज्ञान भी बहुत पुराने समय से है। हाँ, इसकी विशेष प्रगति पिछले दो सौ वर्ष में दिखायी दी है। असल में आदमी बहुत पुराने जमाने से कुछ-न-कुछ आविष्कार या ईजाद करता रहा है। वह वैज्ञानिक है।

दूसरे प्राणियों की तरह आदमी में स्वभाव से यह इच्छा होती है कि मैं जिन्दा रहूँ, अपनी भूख प्यास को मिटाऊँ, सर्दी गर्मी से, वर्षा और ओलों से बचूं, जंगली जानवरों से अपनी हिफाजत करूँ और जहाँ तक हो सके आराम से रहूँ, मुझे किसी तरह की तकलीफ न हो। इन और ऐसी ही जरूरतों ने आदमी को तरह-तरह के औजारों या साधनों की ईजाद करने में लगाया। धीरे-धीरे आदमी की बुद्धि बढ़ी और उसने नये-नये आविष्कारों द्वारा अपनी शक्ति बढ़ायी, यही विज्ञान की उन्नति का इतिहास है।

औजारों के आविष्कार के बारे में पहले लिखा जा चुका है। उस सिलसिले में खान से निकलनेवाली चीजों, और खास तौर से लोहे और कोयले का जिक्र किया गया है। इन चीजों के इस्तेमाल से उद्योग धन्धों की बहुत उन्नति हुई। उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए शक्ति या ताकत की ज़रूरत होती है। पहले आदमी केवल अपनी ही ताकत का उपयोग करना जानता था। पीछे उसने पशुओं से काम लेना सीखा। उसके बाद उसे कुदरती शक्तियों को इस्तेमाल करने का ज्ञान प्राप्त हुआ—उसने धीरे-धीरे पानी, हवा, भाप और बिजली आदि का उपयोग करना सीखा।

पहले पानी की शक्ति के उपयोग का विचार करें। नदी या दरिया के पास रहनेवालों ने देखा कि पानी में लकड़ी आदि बहुत सी

चीजें बह जाती हैं, पानी आदमी को भी बहा ले जाता है। इस तरह आदमी को, बहा कर लेजानेवाली ताकत का ज्ञान हुआ। उसने नदी में नाव या किश्ती चलाना शुरू कर दिया। पीछे धीरे-धीरे इस काम में तरक्की होती रही। आदमी अपनी किश्ती चला ही रहा था; इसी बीच में उसने अनुभव किया कि पहियों के सहयोग से गाड़ी अच्छी चलती है। अब पानी और पहिये दोनों से एकसाथ काम लेने की युक्ति उसके ध्यान में आ गयी। उसने देखा कि चट्टान आदि की ऊँचाई से पानी गिरता हो तो उससे पहिया घूम सकता है। यह ध्यान में रखते हुए उसने पहिये में एक बड़ा पत्थर बाँध दिया और ऐसी योजना की कि पहिया पानी के जोर से घूमता रहे। इस तरह पहिये के साथ पत्थर घूमने लगा और अपने नीचे रखे हुए आटे को पीसने लगा। पनचक्की का आविष्कार हो गया।

अच्छा; अब हवा की शक्ति की बात लें। आदमी ने देखा कि हवा से पेड़ों के पत्ते हिलते हैं, और हवा पत्तों या घास-फूस आदि को उड़ा ले जाती है। उसने किश्ती के एक सिरे पर दोनों तरफ दो डंडे खड़े किये और उनमें कपड़ा या चटाई बाँध दी। जब दूसरी दिशा से हवा चली तो वह किश्ती को आगे-आगे बढ़ा ले चली। आदमी को पाल या बादबान का उपयोग मालूम हो गया, और वह इनके सहारे किश्तियों और जहाजों को दूर-दूर बहुत आसानी से ले जाने लगा। पीछे हवा के जोर से आटा पीसने की चक्की और पानी का नल आदि भी चलने लगा।

इसी बीच में आदमी भाप की ताकत मालूम करके उस का भी उपयोग करने लग गया। अपने खाने पीने की चीजों को उबालते हुए उसने देखा कि डेगची या पतीली के ऊपर का ढकना भाप के जोर से उठता है। उसने इस ताकत से लाभ उठाने का विचार किया। सोलहवीं सतरहवी सदी में किये हुए प्रयोगों में सफल न होने पर भी उसकी कोशिश जारी रही। अठारहवीं सदी में उसके दिमाग में यह बात आयी कि अगर भाप को एक सिलिंडर या मोटे नल में इकट्ठा कर

लिया जाय तो उससे पहिया घुमाने या चीजों को चलाने का काम लिया जा सकता है। आखिर, सन् १८६५ के लगभग खान से कोयला निकालने के लिए स्टीम एंजिन यानी भाप से चलनेवाला यंत्र बनाया गया। धीरे-धीरे इसमें सुधार और उन्नति हुई। फिर ऐसे भी एंजिन बनने लगे, जो कोयले आदि को न सिर्फ गहरी खान से ऊपर निकालते हैं, बल्कि एक जगह से दूसरी जगह भी पहुँचाते हैं। अब एक-एक एंजिन में हज़ारों घोड़ों तक की ताकत होती है; एक घोड़े की ताकत ('हार्सपावर)* का मतलब होता है,लगलग बीस आदमियों की ताकत। हम नित्य देखते ही हैं कि रेलगाड़ी में लगा हुआ एंजिन कितनी सवारियों या कितने वजनी माल को तेजी से ले जाता है। वह महीनों की यात्रा दिनों में और दिनों की यात्रा घंटों में तय कर डालता है।

रेल के एंजिन के बाद, भाप के जोर से पानी पर चलनेवाला जहाज (स्टीम शिप) बनाया गया। इसने किश्तियों और दूसरे जहाजों को पुराने ज़माने की चीज बना दिया। धीरे-धीरे तरह-तरह के यंत्रों को चलाने के लिए भाप की शक्ति का उपयोग होने लगा। नित्य नयी चीजों को, ज़्यादह-ज़्यादह परिमाण में बनानेवाले कल-कारखाने खुलते गये, और उनमें तरक्की होती गयी। कोयले से पानी की भाप बनाने और भाप से शक्ति का काम लेने के बजाय पीछे खुद कोयले को गैस बनायी जाने लगी, जिससे रोशनी करने के अलावा चालक शक्ति का काम लिया जाता है। आदमी और आगे बढ़ा। तेल (पेट्रोल) के एंजिन का आविष्कार हुआ। उसके सिलिंडर में तेल और हवा भरी जाती है। इस एंजिन का उपयोग स्टीम एंजिन से बहुत सस्ता पड़ता है, और हल्का तो होता ही है। इसलिए इसका क्षेत्र बढ़ता जाता है। मोटर और हवाई जहाजों में यही काम देता है।

---

* 'एक घोड़े की ताकत'—एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है, इतनी ताकत, जिससे ५५० पौंड वजन एक सेकिंड में एक फुट ऊपर उठाया जा सके।

आदमी आगे चला ही जा रहा है। अब तेल के एंजिन की बात भी पुरानी पड़ती जा रही है। कुछ प्रयोग करने पर आदमी को यह ज्ञान प्राप्त हो गया कि बिजली बहुत उपयोगी है, वह पानी से बहुत सस्ती तैयार की जा सकती है, और उसे तार के द्वारा सैकड़ों मील ले जाया जा सकता है। बस, आदमी बिजली से काम लेने लग गया। अब अनेक सवारियाँ, मशीनें और कल कारखाने इसकी शक्ति से चलते हैं। बिजली तार, बेतार के तार, रेडियो, समुद्री तार, टेलीफोन आदि में भी काम आती है, और, बात-की-बात में सैकड़ों, हजारों मील का समाचार ला देती है। इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। अब मानो बिजली का ही युग है। शहरों में बिजली की रोशनी ने, तेल से जलने वाले लेम्पों को हटा दिया है। बिजली द्वारा डाक्टर कई बीमारियों का इलाज करते हैं। बिजली के चुल्हों से खाना पकाने का काम लिया जाने लगा है। बिजली से खेती के सम्बन्ध में कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहे हैं, और होने की आशा है, यह खेती के अध्याय में बताया जा चुका है। बिजली का एक खास उपयोग सर्दी के मौसम में गर्मी पैदा करके, और गर्मी में हवा से ठंडक पहुंचा करके, सर्दी गर्मी पर ऐसा नियंत्रण करना है कि औसत दर्जे की हरारत (टेम्परेचर) रहे, न बहुत कम और न बहुत ज्यादह। रेलों और ट्रामों आदि में तो इस तरह की व्यवस्था की ही जाती है, योरप में मकान और होटल आदि में भी ऐसा किया जाता है। इसका अधिक प्रचार होने पर, जलवायु का बहुत कुछ नियन्त्रण हो जायगा। जो लोग बहुत ठंडे देशों में सर्दी से परेशान रहते हैं, या गर्म देशों में गर्मी के कारण आलस्य का जीवन बिताने को मजबूर होते हैं, उन्हें भविष्य में ऐसा करने की ज़रूरत न रहेगी। वे अपने समय और शक्ति का कहीं अधिक उपयोग कर सकेंगे।

आदमी शक्ति की खोज में लगा रहा। उसने सोचा कि सूर्य अनंत शक्ति का भंडार है। गर्म देशों में सूर्य की धूप से तपनेवाले हजारों एकड़ ज़मीन के मैदान मौजूद हैं। अगर इनमें से थोड़े से हिस्सों की

ही गर्मी को नियन्त्रित करके उसका मनचाहा उपयोग हो सके तो क्या ही अच्छा हो। उसने सूर्य की गर्मी से पानी की भाप बनाकर उससे काम लेने का विचार किया, और इस तरह के एंजिन भी बनाये। आदमी के ये प्रयोग चल ही रहे थे कि उसे शक्ति प्राप्त करने का एक नया तरीका मालूम हो गया, जिसके मुकाबले में और सब उपाय कम-से-कम इस समय तो तुच्छ ही जान पड़ते हैं। उसका नया आविष्कार है परमाणु बम, जिसकी विकराल विनाशकारी शक्ति का ज़िक्र युद्ध के प्रसंग में किया जा चुका है। यहाँ इसके आविष्कार के सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें बतायी जाती हैं।

पहले वैज्ञानिक यह मानते थे कि इस जगत का हरेक पदार्थ कुछ छोटे-छोटे परमाणुओं का बना हुआ है और हरेक पदार्थ के परमाणु एक-दूसरे से अलग तरह के होते हैं। पीछे मालूम हुआ कि ये परमाणु बिजली रूपी शक्ति के कणों के बने हुए हैं। इस प्रकार हरेक पदार्थ शक्ति मात्र है, वह उसका दबा हुआ और जमा हुआ रूप है, और उसके बनाने में प्रकृति ने अपरिमित बल खर्च किया है। किसी पदार्थ के परमाणुओं को तोड़ने के लिए बहुत बल की आवश्यकता है, और अगर किसी तरह वे टूट सकें तो जितनी शक्ति उसमें भरी है, वह सब हमें वापस मिल जाय। बहुत से प्रयत्नों के बाद यूरेनियम की धातु ऐसी मिली, जिसके परमाणुओं को (हाइड्रोजन गैस से निकले हुए बिजली के कणों की टक्कर से) कुछ हद तक तोड़ा जा सकता है। उनके टूटने से अपार शक्ति एक दम फूट पड़ती है—ऐसी किरणें निकलती हैं, जो कई-कई मीलों तक सब वस्तुओं को पार कर जाती हैं। अमरीका का परमाणु-बम परीक्षा के लिए मेक्सिको के निर्जन रेगिस्तान में छोड़ा गया था, उसकी गर्मी से वहाँ की बालू रेत पिघल गयी, (वह नीले रंग की सुन्दर कांच बन गयी; अब उस के नगीने बनाये जाने वाले हैं)। पीछे दो परमाणु-बमों ने दूसरे महायुद्ध के अवसर पर जो भयंकर विनाश-कार्य इस वर्ष (१९४५) जापान में किया है, उसे सब जानते हैं। उसका आतंक मनुष्य मात्र पर छाया

हुआ है। क्या उसका उपयोग औद्योगिक और रचनात्मक कार्यों में नहीं हो सकता ?

वैज्ञानिकों को विश्वास है कि वे ऐसी तरकीबें निकाल लेंगे, जिनसे परमाणुओं की अपरिमित बेलगाम शक्ति को काबू में लाकर धीरे-धीरे ज़रूरत के मुताबिक मनुष्य-हित के कामों में लगाया जा सके। सुना है, अमरीका में परमाणु शक्ति से चलनेवाला एंजिन बनाने में कुछ सफलता मिली है। यदि इतनी बड़ी शक्ति का ठीक सदुपयोग हो सके तो उससे होनेवाले लाभ का क्या ठिकाना! कुछ वैज्ञानिक लोग परमाणु-शक्ति के कारखाने में बैठे-बैठे बटन दबा-दबा कर सारे काम पूरे कर दिया करेंगे। जल में थल, और में थल में जल पैदा कर देना; रेगिस्तान को नखलिस्तान और पहाड़ों को मैदान बना देना; गर्मी में सर्दी और सर्दी में गर्मी पैदा कर देना; यह पृथ्वी तो क्या, आकाश के ग्रह-नक्षत्रों तक की सैर के उपाय निकाल लेना—ये सब बातें सम्भव हो जायँगी।*

वैज्ञानिक आविष्कारों की बात छोड़ कर अब जरा यह विचार करें कि विज्ञान का आदमी की विचार-धारा पर क्या प्रभाव पड़ा। विज्ञान-युग का आदमी किसी घटना के बारे में यही नहीं सोचता कि वह किस तरह होती है, बल्कि वह यह भी विचार करता है कि वह घटना क्यों होती है। आदमी कारण और कार्य का सम्बन्ध देखता है। वह अपनी बुद्धि का उपयोग करता है। इससे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक—सभी दिशाओं में तर्क और विवेक का स्थान बढ़ता जाता है। मिसाल के तौर पर इस जमाने का आदमी किसी रीति रिवाज को आंख मोच कर मानने को तैयार नहीं है, वह उसे उपयोगिता की कसौटी पर कसना चाहता है। धार्मिक विषयों में अंध-विश्वासों के बने रहने की गुञ्जाइश नहीं है। कोई बात केवल इसलिए स्वीकार नहीं की जा सकती कि वह किसी धर्म-ग्रन्थ में लिखी हुई है। राजनैतिक विषयों में अब राजा को

* श्री० चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय बी० एस-सी० के लेख से।

ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। राजा का पद रहे या न रहे, और यदि रहे, तो राजा के कर्तव्य और उत्तरदायित्व क्या हों—यह खुले-आम चर्चा की बात है। इस तरह सब क्षेत्रों में श्रद्धा, भावना, विश्वास आदि कम हो रहा है, और तर्क, विवेक या दलील बढ़ रही है। आदमी अपने कार्यों में ही नहीं, विचारों में भी अधिकाधिक वैज्ञानिक हो रहा है।

इस सिलसिले में एक सवाल पर विचार करना जरूरी है—विज्ञान ने पिछले जमाने में, खासकर पिछले सौ वर्ष में बहुत तरक्की की है, क्या यह इसी तरह आगे तरक्की करता जायगा, या इसकी तरक्की बन्द हो जायगी? भारतवर्ष में विमान और भवन-निर्माण* की, और चीन में छापेखाने आदि की, बहुत पहले उन्नति होकर भी पीछे विशेष प्रगति नहीं हुई। पुराने मिस्र में विज्ञान ने कुछ समय खूब तरक्की की, पर पीछे उसका ह्रास हो गया। पुराने यूनान में विज्ञान तीन सौ वर्ष तरक्की करके रह गया। सिकन्द्रिया में सौ साल तक इसका प्रचार रहा, फिर बन्द हो गया। अरबों में भी इसकी तरक्की के बाद ह्रास हो आया! क्या हमारे साथ भी इतिहास इसी तरह अपने आपको दोहरायेगा?

ऐसा होना असम्भव तो नहीं है, पर ऐसी आशा नहीं है। अनुमान से यही मालूम होता है कि विज्ञान आगे बढ़ता ही रहेगा। इसका एक कारण यह है कि पहले की अपेक्षा अब विज्ञान बहुत फैला हुआ है। पहले विज्ञान संसार के एकाध हिस्से में ही था, और उस हिस्से का दूसरे हिस्सों से विशेष सम्बन्ध न था। किसी कारण से जब एक हिस्से की अवनति हो गयी, तो उसके विज्ञान का अन्त हो गया। अब यह बात नहीं है। अब युद्ध या अन्य दुर्घटना के प्रभाव से यदि एक हिस्से में विज्ञान को कुछ धक्का लगे तो दूसरे हिस्सों में वह बना रहेगा, और वहाँ

---

* विमानों और समुद्र में पुल बनाने का जिक्र रामायण जैसे प्राचीन ग्रंथ में है। महाभारत से मालूम होता है कि उस महायुद्ध के समय भवन-निर्माण की विद्या यहाँ इतनी उन्नत थी कि दुर्योधन को पानी की जगह खुश्की, और स्थल की जगह जल होने का अनुमान हो गया था।

से फिर सब जगह फैल सकेगा।

इसके अलावा अब विज्ञान कुछ इने-गिने आदमियों तक ही परिमित नहीं है। यूनिवर्सिटी और विद्यापीठों में विज्ञान की शिक्षा पानेवालों की संख्या खासी बड़ी है, और बढ़ती जा रही है। अब किसी एक पीढ़ी में जितने वैज्ञानिक मौजूद होते हैं, उतने पहले कई-कई पीढ़ियों में भी नहीं हुए। हर देश में कितने ही आदमी विज्ञान की धुन में लगे रहते हैं, और इसके लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते हैं। फिर, छापेखाने की बदौलत विज्ञान सम्बन्धी साहित्य घर-घर पहुँच रहा है। कोई आविष्कार बहुत समय तक रहस्य नहीं रहता; कोई संस्था, जाति, या देश अपने आपको हमेशा के लिए उसका एकाधिकारी नहीं कह सकता। इससे जाहिर है कि भविष्य में विज्ञान के ह्रास की आशंका नहीं है; इसकी उन्नति ही होते रहने की आशा है। और, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि आदमी ने विज्ञान में बहुत प्रगति की है, इसकी वृद्धि और प्रचार के लिए अभी अनन्त क्षेत्र पड़ा है। विज्ञान ने मनुष्य जाति को बहुत सुख और सुविधाएँ दी हैं; पर अभी उसे और भी बहुत काम करना है।

मौजूदा हालत में विज्ञान से जो सुविधाएँ मिली हैं, उनका लाभ थोड़े से ही आदमियों को मिलता है, ज्यादातर समाज तो उस लाभ से वंचित ही है। इसके अलावा अनेक बार विज्ञान का उपयोग लड़ाई आदि के विनाशकारी कामों में होता है। विज्ञान के इस दुरुपयोग का कारण यह है कि आदमी में स्वार्थ और लोभ अभी बहुत है, उसका दृष्टिकोण संकुचित, और उसका मन अनुदार है; समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन ठीक नहीं है। इन बातों में सुधार होने की आवश्यकता है; कुछ सुधार हो रहा है। इस विषय में खुलासा दूसरी जगह लिखा गया है। अस्तु; आशा है, कि आगे-आगे विज्ञान का प्रचार व्यापक रूप से होगा, और जो वैज्ञानिक आविष्कार अब थोड़े से आदमियों को लाभ पहुँचा रहे हैं, उनसे अधिकाधिक मनुष्य-समाज का हित होगा।

सातवाँ भाग

आर्थिक व्यवस्था

समाज को सुगठित बनाये रखने के लिए आपसी मेलजोल ज़रूरी है। यदि हम सब लोग एक दूसरे के सहकारी बन कर जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुएँ पैदा कर लिया करें, और उनको प्रेम-भाव से आपस में आवश्यकतानुसार बांट लिया करें तो समाज में सुख शान्ति रह सकती है।

—प्रयागनारायण श्रीवास्तव

पैंतीसवाँ अध्याय
प्रारम्भिक अर्थनीति



शुरू में आदमी जङ्गल में रहते हुए, अपने आप पैदा होनेवाले पेड़ों के फल आदि बटोरता था; या जमीन में से कन्द मूल आदि निकालता था, और उनसे अपना गुजारा करता था। वह कुदरती तौर पर मिलनेवाली जानवरों की खाल या पत्तों आदि से अपना शरीर ढकता था और गुफाओं या खोहों आदि में विश्राम करता था। वह इन चीजों के लिए कोई मेहनत नहीं करता था उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती थी कि कुदरती तौर पर मिलनेवाली खाने-पहनने की चीजों का परिमाण धीरे-धीरे कम होता जाता है, कुछ नयी चीजें पैदा करनी चाहिएँ। जब एक जगह कुदरती पैदावार खर्च होते-होते समाप्त हो जाती तो आदमी उसकी खोज में दूसरी जगह चल देता था। उसके मन में दूसरों के अधिकार या अपने कर्तव्य आदि विचार नहीं था। वह यह नहीं सोचता था कि जिस चीज को मैं खर्च करके समाप्त कर रहा हूँ, उसकी दूसरों को भी जरूरत होगी, उनका भी कुछ अधिकार है, और उनका ध्यान रखना मेरा कर्तव्य है। यह अर्थनीति सब से नीचे दर्जे की है। इसे लूट या अपहरण की नीति कहा जा सकता है। इसमें आदमी बिना मेहनत किये. मुफ़्त में ही प्रकृति से अपनी ज़रूरत की चीज़ें लेता है; वह बदले में मेहनत करके कुछ चीज़ें पैदा नहीं करता। इसमें श्रम-विभाग नहीं के बराबर था। खाने-पीने का सामान जुटाने में पुरुष और स्त्री मिलकर हाथ बटाते थे।

शिकारी या मछुए (माहीगिर) की दशा में आदमी ने शिकार करने या मछली पकड़ने के लिए औजार या जाल बनाये। उसने

अपनी शक्ति और योग्यता का उपयोग तो किया, लेकिन सिर्फ अपने लिए। उसने कुदरती तौर से मिलनेवाली चीजों को खर्च किया, उनका परिमाण बढ़ाने की कोशिश नहीं की। इस अवस्था में आदमी अपनी मेहनत से जो चीज़ें हासिल करता था, उन पर उसके परिवार या गिरोह वालों का अधिकार होता था। परिवार या गिरोह से बाहर के आदमियों के अधिकार या सुविधा की बात नहीं सोची जाती थी।

धीरे-धीरे जनसंख्या बढ़ी; खाने-पीने की अधिक चीजों की जरूरत हुई। एक-एक समूह कई-कई टुकड़ों में बँट गया। नये नये समूहों का निर्माण हुआ। अपनी ज़रूरतों को पूरा करने में एक समूह की दूसरे समूहों से लड़ाई हुई। जैसा पहले कहा गया है, लड़ने का काम धीरे-धीरे पुरुषों का रह गया, वे ही पीछे जङ्गल आदि का अधिकतर काम करने लगे। स्त्री का कार्यक्षेत्र घर ही हो चला। इस तरह श्रम-विभाग बहुत मोटे तौर से आरम्भ हुआ। इस अवस्था की मुख्य बात यह है कि स्त्री घर की मालकिन बनी, और पुरुष बाहरी बातों का अधिकारी हुआ।

पीछे आदमी चरवाहे, गड़रिये या बनजारे का जीवन बिताने लगा! अब उसे अपने परिवार या गिरोह के अलावा अपने जानवरों के लिए भी भोजन और चारे की ज़रूरत होती थी। जब एक जगह ये चीज़ें न रहतीं तो वह इनकी तलाश में दूसरी जगह चला जाता। धीरे-धीरे वह घास या चारा पैदा करने लगा। इस प्रकार आदमी प्रकृति की दी हुई सम्पत्ति को खर्च करनेवाला ही न रहकर उत्पत्ति भी करने लगा।

अब हर एक आदमी का अपने-अपने पशुओं पर निजी अधिकार होने लगा। निजी सम्पत्ति या मिलकियत की भावना पैदा हो गयी। जिसके पास जितने अधिक पशु होते, वह उतना ही अधिक धनवान माना जाने लगा। इससे एक ओर तो समाज में गरीब अमीर का भेद-भाव शुरू हुआ। दूसरी बात यह हुई कि पशुओं को पालने या रक्षा करने का काम ज्यादहतर पुरुष करता था इसलिए वही सम्पत्ति का स्वामी हुआ। उसे ही पशुओं को खरीदने, बदलने या बेचने आदि

का अधिकार होने लगा । इस तरह के मामलों में स्त्री को अधिकार नहीं होता था । वह भले ही पुरुष को कुछ सलाह देदे, पर उस सलाह को मानने न मानने में पुरुष स्वतन्त्र था । अकसर पुरुष का रुख देख कर ही स्त्री अपना विचार बना लेती थी । वह पुरुष की दी हुई सम्पत्ति का ही उपयोग करती थी । इस तरह अब आर्थिक दृष्टि से स्त्री का पद पुरुष से हीन दर्जे का हो गया । खेती का काम शुरू होने पर यह क्रम और आगे बढ़ा । यहाँ इस बात को याद रखना है कि यह जरूरी नहीं हैं कि खेती करनेवाले समूह पहले चरवाहे अवश्य ही रहे हों । कुछ दशाओं में ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि आदमियों ने पहले खेती की, और पीछे उन्हें पशु-पालन की सुविधा अधिक होने पर वे चरवाहे हो गये । इस विषय में कुछ खुलासा तौर पर चौथे अध्याय में लिखा जा चुका है ।

अस्तु, शुरू में आदमी अपनी भोजन आदि की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुदरती तौर से पैदा होनेवाली चीजों के आश्रित था । धीरे-धीरे वह अपने पुरुषार्थ और मेहनत से निर्वाह करनेवाला हो गया । लेकिन अब गरीबी अमीरी का, और पुरुष और स्त्री के अधिकारों का भेद भी बढ़ने लगा । पीछे जाकर कुछ आदमी दूसरे आदमियों को अपने अधीन करके उनकी मेहनत से अपनी ज़रूरतें पूरी करने लगे, और खुद मौज से, आरामतलबी में रहने लग गये; इसका खुलासा विचार आगे किया जायगा ।

छत्तीसवाँ अध्याय

गुलामी

मैं सत्य की तरह रूखा और न्याय की भाँति अटल रहूँगा । इस सम्बन्ध में मैं नरमी के साथ न सोचना चाहता हूँ, न बोलना चाहता हूं, और न लिखना चाहता हूँ । नहीं, नहीं; तुम चाहो तो

उस मनुष्य से जिसके घर में आग लगी हो, नरमी से शोर करने को कह सकते हो, तुम चाहो तो उस पुरुष से जिसकी पत्नि पर कोई बलात्कार करने जा रहा है, ठसका नरमी के साथ छुड़ाने को कह सकते हो; तुम चाहो तो उस माता को जिसका बच्चा आग में गिर पड़ा है, उसे नरमी से निकालने को कह सकते हो, परन्तु इस काम (दासता को बन्द करने) में नरमी करने के लिए मुझ से मत कहो। मैं दृढ़ हूं। मैं इधर-उधर की बात नहीं करूँगा, मैं क्षमा नहीं करूँगा। मैं पीछे नहीं हटूंगा। लोगों को मेरी बात सुननी पड़ेगी।

—विलियम लायड गेरीजन

पहले कहा जा चुका है कि पशुपालन से आदमियों में स्वत्व या मिलकियत की भावना पैदा हुई; और, खेती का काम शुरू हो जाने पर वह विचार बढ़ता गया। अब हरेक आदमी यह चाहने लगा कि जितनी अधिक या जितना बढ़िया ज़मीन मेरे अधिकार में रहे, उतना ही अच्छा। उपजाऊ जमीन के लिए लोगों में झगड़ा होने लगा। जो अधिक बलवान हुआ, या जिसे अधिक आदमियों की मदद मिली, उसने उस ज़मीन पर कब्जा करने के लिए दूसरों को हराया। खेती का आविष्कार होने से पहले लड़ाई में जो आदमी कैद होते, उन्हें मुफ़्त में खिलाने-पिलाने की अपेक्षा जान से मार डाला जाता था, और कभी-कभी उनके मांस से दावत उड़ायी जाती थी। पर अब उनसे खेती का काम लेने की तरकीब निकल आयी। इससे अब कैदियों को जिन्दा रखा जाने लगा, पर स्वतन्त्र रूप में नहीं; उन्हें दास या गुलाम बना कर पशु-पालन या उनसे खेती करायी जाने लगी। यदि हम दासता के शुरू होने की इस बात का ध्यान रखें, तो हमें मानना होगा कि उस समय के विचार से यह एक तरह का सुधार ही था। यह ठीक है कि गुलामी बहुत बुरी है, पर जिस नर-हत्या या नर-मांस-भक्षण की जगह यह आयी, वह तो इससे भी ज्यादा खराब थी। जो हो, संसार में खेती की उन्नति और उसके द्वारा समाज की उन्नति

करने में दासता या गुलामी का बड़ा हिस्सा है।

गुलामी ने उस समय की समाज का स्वरूप ही बदल दिया। धीरे-धीरे आदमी यह सोचने लगा कि धनवान, बलवान या प्रतिष्ठावान बनने का रास्ता यही है कि ज्यादा-से-ज्यादा दास या गुलाम रखे जायँ। पहले एक कबीला दूसरे पर, खाने-पीने की चीजों के लिए, हमला किया करता था; अब एक बस्ती के खास-खास आदमी दूसरी बस्ती के आदमियों पर हमला इसलिए करने लगे कि उन्हें बहुत से गुलाम मिल जायँ, जो मेहनत मशक्कत का सब काम किया करें।

संसार की बहुत सी सभ्यताओं का आधार गुलामी की प्रथा रही है, भले ही उसका स्वरूप देश-काल के अनुसार अलग-अलग रहा हो। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र के दासता सम्बन्धी अंश से यह साफ जाहिर है कि भारतवर्ष में सवा दो हजार वर्ष पहले कुछ दास अवश्य थे, जिन्हें मुक्त करने या जिनकी हालत सुधारने के लिए आचार्य ने अच्छा प्रयत्न किया।

यूनान में, उसकी सभ्यता के शिखर के दिनों में गुलामी का खूब दौरदौरा रहा। वहाँ विद्वान दार्शनिक अरस्तु का मत था कि गुलामी समाज के लिए स्वाभाविक और जरूरी है। अफलातून भी यह ज़रूरी समझता था कि यूनान में बहुत से गुलाम रहें; हाँ, वे विदेशी हों, यूनानी नहीं। आर्शिमिडीज़ जैसे मशहूर अविष्कारक की भी यह राय थी कि शारीरिक मेहनत का काम वैज्ञानिकों के करने योग्य नहीं है, वह तो गुलामों को ही करना चाहिए। यूनान में स्वतन्त्र नागरिक अपनी सन्तान को बेच सकते थे, और यह सन्तान अपने खरीददारों की गुलाम होती थी। इसी तरह कर्जदारों को ऋण चुकाने के समय तक अपने महाजन का गुलाम होना पड़ता था। गुलामों से खेती के अलावा मजदूरी तथा घरेलू चाकरी आदि का काम लिया जाता था।

रोम साम्राज्य के दिनों में वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार भी गुलामी ही था। वहाँ के सम्राट् और सेनापति दूसरे देशों को जीत कर वहाँ से बहुत से आदमियों, स्त्रियों और बच्चों को कैद करके लाया

करते थे। इनमें से कुछ को राज्य के कार्यों के लिए रख कर शेष खास खास बाजारों में भेड़ बकरियों की तरह वेचे जाते थे। जो गुलाम शिक्षित होते थे, जैसे कि यूनान से आये हुए गुलाम थे, वे अपने मालिक या उसके बच्चों को पढ़ाते थे। अनपढ़ गुलाम अपने खरीद-दारों के घरों में नहलाने-धुलाने या खेती आदि का काम करते थे। कानून की दृष्टि से मालिक को अपने गुलामों पर पूरा अधिकार था, वह चाहे उन्हें मारे पीटे, अपने घर के भीतर कैद करके रखे, या उनकी जान तक लेले, उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं हो सकती थी। गुलामों को कोड़े मारना मामूली बात थी। वे कहीं भाग न जायँ, इस लिए उन पर गरम लोहे के निशान दागे जाते थे। अपने मालिकों के मनोरञ्जन के लिए गुलाम एक दूसरे से घातक अस्त्रों द्वारा या जंगली जानवरों से निहत्थे लड़ते और अपने प्राण देते थे। कोई-कोई गुलाम बहुत भाग्यवान भी होता था। जब कभी कोई दयालु स्वभाव का आदमी किसी गुलाम को खरीदता तो वह उससे स्वतन्त्र साथी की तरह प्रेम का व्यवहार करता था। कितने ही धनवान और रईस लोग, निस्सन्तान होने की दशा में, अपने गुलाम को अपनी सन्तान की तरह मानते थे, उसकी शिक्षा और स्वास्थ्य आदि की पूरी व्यवस्था करते थे, उसे अपने घर और जायदाद सम्बन्धी जिम्मेवरी के सब काम सौंप देते थे; यहाँ तक कि वे उसे अपना उत्तराधिकारी बना देते। मालिक के मरने पर गुलाम ही उसकी जगह लेता।* विद्वान और कला-प्रेमी आदमी अपने गुलामों की शिक्षा आदि का आदर करते थे, और उन से ऐसे ही काम लेते थे, जिनसे उनके गुणों का उपयोग और विकास हो।

इस तरह के सौभाग्यशाली गुलाम थोड़े ही होते थे। अधिकतर गुलामों को खरीदनेवाले तो लोभी लालची होते थे। ऐसे मालिकों की नजर अपनी आमदनी और नफे पर रहती थी। ये

---

* भारतीय इतिहास पढ़नेवाले, यहाँ गुलाम खानदान के आदमियों के बादशाह होने की बात, अच्छी तरह जानते ही हैं।

गुलामों से अधिक-से-अधिक काम लेते थे, और अधिक काम कराने के लिए उन पर तरह-तरह की सख्ती और अत्याचार करते थे। वे उन्हें खाने-पीने का सामान देते थे तो इसलिए कि वे जिन्दा रह कर उनका काम करते रहें। अगर कोई गुलाम मर जाता तो मालिक को उसका कुछ रंज या अफसोस न होता; हाँ, वह यह ज़रूर सोचता कि अब मेरे पास काम करनेवालों में एक की कमी हो गयी, या मेरे काम में कुछ हर्ज होगा। गुलाम जितने सस्ते मिल सकते, उतना ही उनकी फिक्र कम की जाती; मालिक सोचते कि एक मर जायगा तो हम दूसरा खरीद लावेंगे, जो शायद इससे भी अधिक काम करे, और इस तरह अधिक आमदनी का साधन हो।

गुलामी के बारे में जुदा-जुदा देशों की ब्योरेवार बातें देने का यहाँ अवसर नहीं। कुछ मुख्य-मुख्य बातों से ही संतोष करना होगा। योरप के अन्दर बहुत मुद्दत तक रोम का शाही नगर गुलामों की मंडी रहा। दूर-दूर से लाये हुए गुलामों का यहाँ भाग्य-निर्णय होता; कितने ही भोले-भाले बच्चे अपने माता पिता से जुदा होते, स्त्री पति से और पति स्त्री से अलग होता। यह कहा जाता है कि रोम सभ्यता का केन्द्र था। वह सभ्यता कैसी थी, यह तो अलग ही आलोचना का विषय है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि रोम के बाजारों में गुलामों की खरीद-बेच खूब डट कर हुई। यहाँ दूर-दूर के व्यापारी नित्य आते थे, कुछ आदमी गुलामों को रुपये में बदलते थे, और कुछ आदमी गुलामों के रूप में अपनी जायदाद बढ़ाते थे।

सैकड़ों वर्ष तक यह शर्मनाक सौदा योरप में होता रहा। पंद्रहवीं सदी से योरप में धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी जागृति के कारण लोगों के विचारों में कुछ नवीनता आने लगी थी, परन्तु समाज के पुराने संस्कार एक दम नहीं छूट पाते, खासकर जब कि उनका सम्बन्ध समाज के प्रभावशाली आदमियों के स्थायी स्वार्थ से हो। जो हो, गुलामी के विरुद्ध काफी लोकमत संगठित होने में बहुत समय लगा। मिसाल के तौर पर इंगलैंड में कितने ही सज्जनों की

लगातार कोशिश होने पर भी दासोद्धार या गुलामी हटाने का कानून ('इमेंसिपेशन एक्ट') सन् १८३३ में जाकर पास हो सका। इस समय से गुलामों को रखना नियम-विरुद्ध ठहराया गया। जिन लोगों के पास गुलाम थे, उनको दो करोड़ पौंड हर्जाने के तौर पर देना मंजूर किया गया।

अब अमरीका की बात लें। सतरहवीं सदी से योरप वालों की अमरीका में बस्तियाँ बनने लगीं और वहाँ खेती और खानों का काम चमक उठा। धीरे-धीरे वहाँ गुलामों की आयात भी खूब बढ़ चली। जहाज-के-जहाज हबशी गुलामों से भरे हुए वहाँ जाते थे, और गुलामों से ज़्यादह-से-ज़्यादह सख्ती और बेरहमी से काम लिया जाता था। याद रहे कि (संयुक्त राज्य) अमरीका के उत्तरी हिस्से में उपनिवेश बनानेवाले अकसर व्यापारी और किसान थे; और दक्षिण में बसनेवाले बड़े-बड़े ज़मींदार थे, जो गुलामों से खेती कराते थे। इस तरह गुलामी दक्षिण के उपनिवेशों में प्रचलित थी। सन् १७८३ में अमरीका के सब उपनिवेशों ने इंगलैंड से अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई में विजय पा ली थी, तो भी दक्षिण के उपनिवेश अपने यहाँ से गुलामी दूर करने के लिए तैयार न थे। और क्योंकि उत्तरी उपनिवेश गुलामों की आजादी के पक्ष में थे; इन दोनों पक्षों में विरोध बना रहा, और बढ़ता गया। दक्षिण वाले अपनी अलग सरकार बनाने की सोचने लगे। यहाँ तक कि सन् १८६१ ई० में गृह-युद्ध ('सिविल वार') छिड़ गया। इस समय संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति एब्राहम लिंकन था। उसने बड़े धैर्य और गम्भीरता से सब कठिनाइयों का सामना किया। उसकी सन् १८६२ की घोषणा से अमरीका से गुलामी का मुँह काला हुआ। चालीस लाख गुलामों को आजादी का जीवन मिला। युद्ध १८६५ ई० तक चला, अन्त में उत्तरी उपनिवेशों की विजय हुई; दक्षिण वालों की अलग सरकार न बनकर सब का एक संयुक्त राज्य रहा। गुलामों को आज़ाद करने-वाला, और संयुक्त राज्य की एकता बनाये रखनेवाला वीर लिंकन

दुबारा राष्ट्रपति चुना गया। पर दुष्टों ने अपनी दुष्टता से ही उसका सत्कार किया; एक रात को थियेटर में उसे गोली का शिकार बनाया गया। संसार का दुर्भाग्य है—अकसर प्रगति करनेवालों के साथ प्रगति-विरोधियों की ओर से ऐसा ही व्यवहार किया जाता है। लेकिन इस से प्रगति का कार्य रुकता नहीं। हर देश में समय-समय पर लिंकनों की ज़रूरत रहती है; वे आते हैं, और समाज और राज्य के दोषों को दूर करके उनकी गाड़ी आगे बढ़ाते हैं।

गुलामी हटाने का कारण आर्थिक भी रहा है। गुलाम लोग खेती की पैदावार बढ़ाने में विशेष दिलचस्पी नहीं लेते थे। पैदावार कम हो या ज़्यादह, इसमें उनकी कोई हानि या लाभ नहीं था। उनके द्वारा होने वाली पैदावार को बढ़ाने के लिए यह ज़रूरी था कि उसमें उनका भी स्वार्थ रहे। धीरे-धीरे कुछ लोगों के मन में यह विचार आया कि गुलाम ज़मीन पर जो पैदावार करें, उसमें से कुछ हिस्सा खुद उन्हें अपने लिए मिल जाय; शेष पर मालिक का अधिकार रहे। पहले गुलामों के पास अपनी किसी तरह की सम्पत्ति नहीं होती थी। नयी व्यवस्था से उनके पास कुछ धन-धान्य हो सकता था, इसे वे अपने खाने-पीने के काम में लाते, और अगर कुछ बच जाय तो उसे वे पीछे के लिए जोड़कर रख सकते थे। वे जितना अधिक पैदा करते, उतना ही उन्हें भी अधिक मिलता। इस तरह जमीन की पैदावार बढ़ाना उनके लिए भी लाभकारी होता और मालिकों के लिए भी। धीरे-धीरे कुछ गुलामों के पास अपनी सम्पत्ति इतनी होने लगी, कि खाने-खर्चने के लिए वे मालिक के मोहताज न रहे; उनकी स्वतंत्रता बढ़ती गयी। इससे गुलामी दूर होने में मदद मिली।

यहाँ एक बात का जिक्र कर देना ज़रूरी है। यह ठीक है कि जिन जगहों में गुलामी रही, वहाँ कभी-कभी एक आदमी के पास सैकड़ों गुलाम रहे। तो भी बहुत से आदमी ऐसे रहे, जो न गुलाम थे, और न गुलामों के मालिक ही। वे अपना साधारण जीवन बिताते थे। गुलामी बन्द होने का इन पर कुछ प्रभाव न पड़ा; हाँ, जिन लोगों में पहले

गुलाम और मालिक का सम्बन्ध था, अब उनमें वह सम्बन्ध न रहा।

अस्तु; आखिर गुलामी हट गयी। पर क्या मनुष्य जाति पर उसकी छाया किसी-न-किसी रूप में अब भी पड़ी हुई नहीं है? कहीं प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा है, कहीं बेगार है, कहीं किसानों पर जमींदारों की ज्यादतियाँ हैं, और कहीं मज़दूरों का पूँजीपतियों द्वारा शोषण है। ज़मींदार और पूँजीपति तो अनेक स्थानों में समाज-व्यवस्था के स्थायी अंग ही हो गये। इनके बारे में विस्तार से आगे कहा जायगा। मालूम होता है कि गुलामी अभी मरी नहीं, उसने इस ज़माने में नया चोला पहन रखा है। जो हो, मनुष्य जाति को अभी बहुत प्रगति करनी है।

सैंतीसवाँ अध्याय

जागीरदारी और ज़मींदारी

[१]

पिछले अध्याय में गुलामी के बारे में लिखा गया है। पुराने ज़माने में, जहाँ गुलामी का ज़ोर रहा, वहाँ समाज में आर्थिक दृष्टि से दो वर्ग मुख्य रहे—मालिक और गुलाम। जहाँ गुलामी नहीं थी, या उठ गयी थी, वहाँ दूसरे दो वर्गों की प्रधानता रही। एक ओर कुछ सामन्त या जागीरदार और जमींदार थे, जो जमीन के मालिक या अधिकारी समझे जाते थे; दूसरी ओर ज़मीन पर काम करनेवाले, अपनी मेहनत से खेती करनेवाले बहुत से खेत-मज़दूर या किसान लोग थे; जो एक तरह से गुलामों के नये, सुधरे हुए स्वरूप थे। समाज में इनके अलावा दूसरे भी बहुत से आदमी थे, पर खास वर्ग ये ही थे।

जागीरदारों या सामन्तों और ज़मींदारों का वर्ग कैसे पैदा हुआ? पहले जागीरदारों या सामन्तों की बात लीजिए। कुछ जागीरें तो

आदमियों ने अपने बल से, जबरदस्ती कायम कर लीं। कोई ज्यादह बलवान, हिम्मतवाला और लड़ाकू तबियत का आदमी हुआ; उसने कुछ कमजोर लोगों पर धौंस जमायी या उन्हें हराया, धमकाया, डराया। इस तरह उसने वहाँ उन लोगों पर अपना प्रभाव और अधिकार जमा लिया। लोगों ने उसकी प्रभुता स्वीकार करली। वह जागीरदार बन बैठा। यह बात उन्हीं जगहों में हुई, जहाँ राजा या बादशाह कमजोर थे, उनका प्रभाव या नियंत्रण काफी नहीं था। कुछ जागीरें राजाओं ने खास-खास आदमियों को उनकी सैनिक सेवा से प्रसन्न होकर या उनसे भविष्य में सैनिक सेवा प्राप्त करने के लिए दे दीं। कुछ छोटे-छोटे राज्यों के शासकों ने, अशान्ति के समय अपनी रक्षा के लिए बड़े राजा का आश्रय लिया, और वे उसके जागीरदार की तरह रहने लगे। कुछ जागीरें राजाओं ने अपने छोटे भाइयों या रिश्तेदारों को दी। कभी-कभी जागीरें ऐसे बलवान या प्रभावशाली आदमियों को संतुष्ट करने के लिए भी दी गयीं, जिनसे राजा को विरोध की आशंका थी। कुछ जागीरें हाँ-हजूरों कवियों, पुरोहितों और पुजारियों आदि को भी दी गयीं, पर ये छोटी और महत्वहीन थीं।

बड़े सामन्तों के नीचे छोटे सामन्त, और छोटे सामन्तों के अधीन उनसे छोटे सामन्त रहते थे। सब अपने-अपने क्षेत्र में प्रायः स्वतन्त्र होते थे। उन्हें अपने ऊपर के स्वामी की आज्ञा का पालन करना होता था। जहाँ सामन्तवाद या जागीरदारी प्रथा का जोर था, वहाँ राजा का अधिकांश सेना से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता था। ज़रूरत होने पर राजा अपने सामन्तों को आज्ञा देता था कि अमुक दिन अमुक स्थान पर इतनी सेना तैयार मिलनी चाहिए। इस पर बड़े सामन्त अपने अधीन सामन्तों को इसी प्रकार की आज्ञा देते थे। इस तरह छोटे-से-छोटे सामन्त तक यह आज्ञा पहुँच जाती थी। यह जाहिर ही है कि छोटे-बड़े अनेक सामन्तों द्वारा तैयार की हुई सेना में वह व्यवस्था, या लड़ने का उत्साह नहीं होता था, जो इकट्ठी एक ही ढंग से, एक ही अनुशासन में रहनेवाली स्थायी सेना में होता है। इसलिए बहुधा

शासक सिर्फ सामन्तों की सेना पर निर्भर न रह कर कुछ अपनी, वेतन पानेवाली स्थायी सेना भी रखते थे।

राजा को अपने सामन्तों से, और बड़े सामन्तों को अधीन सामन्तों से, सेना की सहायता के अलावा, खासकर त्योहार या विवाह शादी के अवसर कुछ भेंट या उपहार भी मिलता था। अगर कोई सामन्त बिना उत्तराधिकारी छोड़े मर जाता तो उसकी सब सम्पत्ति, उसके ऊपर के सामन्त या राजा की हो जाती थी। एक सामन्त के मरने पर उसका उत्तराधिकारी बननेवाले के लिए यह जरूरी होता था कि वह राजा को कुछ धन दे।

सामन्त या जागीरदार अपनी आसामियों से जमीन का लगान तो लेते ही थे; इसके अलावा वे पशुओं, खेत या जंगल की पैदावार आदि पर और भी कई तरह के टैक्स लेते थे। वे अपने क्षेत्र के न्यायाधीश भी होते थे, और उन्हें अपने आसामियों पर जुर्माना करने का अधिकार होता था। उनका यह अधिकार अकसर उनके लिए एक बड़ी आमदनी का साधन होता था।

सामन्त प्रथा या जागीरदारी की व्यवस्था से राजाओं को आरम्भ बहुत समय तक बड़ा लाभ हुआ। जागीरदारों ने युद्ध के अवसर पर न केवल अपने राजा के लिए सेना जुटाई, बल्कि खुद अपनी जान संकट डाल कर भी राजा का साथ दिया। उन्होंने जनता का भी भरसक हित साधन किया; लोगों की उन्नति, शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन जुटाये, और उनकी भलाई का ऐसा ध्यान रखा, जैसा पिता अपनी संतान की भलाई का ध्यान रखता है। लेकिन धीरे-धीरे उनकी भावना बदल गयी; उनमें आलस्य, विलासिता और लोभ बढ़ा। उन्होंने राजा की सहायता के लिए समुचित सेना तैयार न रखी, केवल दिखावे के लिए ही कुछ सैनिक रख छोड़े। इसके अलावा उन्होंने लोकहित की ओर ध्यान देना कम कर दिया, यहाँ तक कि अन्त में वे इसकी पूरी उपेक्षा करने लगे। वे अपने पद का उपयोग सिर्फ इस काम में करने लगे कि अपनी जागीर के लोगों से अधिक-से-अधिक

धन वसूल करें, और इसके लिए जायज नाजायज सभी तरीकों को काम में लावें। बहुत से स्थानों में उनका व्यवहार बहुत ही क्रूर और रोमांचकारी हुआ। लोगों ने सामूहिक रूप से उनका विरोध किया, अथवा उनके विरुद्ध राजा से शिकायत की; वे अब अपने अधिकारों को पाने के लिए कटिबद्ध हो चले।

सामन्त प्रथा से राजा की मालगुजारी की आय घटती ही है। पीछे उसके लिए जागीरदारों की फौजों की उपयोगिता भी कम रह गयी। इसका एक कारण बारूद का आविष्कार भी हुआ। बारूद के उपयोग ने युद्ध की प्रणाली बदल दी। बन्दूकों के सामने तलवार और भाले वाले सिपाही बेकाम हो गये। तोप के गोलों के सामने किले सुरक्षित न रहे। इस तरह सामन्तों का बल कम होगया, वे राजाओं के लिए पहले जैसे उपयोगी न रहे। जनता को भी जागीरदारों का विरोधी पाकर राजाओं ने बहुत से स्थानों में जागीरदारी प्रथा हटाने की कोशिश की।

इस काम में कल कारखानों की स्थापना से भी सहायता मिली। जब लोगों को जागीरदार की अधीनता में रहना असह्य मालूम हुआ तो वे उसकी जागीर से बाहर जाकर कल कारखानेवाले नगरों में रहने लगे, जहाँ मजदूरों की आवश्यकता थी ही। इस तरह जागीरों की आबादी और जागीरदारों का प्रभुत्व घटता गया।

[२]

जमींदारी प्रथा जागीरदारी से मिलती हुई ही है। हाँ, राजा का जागीरदार से जो सम्बन्ध होता है, वह अधिकतर राज्य की रक्षा की दृष्टि से होता है, उसे जागीरदारों से सेना की सहायता मिलती है। जमींदारी में यह बात नहीं होती; जमींदार का राजा से सम्बन्ध अधिकतर आर्थिक होता है। जमींदार का काम जनता से मालगुजारी वसूल करने का होता है।

देशकाल के अनुसार जमींदारी के अनेक रूप रहे हैं। यहाँ उदाहरण के तौर पर भारतवर्ष की बात कही जाती है, इससे इस प्रथा के

सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातों का ज्ञान हो जायगा। यहाँ बहुत मुद्दत तक रहनेवाले हिन्दू शासन में ज़मींदार नाम के पद वाले आदमी की चर्चा किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती; वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण या काव्य किसी भी प्राचीन रचना से यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय किसानों से कर वसूल करके उसमें से कुछ भाग सरकार को देकर शेष सब आय अपने पास रखनेवाला और अपने आपको ज़मीन का मालिक समझने वाला 'ज़मींदार' रहा हो। प्राचीन काल में यहाँ जिस जमीन को जो आदमी जङ्गल काट कर साफ करता और जोतता-बोता, वह जमीन उसी की मानी जाती थी। राजा को केवल इतना अधिकार होता था कि जनता की रक्षा आदि का खर्च चलाने के लिए दूसरे करों की तरह जमीन की आमदनी वालों से भी कुछ कर ले। पहले हिन्दू राजा जमीन की पैदावार का दसवें हिस्से से लेकर छठे हिस्से तक कर लेते थे।

मुसलमानों के शासन में भी सरकार का जमीन पर स्वामित्व न था, जमीन की मालिक जनता ही समझा जाती थी। इस समय 'ज़मींदार' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ, पर इस शब्द का अर्थ तब यह नहीं था, जो आजकल व्यवहार में समझा जाता है। उस समय जमींदार बादशाह से वेतन पानेवाला कर्मचारी या नौकर था, वह जनता से मालगुजारी वसूल करके सरकार को देता, और बादशाह की ज़रूरत के लिए कुछ सैनिक भी रखता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में ज़मींदार का रूप बदला, सन् १७६५ में कम्पनी को बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी और इन प्रान्तों की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार मिला। अब इन प्रान्तों के हरेक जिले में जो आदमी नीलाम में मालगुजारी की सब से अधिक बोली बोलता, उसे किसानों से एक साल लगान वसूल करने का अधिकार मिलने लगा। अगले साल फिर नये सिरे से नीलाम होता था। इस तरह किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार कुछ पैसे वालों के हाथ चला गया, जो 'जमींदार' कहे जाने लगे।

कुछ-कुछ इसी तरह से अन्य देशों में जमींदारी प्रथा का चलन आरम्भ हुआ। अकसर जमींदार धीरे-धीरे यह समझने लगे कि किसानों से अधिक-से-अधिक, जितना कानून के अन्दर रहते सम्भव हो, वसूल किया जाय। वे आरामतलबी, और कुछ दशाओं में विलासिता का जीवन बिताने लगे। कितने ही जमींदार तो गाँव को छोड़ कर नगरों में आ बसे, जहाँ आमोद-प्रमोद के साधनों की बहुतायत होती है। वे शौकीनी का कीमती सामान खरीदने और तरह-तरह से पैसा बरबाद करने लगे। इसका भार पड़ा बेचारे गरीब किसानों या 'आसामियों' पर।

जमींदारी प्रथा में अनाज आदि पैदा करने की सब मेहनत किसान करता है, पर पैदावार की कीमत का खासा बड़ा हिस्सा 'लगान' के नाम पर, जमींदार ले लेता है। ज़मींदार अपनी आधी के करीब आमदनी सरकारी ख़ज़ाने में जमा कर देता है। इस तरह जमींदार राज्य का बड़ा सहारा माना जाता है, और उस पर सरकार की बहुत मेहरबानी की निगाह रहती है। परन्तु बेचारे किसान की कुछ कद्र नहीं। लगान की रकम चुका देने के बाद उसके पास इतना अनाज या रुपया बाकी नहीं बचता कि वह अगली फसल आने तक अपनी रोजमर्रा की मामूली जरूरतें भी पूरी कर सके। थोड़े ही दिन में उसे अपना गुजारा करने के लिए रुपये की जरूरत होती है। वह महाजन की शरण में जाता है, और जिस सूद पर भी उसे कर्ज मिल सकता है, लेने को मजबूर होता है। सूद का भार बढ़ जाने से किसान का गुजारा होना और भी मुश्किल हो जाता है। धीरे-धीरे उस पर कर्ज इतना बढ़ जाता है कि वह उसे उतार नहीं सकता, और आखिर वह जमीन से बेदखल हो जाता है। उसके पास मेहनत मजदूरी करने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। इससे भी जब उसका काम नहीं चलता तो लाचार कल-कारखानों की ओर दौड़ना उसके लिए स्वाभाविक है। कल-कारखानों के बारे में आगे लिखा जायगा।

जागीरदारी और जमींदारी प्रथा में दो जुदा-जुदा वर्ग साफ

दिखाई देते हैं—शोषण करनेवाले बड़े-बड़े जागीरदार या जमींदार; और, शोषित होनेवाले किसान और भू-दास या ज़मीन पर काम करनेवाले मज़दूर। जब कि जागीरदार आदि लोकहित के कामों में रुपया खर्च नहीं करते तो इन कामों का सब उत्तरदायित्व सरकार पर रहता है; उसे इनके लिए जनता पर टेक्स बढ़ाने पड़ते हैं। इस तरह की बातों का अनुभव करके जगह-जगह इस प्रथा का विरोध होता जाता है। लोकमत इस प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में बढ़ता जाता है। बहुत सी जगहों से यह प्रथा उठ गयी है, बाकी जगहों में भी इसके उठने के लक्षण साफ दिखायी दे रहे हैं। यह ठीक है कि यह किसी जमाने में बहुत उपयोगी रही है, पर अब तो इसकी व्यर्थता या निकम्मापन सिद्ध हो रहा है; और, समय के प्रवाह के विरुद्ध कोई चीज बहुत समय तक नहीं बनी रह सकती।

अड़तीसवाँ अध्याय

पूंजीवाद



करोड़ों मजदूरों का शोषण, मध्यम वर्ग के प्रति दिन मज़दूर वर्ग में होनेवाली परिणति, बाजारों के लिए बड़े-बड़े विश्वयुद्ध तथा समय-समय पर निश्चित रूप में आने वाले सङ्कट आदि कारणों से पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का नाश होना ज़रूरी है।

—*हरिश्चन्द्र हेडा*

पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि जागीरदारी और जमींदारी अपने शुरू के समय में उपयोगी थीं, पर पीछे ये समाज के लिए अनावश्यक और हानिकारक साबित हुईं। खासकर कल कारखानों के बढ़ने से भी उन प्रथाओं के बन्द या कम होने में अच्छी सहायता मिली। यहाँ हमें यह देखना है कि कल-कारखानों के बढ़ने

का, और उनकी 'पूंदीवादी' कही जानेवाली व्यवस्था का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा। पहले हम यह जानलें कि यह व्यवस्था क्यों, किस तरह शुरू हुई और बढ़ी।

थोड़े से शब्दों में 'पूँजीवाद' का अर्थ है—अपने मुनाफे के लिए माल तैयार करने की वह उन्नत व्यवस्था जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार किसी एक या इने-गिने विशेष व्यक्तियों का हो, राज्य का या आम लोगों का नहीं।' पूँजीपति की अपनी ज़मीन होती है या वह ज़मीन खरीद लेता है, मशीनों, कल-कारखानों अर्थात् पूँजी पर उसका अधिकार होता ही है, जितने मज़दूरों की ज़रूरत हो, उनको नौकर रखकर वह श्रम पर भी अधिकार पा जाता है। श्रम में मानसिक श्रम का भी समावेश माना जाता है। इस तरह उत्पत्ति के तीनों साधनों—भूमि, पूँजी और श्रम—पर उसका स्वामित्व होता है।

अठारहवीं सदी से पहले भी राजा और जमीदार कभी-कभी मजदूरों से कुछ काम अपने निजी लाभ के लिए ऐसा कराया करते थे, जिसकी वे उन्हें मजदूरी बहुत कम देते थे,या बिलकुल नहीं देते थे। उस दशा में यह बात उनकी सत्ता के बल पर होती थी, पूँजी के बल पर नहीं। इसी तरह उस जमाने में समाज में एक वर्ग ऐसा हो, गया, जो उत्पत्ति या पैदावार न करके सिर्फ विनिमय का कार्य करता था। यह वर्ग व्यापारी वर्ग कहा जाता था। व्यापारी एक उत्पादक से कोई चीज़ मोल लेता और दूसरे उत्पादक आदि के हाथ बेचता, मिसाल के तौर पर किसान से रुई लेकर उसे कातने वाले को देता, उससे सूत लेकर जुलाहे के हाथ बेचता, और जुलाहे से कपड़ा खरीदकर दर्जी को देता। दो उत्पादकों के बीच में रहकर व्यापारी दोनों से नफा कमाता। इसके अलावा महाजन सूद पर रुपया उधार देता था। वह भी वास्तव में पैदावार का काम न करके धन कमाता था। लेकिन इन लोगों को पूँजीवादी नहीं कहा जाता था, और कहना ठीक भी न था। कारण, इन्होंने उत्पत्ति के साधनों को अपने अधिकार मे नहीं कर रखा

कुछ बड़े-बड़े व्यवसायी आपस में मिल कर एक गुट्ट बना लेते हैं, फिर जान बूझ कर चीजें कम पैदा करके उनका दाम और अपने नफे की दर ऊंची बनाये रखने में कामयाब हो जाते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सा माल नष्ट कर देते हैं, जिससे उसकी कीमत न गिरने पावे। उनकी नजर अपने मुनाफे पर रहती है; समाज की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, या नहीं—यह उनके लिए गौण बात है। वे यह फिक्र नहीं करते कि लोगों को चीजें सस्ती और अच्छी दी जायँ; इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि वे लोकहित की चिन्ता उसी हद तक करते हैं, जहाँ तक उसका सम्बन्ध उनके मुनाफे से होता है।

पूंजीपति अच्छी तरह जानते हैं कि कल-कारखानों में जो माल तैयार होता है, उसके लिए मज़दूरों को सख्त मेहनत करनी पड़ती है, और वे मज़दूरों को जो वेतन देते हैं, उससे मज़दूर के परिवार की गुज़र होनी बहुत कठिन होती है, तो भी वे उनकी दशा सुधारने की कोई खास फिक्र नहीं करते। पूंजीपति मज़दूरी की मद में कम-से-कम खर्च करना चाहता है। जब उसे मालूम होता है कि किसी ऐसी नयी मशीन से काम लिया जा सकता है, जिसमें कम मज़दूरों की ज़रूरत होगी और इस तरह खर्च में किफायत रहेगी तो वह झट उस मशीन से काम लेने लगता है, और फालतू मज़दूरों को निकाल बाहर करता है, जिससे उसे मुनाफा या बचत अधिक हो। इस तरह पूंजीवाद में जहाँ एक ओर मुट्ठी भर पूंजीपतियों के पास ज़्यादह-ज़्यादह धन जमा होता रहता है, दूसरी तरफ गरीबों और बेकारों की संख्या बढ़ती जाती है।*

बेकारों की संख्या बढ़ने का एक कारण यह भी होता है कि कारखानों का बना माल सुन्दर और सस्ता होने के कारण दस्तकारों और कारीगरों के काम की मांग कम हो जाती है। उनके सामने

* "पूंजीवाद का 'पूंजीवाद' नाम गलत रखा गया है। वह हम को भ्रम में डाल देता है। उसका योग्य नाम तो 'दरिद्रवाद' है। उससे भयंकर दरिद्रता का जन्म होता है।"—समाजवाद : पूंजीवाद

अपने निर्वाह का उपाय यही रह जाता है कि कहीं मेहनत मज़दूरी करें। कारखानों से जितने कारीगरों का काम छिन जाता है, उन सब को नया काम नहीं मिल सकता। जितने काम को हाथ से दस हजार आदमी करते हैं, उतने काम को मशीन से एक हजार आदमी ही कर डालते हैं, फिर ज्यों-ज्यों मशीन में सुधार हुआ, या जब किसी नयी बढ़िया मशीन का आविष्कार हो गया तो उतने काम के लिए, और भी कम आदमियों की ज़रूरत रह गयी। बाकी सब आदमी बेकार हो गये। यह ठीक है कि कुछ नयी चीजें बनाने के लिए, या नये बाजारों की तलाश करके तैयार माल का परिमाण बढ़ाने के लिए समय-समय पर नये कल-कारखाने खुलने से कुछ बेकारों को काम मिल सकता है। पर थोड़े बहुत समय बाद यह रास्ता भी बन्द हो जाता है। निदान, मजदूरों की बेकारी बनी रहती है और बढ़ती रहती है।

जनता की बेकारी और गरीबी खुद पूंजीवाद के लिए भी अच्छी साबित नहीं होती। पूंजीपतियों की शोषण-नीति के कारण मजदूर, जिनका आबादी में खासा बड़ा हिस्सा होता है, बहुत गरीब होते हैं, उनकी माल खरीदने की ताकत कम होती है, वे कल-कारखानों का माल, हाथ से बने सामान से सस्ता होने पर भी,काफी नहीं खरीद पाते; इससे माल बाजार में या गोदामों में पड़ा सड़ने लगता है और उसके खराब होने की नौबत आती है। आगे माल बनाना कम करना पड़ता है; कल-कारखानों में लगी हुई पूंजी से मुनाफा मिलने की बात तो दूर, उसका सूद निकलना भी मुश्किल होने लगता है।

जब पूंजीपतियों को यह मालूम होता है कि कल-कारखाने चलाना और माल पैदा करना नफे का काम नहीं है तो वे पूंजी को बैंकों में लगाकर लाभ उठाने लगते हैं; पीछे जब यह काम भी लाभकारी नहीं रहता तो वे अपने देश से बाहर, विदेशी बाजारों की ओर नज़र दौड़ाते हैं। वे चाहते हैं कि तैयार माल की बिक्री के लिए चारों ओर खुला क्षेत्र रहे, मुक्त-द्वार व्यापार हो, कोई बाधा न हो। अधिक-से-अधिक बाजार पर आधिपत्य जमाना उसकी सफलता के लिए अनिवार्य होता

है; प्रलोभन देकर तथा लड़-झगड़ कर बाजार का क्षेत्र बढ़ाया जाता है। वे ऐसे देशों के बाजारों पर अधिकार जमाने की जी-तोड़ कोशिश करते हैं, जो उनका तैयार माल खरीदें और उन्हें कच्चा माल देते रहें। उन्हें अपनी सरकार का सहारा मिलता है, और सरकार पर उनका प्रभाव भी बहुत अधिक होता है; यहाँ तक कि वे दूसरे देशों से युद्ध करा सकते हैं। पूंजीवादी राष्ट्र दूसरे देशों को अपने अधीन रखने की कोशिश करता है, जो उसके माल के ग्राहक हों, और जहाँ उसे अपने कारखानों के लिए कच्चा सामान मिल सके।

तैयार माल की खपत तथा कच्चे माल की प्राप्ति उन्हीं देशों में होती है, जहाँ उद्योग धंधों का विकास न हुआ हो। मशीनों के द्वारा औद्योगिक उन्नति संसार भर में सबसे पहले इंगलैंड में हुई। अंगरेज़ अपने व्यापार के लिए, पिछड़े हुए देशों में पहूँचे, और वहाँ धीरे-धीरे अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। योरप के दूसरे राष्ट्रों ने भी अपने उपनिवेश बसाने, और साम्राज्य बढ़ाने की जी-तोड़ कोशिश की। इनकी आपस में खूब लड़ाइयाँ हुईं। आखिर, उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में संसार का अधिकांश भाग इनके अधीन हो गया। एक-एक राष्ट्र ने अपने से कई गुनी आबादी और क्षेत्रफल वाले देशों पर अपना अधिकार जमा लिया। इंगलैंड, फ्रांस, हालैंड, बेलजियम, इटली, जर्मनी आदि सभी साम्राज्यवादी बन गये।

पूंजीवादी राष्ट्रों की आपसी प्रतिद्वन्दिता की बात ऊपर कही गयी है। योरप के, बीसवीं सदी के दोनों महायुद्ध पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद के ही कारण हुए हैं। पूंजीवादी राष्ट्रों में निरंतर संघर्ष होता रहता है। युद्ध ठनता है, जो आजकल के वैज्ञानिक साधनों और आविष्कारों की सहायता से अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होता है, जिसमें जन धन का भयंकर विनाश होता है। यह है, पूँजीवाद का अन्तिम परिणाम! कितना घातक है यह! मनुष्य जाति कहाँ आ पहुँची!

कल-कारखानों के मालिकों और मज़दूरों का वर्ग-संघर्ष इस पूँजीवादी युग की एक खास समस्या है। कल कारखानों के द्वारा

आदमी की ज़रूरत की चीजें जल्दी, बहुत सुन्दर और थोड़े ही परिश्रम से बन सकती हैं। परन्तु फिर भी असंख्य आदमियों की जरूरतें पूरी नहीं हो रही हैं। वे गरीबी के कारण काफी सामान नहीं खरीद पाते। उधर, कल-कारखाने वाले चिल्ला रहे हैं कि हमारा माल गोदामों में पड़ा ख़राब हो रहा है, और हमें आगे के लिए माल बनाना बन्द करना पड़ रहा है—यहाँ तक कि तैयार माल का परिमाण बहुत अधिक होने के कारण हमें कई बार उसे नष्ट करना पड़ता है। ये दोनों बातें कैसी बेमेल हैं! बात यह है कि कल-कारखाने वाले पूँजीपति अपना व्यक्तिगत हित या स्वार्थ देखते हैं, समाज का व्यापक दृष्टि से विचार नहीं करते। पूँजीवादी अर्थ-नीति का यह कितना बड़ा दोष है। इसके निवारण का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

उनतीसवाँ अध्याय

सहकारिता

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मनुष्य जाति किस प्रकार पूंजीवादी अवस्था में पहुँची। अब पूंजीवाद ने लोगों में प्रतिस्पर्द्धा भयंकर रूप से बढ़ा रखी है। हरेक आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष बना हुआ है। एक बड़ा कारखाना दूसरे कारखाने को नष्ट करके उसके कारोबार पर अपना अधिकार जमा लेना चाहता है। एक बड़ा व्यापारी दूसरे व्यापारी को हराकर बाजार से हटा देने की फिक्र में है। यह साफ कहा जा रहा है कि जीवन एक संग्राम है; जो लोग संग्राम में विजयी होंगे, उन्हें ही जीवित रहने का अधिकार है। संसार में गरीब, कमजोर या हारे हुओं के लिए कोई ठौर नहीं।

एक गरीब किसान को अपनी खेती में कुछ सुधार करने के लिए ऋण लेने की ज़रूरत है। उसे साठ सत्तर फी सैकड़ा तक सूद देना पड़ता है, जब कि जमींदारों या सम्पन्न आदमियों को चार पांच फी

सदी सूद पर ही आसानी से रुपया उधार मिल सकता है। एक गरीब मजदूर थोड़ा सा आटा खरीदता है, तो उसे घटिया और महँगा मिलता है। इसके खिलाफ, धनवान आदमी इकट्ठा सामान खरीदता है तो उसे बढ़िया चीजें बहुत किफायत से मिलती हैं। एक कारीगर को आशा है कि महीना भर स्वतंत्र रूप से काम करने पर वह इतना कमा लेगा कि उसका खाने-पीने आदि का सब खर्च निकल जाय, और कुछ बच भी रहे। पर सवाल तो यह है कि महीना भर काम कैसे चले। उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कहीं कारखाने आदि में नौकरी करनी पड़ती है, जहाँ उसे मामूली मज़दूरी मिलती है, और उसकी योग्यता और कार्यकुशलता का अधिकांश लाभ कारखाने के मालिक को मिलता है, जो क्रमशः अधिकाधिक धनवान होता जाता है।

समाज के ये गरीब सदस्य क्या करें ? इनकी रक्षा किस तरह हो ? यह सवाल समाज-हितैषियों के सामने चिरकाल से रहा है। बात यह है कि गरीबी-अमीरी का भेद-भाव बहुत पुराने समय से है। हम पहले बता चुके हैं, इस भेदभाव की उत्पत्ति उसी समय से हो गयी, जब आदमी पशुपालन और खेती करने लगा; और पशु, जमीन, या अनाज आदि पर आदमियों का व्यक्तिगत या निजी अधिकार होने लगा; यानी इन चीजों का मालिक कोई व्यक्ति विशेष या समूह विशेष होने लगा। इस तरह गरीबों की रक्षा का सवाल पुराना है। गरीबी की समस्या हल करने के लिए सहयोग या संगठन की व्यवस्था बहुत समय से चली आ रही है। भारतवर्ष में अब से सवा दो हज़ार वर्ष पहले इसका उपयोग किया जाता था, यह तो आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही सिद्ध हो जाता है। कौटिल्य ने किसानों और व्यवसाइयों की श्रेणियों और संघों का उल्लेख किया है। उससे स्पष्ट है कि बढ़ई, लुहार, दर्जी, सुनार आदि संघ बना कर काम करते थे। भारतवर्ष के अलावा अन्य देशों में भी समय-समय पर आर्थिक आधार पर बने हुए संघों का खूब ज़ोर रहा है।

उन्नीसवीं सदी में, पूंजीवाद और उद्योगवाद बढ़ जाने पर, तथा

समाज में आर्थिक विषमता बहुत अधिक हो जाने पर तो लोगों का इस ओर और भी अधिक ध्यान जाना स्वाभाविक था। गरीबों की दशा सुधारने की धुन वाले सज्जनों ने खूब सोच समझ कर निश्चय किया और इस बात का जगह-जगह प्रचार किया कि पूंजीवाद के युग में संगठन ही गरीबों का बल है। पारस्परिक सहयोग का आसरा लेकर, और सहकारी समितियाँ बना कर ही निर्धन आदमी जीवन-संग्राम में ठहर सकते हैं।

आधुनिक काल में, किसानों और कारीगरों की आर्थिक पराधीनता हटाने का विशेष उद्योग सबसे पहले जर्मनी में हुआ। रेफीसन और शुल्ज़ दो सज्जनों ने लगभग एक ही समय में इस देश के दो भिन्न-भिन्न भागों में दो प्रकार की सहकारी समितियाँ कायम कीं। रैफीसन सहकारी साख समितियाँ उन स्थानों के लिए उपयुक्त हैं, जहाँ अधिक जनसंख्या न हो, आदमी एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित हों, अपनी बस्ती में स्थायी रूप से रहते हों, और बहुत गरीब हों। ये बातें ज्यादहतर गाँव वालों में मिलती है, इसलिए रेफीसन समितियाँ गाँव वालो के लिए अधिक उपयोगी हैं। इसके विरुद्ध, जहाँ आबादी अधिक हो, जिसके कारण आदमी एक-दूसरे को अच्छी तरह न जानते हों, जहाँ आदमी स्थायी रूप से न रहकर नौकरी की खोज में दूसरे स्थानों पर चले जाते हों, और वे बहुत गरीब न हों, वहाँ शुल्ज़ सहकारी साख समितियाँ अधिक अनुकूल होती हैं। ऊपर कही हुई बातें ज्यादहतर नगरों में पायी जाती हैं, इसलिए शुल्ज़ समितियाँ खासकर शहरों में कारीगरों आदि के लिए उपयोगी होती है। बात यह है कि रेफीसन समितियाँ अपरिमित दायित्व वाली होती हैं, यानी उन पर जितना ऋण-भार होता है, वह उनके किसी एक सदस्य से भी वसूल किया जा सकता है। इसलिए उनके सदस्यों का स्थायी रूप से एक स्थान का निवासी होना और एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित होना ज़रूरी है। इसके विरुद्ध,शुल्ज़ समितियाँ परिमित दायित्व वाली होती हैं, उनके किसी सदस्य से समिति के ऋण का उतना ही रुपया वसूल किया जा सकता

रुपया उधार देने की व्यवस्था करती हैं; साथ ही वे इनको फजूल-खर्ची से रोकती हैं।

इस प्रकार विविध सहकारी समितियाँ पूँजीवाद के युग में गरीब आदमियों को पूँजीपतियों या साहूकारों के अत्याचार से बचाने में महत्वपूर्ण भाग ले रही हैं। ये उनको संगठित करके उनमें शक्ति का संचार करती है। जबकि इस युग में निर्बलों या निर्धनों के लिए चारों ओर अंधकार और निराशा नज़र आती है, सहकारिता उनके वास्ते प्रकाश और आशा की किरण प्रदान कर रही है। यह प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता की जगह सेवा का भाव रखती है। लोगों की निजी सम्पत्ति बढ़ाने की जगह यह उनकी सार्वजनिक या सम्मिलित सम्पत्ति बढ़ाती है। यह मुनाफे की रकम मुट्ठी भर आदमियों को न देकर उसे उन सब लोगों में बाट देती है, जिन्होंने उसे असल में कमाया है। यह मज़दूरों का शोषण रोकती है, और उन्हें उचित मज़दूरी देने की व्यवस्था करती है। इस तरह यह समाज अर्थात् सर्वसाधारण जनता का हित साधन करती है।

सहकारिता का इतना महत्व और उपयोगिता होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि यह पूँजीपति और मजदूर, या जमींदार और किसान के भेद-भाव को दूर नहीं कर सकी; समाज में ऊँच-नीच की, अमीर-गरीब की भावना में इससे कोई व्यापक और विशेष अन्तर नहीं आया। एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण हो रहा है, और अधिकाँश जनता की दशा बहुत शोचनीय है। मौजूदा हालत में मूल समस्या सिर्फ आर्थिक ही नहीं है, यह राजनैतिक और सामाजिक भी है। हमें केवल आर्थिक दृष्टि से विचार न कर, पूरी समाज-व्यवस्था पर विचार करना है। यह काम अगले खण्ड में किया जायगा।

आठवाँ भाग

समाज व्यवस्था

प्रगति समाज के नियमों में आवश्यक है। जहाँ प्रगति नहीं, वहाँ जीवन नहीं। जीवन को हम प्रगति का प्रतीक मानें तो अत्युक्ति न होगी। समाज का जीवन यदि स्थिर होता तो उसमें गति न होती। और, उसमें जब गति न होती तो यह इतिहास का क्रम भी न बना पाता। अतः गतिशीलता ही वास्तव में जीवन है।

—श्याम परमार

चालीसवाँ अध्याय
वर्णाश्रम व्यवस्था



समाज में रहनेवाले आदमियों में, आपस में ईर्षा-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा, संघर्ष और असंतोष न हो, इसके लिए कुछ नियम कायदे बनाने और समाज-व्यवस्था तय करने की ज़रूरत हुई। जिस देश में सामाजिक जीवन का विकास पहले हुआ, वहाँ ही ऐसी व्यवस्था भी पहले बनी। जहाँ तक इतिहास से पता चला है, यह काम सब से पहले भारतवर्ष में हुआ। भारतवर्ष की समाज-व्यवस्था के मुख्य दो अंग हैं—वर्णव्यवस्था और आश्रम-पद्धति।

समाज में आम तौर से चार तरह के कामों की ज़रूरत होती है। पहले कहा गया है कि शुरू में कबीलों या खानदानों में ज़मीन, खाने-पीने के सामान, या स्त्री के लिए बहुत झगड़ा रहता था। धीरे-धीरे कुछ आदमी खास तौर से लड़ने के लिए ही तैयारी करने लगे; ये सिपाही या क्षत्रिय कहे जाने लगे। जब कबीले के कुछ आदमी लड़ने के ही काम में लगे रहते थे तो दूसरे आदमियों के लिए एक जरूरी काम यह हो गया कि उनके लिए, खुद अपने लिए और बाकी और सब के लिए खाने और कपड़े आदि का इन्तजाम करें, खेती करें, और पशुओं का पालन करें। ये लोग वैश्य या व्यापारी आदि कहलाने लगे। कुछ आदमी ऐसे भी होने चाहिएँ कि बालकों को शिक्षा दें, पुरानी कथा कहानी सुनावें, और तरह-तरह का ज्ञान करावें। इसके लिए यह ज़रूरी हुआ कि ये खुद भी ज्ञानवान बुद्धिमान हों। इस तरह इनका काम पढ़ना पढ़ाना हुआ। कबीले या जाति में कौनसे रिवाज प्रचलित हैं, किस देवी देवता को माना जाता है, और उस देवी देवता को किस तरह खुश रखा जा सकता है—इन

बातों का ज्ञान इन्हीं लोगों को होता था। ये लोग ब्राह्मण, पुजारी पुरोहित आदि कहलाये। इन सब के अलावा बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो ऊपर बताये हुए काम नहीं कर सकते, वे बहुत होशयार नहीं होते, कुछ मेहनत मजदूरी का मामूली काम करने योग्य ही होते हैं। ये शूद्र या सेवक कहलाये। इनमें बहुत से आदमी ऐसे भी हो सकते हैं, जो लड़ाई में हारे हों, या दास या गुलाम बनाये गये हों। इनको समाज में सबसे नीचे दर्जे का माना गया।

ऊपर जो चार तरह के काम करनेवाले समूह बताये गये हैं,ये थोड़े-बहुत भेद से सभी जगह होते हैं; और, मोटे तौर से अब भी देखने में आते हैं। इस समाज-व्यवस्था को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए भारतीय नियम-निर्माताओं ने यह भी तय किया कि ब्राह्मण दूसरे वर्णों के आदमियों को ठीक रास्ते पर चलानेवाले हों, यहाँ तक कि शासक भी उनकी सलाह को मानें और कोई काम उनकी इच्छा के विरुद्ध न करें। ब्राह्मण विद्वान और निर्लोभी हों। इन्हें रुपये पैसे या ऐश्वर्य आदि से कुछ मतलब नहीं। ये बहुत सादगी और गरीबी का जीवन बितावें, लेकिन इसके साथ समाज में, राज-दरबार में, और सभी जगह इनका आदर-मान भी सबसे अधिक हो। क्षत्रिय वर्ण के आदमी समाज की रक्षा के लिए अपनी जान न्योछावर करने तक को तैयार रहें, शान शौकत से रहें, राज्य में ऊंचे अधिकार और पद पावें, लेकिन ब्राह्मणों के नियंत्रण में रहें. स्वेच्छाचारी न बन जायँ। वैश्य वर्ण धन और सम्पत्ति का उपभोग करे, पर सर्वसाधारण के हित के लिए, बिना किसी प्रकार के अभिमान या अहंकार के। उसका पद भी समाज में प्रथम या द्वितीय नहीं, तीसरे दर्जे का था। शूद्रों को सेवा करने का काम दिया गया, पर वैसे उन्हें अपने जीवन-निर्वाह को कोई चिन्ता नहीं करनी होती थी, उन्हें भोजन वस्त्र आदि की कोई कमी न रहती थी, इसलिए वे खुशी-खुशी अपना काम करते थे; उन्हें किसी तरह की शिकायत का अवसर न होता था।

वर्ण व्यवस्था एक तरह का श्रम-विभाग था। इसका उद्देश्य

लोगों को उनके गुण कर्म के अनुसार अलग-अलग पेशों में लगा देना था। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का यह उद्देश्य जनता के सामने रहा, आदमियों के वर्ण का चुनाव करते समय गुण कर्म का काफी ध्यान रखा गया। इससे समाज का काम बहुत सुन्दर रीति से चला। हरेक आदमी को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार काम करने की आजादी थी, और उसके लिए सुविधाएँ मिलती थीं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, लोगों की आवश्यकताएँ तथा काम-धंधे बढ़े। कुछ आदमियों की रुचि पहले एक काम की तरफ मालूम होती, पर कुछ समय बाद उनका झुकाव किसी दूसरे धंधे की तरफ हो जाता। इस कठिनाई को अनुभव करके और यह विचार करके कि आदमी के लिए आमतौर से अपना पैत्रिक कार्य करना ज्यादह आसान होता है, लोगों में गुण कर्म के साथ जन्म (वंश) का भी ख्याल रखने की परिपाटी शुरू हो गयी। धीरे-धीरे इस विचार को बहुत ज्यादह महत्व दिया जाने लगा। रामायण-काल की बात लीजिए। रामचन्द्र जी को मर्यादा-पुरुषोत्तम कहा जाता है। पर उन्होंने ही शूद्रक को इसलिए मार डाला कि उसने शूद्र वंश में जन्म लेने पर भी तपस्या करने का साहस किया था, जो कि उस समय सिर्फ ब्राह्मण जाति वालों का कार्य माना जाने लगा था। इससे साफ ज़ाहिर है कि इस समय गुण-स्वभाव को कम और वंश और जाति को अधिक महत्व दिया जाने लगा था। यह ठीक है कि इस समयमें अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि एक जाति का आदमी दूसरी जाति का काम करने लगा और पीछे दूसरी ही जातिका समझा जाने लगा। लेकिन इसमें भी कोई संदेह नहीं कि रामायण-काल में कुल, वंश और जाति का महत्व बढ़ना शुरू हो गया था और पीछे बढ़ता ही गया।

धीरे-धीरे यह हालत हो गयी कि ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण माना जाने लगा, चाहे वह क्षत्री, वैश्य या शूद्र का ही काम क्यों न करे। इसी तरह धीरे धीरे हर सुनार, लुहार, कुम्हार, धोबी, नाई, मेहतर, चमार आदि जितने पेशे हैं, सब की अलग-अलग जाति बन गयी।

एक जाति के आदमियों का एक खास काम या पेशा निश्चित हो गया, और उन का विवाह-सम्बन्ध उसी जाति में होने लगा। साथ ही अलग-अलग जातियों में ऊँच-नीच का भाव होने लगा, कुछ जातियाँ बहुत ऊँची मानी जाने लगीं, कुछ बहुत नीची; यहाँ तक कि कितनी ही जातियों के आदमी अस्पृश्य या अछूत समझे जाने लगे, और अब तक समझे जाते हैं। यह जाति-भेद समाज के टुकड़े-टुकड़े करनेवाला, और आदमियों के विकास में बाधक है। कुछ समय से सुधारक इस ओर ध्यान दे रहे हैं, और जात-पाँत के कृत्रिम भेद-भाव को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दूसरे देशों, और खासकर योरप अमरीका में इस तरह का जाति-भेद नहीं है।* वहाँ तो एक ही माता-पिता के चार लड़के चार अलग-अलग तरह के काम करते पाये जाते हैं। जिसे जो काम अच्छा लगता है, या जिस काम से अधिक आमदनी होती है, वह उस काम को करता है, और जब चाहे एक काम को बदल कर दूसरा शुरू कर सकता है। इन देशों से भारतवर्ष का सम्बन्ध बढ़ने पर यहाँ उनका प्रभाव पड़ रहा है; जाति-बन्धन धीरे-धीरे शिथिल हो रहा है, तो भी सर्वसाधारण में अभी उसका काफी ज़ोर है।

ऊपर वर्ण व्यवस्था की बात कही गयी है। इसके साथ ही भारतीय ऋषियों या नियम-निर्माताओं ने आश्रम-पद्धति की भी व्यवस्था की थी। उन्होंने आदमी की साधारण उम्र सौ साल की मानकर उसके चार हिस्से किये थे—(१) पचीस वर्ष तक आदमी ब्रह्मचारी रहे †

* वहाँ श्रेणी भेद है। श्रेणी का आधार बहुधा आर्थिक है। बहुत धनवान आदमियों की गरीबों से बहुत-कुछ अलग श्रेणी रहती है। इनके आदमियों में आपस में विवाह-सम्बन्ध आदि कम होता है।

† जो आदमी चाहे, वह चालीस या अड़तालीस वर्ष तक अथवा जन्म भर ब्रह्मचारी रह सकता था। स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम आमतौर से सोलह वर्ष रखा गया था। पढ़ाई समाप्त करने पर हरेक व्यक्ति का वर्ण उसके गुरुओं द्वारा गुण-कर्म के अनुसार निश्चित किया जाता था।

और विद्या या ज्ञान प्राप्त करे। सात-आठ वर्ष का होने पर बालक गुरु-कुल में भेज दिया जाय, और वहाँ वह कम-से-कम २५ वर्ष की उम्र तक तरह-तरह की विद्या प्राप्त करके घर लौटे। (२) पच्चीस वर्ष का हो जाने पर आदमी विवाह करे और गृहस्थ आश्रम में दाखिल हो जाय। इस आश्रम में पच्चीस वर्ष रहकर आदमी विविध सांसारिक (सामाजिक) कार्य करे। (३) पचास वर्ष की उम्र होजाने पर आदमी गृहस्थी की मोह माया छोड़कर, स्त्री सहित बन में या विदेशों में रहे, धार्मिक या नैतिक ग्रन्थों को पढ़े और मनन करे। इस तरह पिछत्तर वर्ष की उम्र तक वानप्रस्थ आश्रम में रहे। (४) पिछत्तर वर्ष की उम्र से जीवन के अन्त तक आदमी संन्यास आश्रम में रहे, वह स्थान-स्थान पर दौरा करता रहे, गृहस्थियों को उपदेश दे, उनकी समस्याओं को हल करने के उपाय बतलावे और अपने ज्ञान और अनुभव से समाज को लाभ पहुँचावे। वह जाति, रंग या देश के बन्धनों को तोड़कर निष्काम भाव से लोगों की सेवा करे।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह आश्रम व्यवस्था यहाँ कुल जनता के कितने हिस्से में अमल में आयी। पर इसकी उत्तमता में कोई संदेह नहीं। जितने भी आदमियों ने इस आदर्श को मानकर इसके अनुसार अपना जीवन बिताया होगा, उन्होंने अपना और समाज का अवश्य ही बहुत हित-साधन किया होगा। हज़ारों वर्ष बीत जाने पर अब भी हिन्दू सिद्धान्त से इस पद्धति को मानते हैं, लेकिन व्यवहार में अब निन्यानवे फी-सदी लोगों के लिए दो ही आश्रम रह गये हैं—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। इनकी भी बड़ी मिट्टी ख़राब है। जिसका जब तक विवाह न हो वह तब तक वह ब्रह्मचारी मान लिया जाता है, और विवाह अकसर बहुत थोड़ी उम्र में हो जाता है, और उसके बाद ज्यादहतर आदमियों के लिए मरते दम तक गृहस्थी की चिन्ताओं से छुटकारा नहीं होता। यह भी ठीक है कि आजकल के आर्थिक संघर्ष के युग में वानप्रस्थियों और संन्यासियों का स्वाभिमान से रहना और पूरे तौर से निष्काम सेवा करना कुछ आसान काम नहीं रहा। अच्छा हो

अगर पचास या पचपन वर्ष की उम्र से आदमी स्वार्थ-भाव छोड़कर सिर्फ अपने गुज़ारे भर को लेकर लोकसेवा के काम में लगे, और गाँवों में शिक्षा, स्वास्थ्य और घरू उद्योग-धंधों की उन्नति के कामों में समय बितावें। इस तरह उन्हें भी अपने जीवन से संतोष हो और साथ ही समाज का भी हित हो।

वर्ण और आश्रम की योजना बहुत स्वाभाविक है, और इसकी कुछ मूल बातें किसी-न-किसी रूप में दूसरे देशों में भी मानी जाती रही हैं। प्राचीन काल में युनान के दार्शनिकों ने समाज-रचना की जो कल्पना की, वह भारत की वर्ण व्यवस्था से बहुत-कुछ मिलती है। उसके बारे में आगे विचार किया जायगा।

इकतालीसवाँ अध्याय

अफलातून के विचार

पिछले अध्याय में भारतवर्ष की पुरानी समाज-व्यवस्था के बारे में लिखा गया है। भारतवर्ष का सम्बन्ध बहुत मुद्दत से, दूर-दूर के देशों से रहा है, और उन पर इसका प्रभाव पड़ा है। जुदा-जुदा देशों की समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अलग-अलग न लिखकर हम यहाँ यूनान के एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक की इस विषय की विचार-धारा का परिचय देते हैं। इसका विशेष महत्व इस लिए है कि यूनान योरप का आदि-गुरू रहा है। यूनान ने रोम को सभ्यता सिखायी, फिर रोम से उसका प्रचार योरप के दूसरे देशों में हुआ है।

यूनान में अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले सामाजिक, दार्शनिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी विषयों में बहुत उन्नति होने लग गयी थी। उस समय वहाँ बहुत योग्य विद्वानों का तांता लग गया था। इनमें से ही एक प्रतिभाशाली पुरुष प्लेटो (अफलातून) था, यह सुकरात का शिष्य और अरस्तू का गुरू था। इसने जिस समाज-

व्यवस्था की योजना की, वह उस समय तो बड़े आदर की चीज थी ही, अब भी बहुत विचार करने योग्य मानी जाती है।

अफलातून का जन्म ईस्वी पूर्व सन् ४२७ में हुआ था, इसने सैनिक की शिक्षा पायी थी, और युद्ध में भाग लिया था। जब कभी इसे अवसर मिला, इसने विज्ञान का अध्ययन करने, और कविता लिखने का काम किया। जब यह बीस वर्ष का था, यह सुकरात से मिला और उसके जीवन के शेष आठ वर्ष तक उसके पास रह कर उसके विचारों से परिचित हुआ। ईस्वी पूर्व सन् ३६६ में सत्य के पुजारी और प्रचारक सुकरात पर उसके विरोधियों ने वह अभियोग लगाया कि वह अपने व्याख्यान, वार्तालाप या और सवाल-जवाब से नौजवानों को गुमराह (पथभ्रष्ट) कर रहा है। सुकरात को मृत्यु-दंड दिया गया, और ज़हर पिलाकर उसके प्राणों का अन्त किया गया। इस पर क्रोध और दुख से अफलातून ने एथन्स नगर छोड़ दिया और बारह वर्ष बाहर बिताये। इस समय में उसने संसार और मनुष्य के बारे में अपना ज्ञान बढ़ाया, बाद में उसने एथन्स लौटकर अपनी सुप्रसिद्ध विद्यापीठ (एकेडेमी) की स्थापना की। अपनी ज़िन्दगी के के अन्तिम चालीस वर्ष तक वह लिखने और पढ़ाने के काम में लगा रहा।

अफलातून के जीवन का खास उद्देश्य और ध्येय यह था कि सुकरात के विचारों की व्याख्या करे, जिससे आदमी उन्हें आसानी से समझ सकें। उसके ग्रन्थों में से मुख्य 'रिपब्लिक' है, इसमें उसने समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया है।

बहुत से भारतीय दार्शनिकों की तरह अफलातून का भी विचार है कि आदमी को विषय-वासनाओं से दूर रहकर सत्य की खोज में लगना चाहिए। आदमी को अमर सत्य का ज्ञान करानेवाला सबसे अधिक प्रभावशाली साधन राज्य है, उसका असर उसके क्षेत्र में रहनेवाले सब आदमियों पर पड़ता है। राज्य का मुख्य कर्तव्य यह होना

चाहिए कि वह लोगों को विषय-सुख में न फँसने दे, और उन्हें त्याग, सेवा और संयम यानी इन्द्रियों को वश में रखने की शिक्षा दे। इसके लिए यह ज़रूरी है कि व्यक्ति अपने आपको राज्य के अर्पित करदे, राज्य के आदेशों को पूरी तरह बिना किसी शंका या हाँ-हुज्जत किये, मानता रहे; उसका जीवन राज्य के लिए हो; राज्य से अलग उसका कोई स्थान न रहे।

अफलातून का मत है कि आदमी के स्वभाव में खासतौर से तीन गुण होते हैं—बुद्धि, तेज और वासना। बुद्धि से समाज की रक्षा और वृद्धि होती है, और वासना की अधिकतासे उसका क्षय। तेज इन दोनों के बीच में है। जिस आदमी में इन गुणों में से जिसकी प्रधानता हो, उसे उसका विकास करके समाज की सेवा और उन्नति में योग देना चाहिए। इस तरह समाज में तीन तरह के आदमी होंगे—(१) बुद्धि-प्रधान—संरक्षक या सलाहकार (गार्जियन्स और कौंसिलर्स), (२) तेज-प्रधान—योद्धा (वारिअर्स और डिफेन्डर्स) (३) वासना-प्रधान—उत्पादक और श्रमजीवी या किसान और कारीगर। इनमें से बुद्धिप्रधान आदमियों को चाहिए कि समाज के संरक्षण की जिम्मेवारी लें, वे न तो किसी को बहुत धनवान होने दें, और न बहुत गरीब। मजिस्ट्रेट या शासक इस वर्ग में से बनाये जायँ, और वे आदर्श समाज का निर्माण करें। इसके लिए ज़रूरी है कि इनके शिक्षण की पूरी व्यवस्था हो। इन्हें बचपन से ही ऐसी शिक्षा दी जाय कि इनमें विलासिता या सांसारिक सुखों की ओर प्रवृत्ति न हो। इनके खान-पान और रहन-सहन आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से हो। ये स्त्री और बच्चों के माया मोह से भी मुक्त रहें। इसलिए किसी संरक्षक का विवाह न हो; राज्य कुछ समय के लिए उसका योग्य स्त्री से सम्बन्ध करे। बालकों की परिवरिश का इन्तजाम राज्य की ओर से हो। इस तरह किसी संरक्षक का कोई खास निजी रिश्तेदार न हो; उसका कोई माल मिलकियत आदि तो होगी ही नहीं।

दूसरा वर्ग तेजगुण प्रधान आदमियों का होगा। इनका यह कर्तव्य होगा कि समाज की बाहरी आपत्तियों से रक्षा करें, और हमेशा बुद्धि-प्रधान लोगों की अधीनता में रहें। उनके सलाह मशविरे बिना ये कोई काम न करें। तीसरे वर्ग में साधारण आदमी—किसान, कारीगर, और मज़दूर आदि हों। इनका काम समाज के लिए आवश्यक भोजन वस्त्रादि सामग्री बनाना और उचित परिमाण में बितरण करने में मदद देना होगा।

राज्य में एकता का भाव बढ़ाने और बनाये रखने के लिए अफलातून का मत था कि किसी के पास न तो कोई निजी मिलकियत हो, और न कोई किसी का रिश्तेदार आदि हो। अच्छी संतान पैदा कराने के लिए राज्य योग्य माता-पिता का चुनाव करे और बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण की पूरी जिम्मेवारी ले। शिक्षा पर मजिस्ट्रेटों का नियन्त्रण रहेगा, और शिक्षा पाने पर हरेक आदमी उचित धंधे का काम करने योग्य हो जायगा। जो आदमी सबसे अधिक योग्य होगा, वह दार्शनिक या शासक होगा। शासक दार्शनिकों में से होंगे। इस तरह अफलातून ने ऐसे व्यक्तियों की योजना की, जिन्हें भारतीय नीति-कारों ने राजर्षि कहा है।

विवाह की मनाही या निषेध करने के मूल में अफलातून का यह विचार था कि अगर एक पुरुष का किसी खास स्त्री से विवाह होगा तो यह स्वाभाविक ही है कि वह पुरुष उस स्त्री से इतना प्रेम करेगा, जितना वह किसी दूसरी स्त्री से न करेगा; वह उसको दूसरों से अधिक सुखी रखने की कोशिश करेगा, उसके लिए वह अधिक साधन या सम्पत्ति जुटायेगा। इसी तरह वह अपनी सन्तान की शिक्षा और स्वास्थ्य की ही नहीं, सुख और वैभव की व्यवस्था भी करना चाहेगा। इन कारणों से उसमें धन जोड़कर रखने की भावना पैदा होगी; और, जब हरेक आदमी धन संग्रह करने लगेगा तो प्रतियोगिता और संघर्ष होगा, ईर्षा-द्वेष बढ़ेगा, अमीरी गरीबी सवाल पैदा होगा। इसे रोका नहीं जा सकेगा। इसलिए अफलातून व्यक्तिगत विवाह की पद्धति को

उठा देने के पक्ष में था। उसका कथन था कि सब पुरुष और सब स्त्रियाँ राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। सन्तान पैदा करने के लिए एक पुरुष का कुछ परिमित समय के लिए किसी खास स्त्री से सम्बन्ध हो जाय। पीछे उस पुरुष को उस स्त्री से विशेष सम्बन्ध न रहे। जो सन्तान हो, वह राष्ट्र की सम्पत्ति हो, उसका पालन-पोषण राज्य करे, और उस पर राष्ट्र का ही अधिकार हो। पुरुष और स्त्री को पीछे यह पता न रहे कि हम अमुक बच्चे के पिता या माता हैं, बच्चे भी बड़े होकर यह न जानें कि हम किस की सन्तान हैं। इस तरह किसी व्यक्ति का स्नेह एक आदमी या कुछ इने-गिने आदमियों से न हो, सबसे हो; केन्द्रित न होकर राष्ट्रव्यापी हो।

अफलातून की समाज-व्यवस्था बहुत कुछ कल्पना की ही चीज रही। अपने समय में यह यूनान में आदर्श भले ही मानी गयी, इसके विशेष रूप से अमल में आने का पता नहीं लगता। यह पद्धति सरल है, लेकिन इतनी ज्यादह सरल है कि मनुष्य जीवन के लिए, जो कुछ जटिल ही है, यह उपयोगी या व्यावहारिक नहीं है। जो पुरुष, स्त्री, या बच्चा किसी दूसरे व्यक्ति से अपनेपन या निजी प्रेम का अनुभव नहीं करता, उसका जीवन निरस, शुष्क और जड यंत्र की तरह होता है। यह ठीक है कि पारिवारिक मोह से प्रायः लोगों में ईर्षा, द्वेष, लोभ और कलह आदि बढ़ता है, इसलिए इसे मर्यादा या सीमा में रखना आवश्यक है। पर सब आदमियों का साधु, संन्यासी का जीवन बिताना भी न तो मुमकिन ही है, और न समाज के लिए फायदे मन्द। जो बच्चा अपने माता पिता का प्रेम नहीं पाता, वह अनाथालय के बालकों की तरह होता है। वह ऐसा उत्साही, उमंगी, और प्रसन्नचित नहीं होता, जैसा उसे होना चाहिए। जो हो; अफलातून की व्यवस्था का उद्देश्य—पारिवारिक मोह का नियंत्रण—अवश्य ही उत्तम और सराहने योग्य है।

बयालीसवाँ अध्याय

धार्मिक साम्यवाद

पिछले दो अध्यायों में भारतवर्ष और यूनान की समाज-व्यवस्था सम्बन्धी विचार-धाराओं का परिचय दिया गया है। इनका एक खास उद्देश्य यह था कि समाज के जुदा-जुदा वर्ग अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते रहें; उनमें आपस में प्रेम हो, कोई ईर्ष्या-द्वेष आदि न करे, और सब एक दूसरे को सहायता और सहयोग प्रदान करते रहें। यह बात थोड़ी-बहुत सभी समाज-व्यवस्थाओं में पायी जाती है।

संसार में विविध धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने-अपने ढंग से समानता और सहयोग की भावना का प्रचार किया है। यह ठीक है कि अकसर जुदा-जुदा धर्मों के माननेवालों के आपस में बड़े लड़ाई-झगड़े रहे हैं, लेकिन इसका कारण उन धर्मों के प्रवर्तक की आज्ञा या धार्मिक सिद्धान्त न थे। सब मुख्य-मुख्य धर्म इस बात में एक मत हैं कि परमात्मा सारी सृष्टि का पिता है; सब आदमी चाहे वे किसी भी जाति, देश या रंग के हों, उसकी सन्तान हैं। एक परम पिता की सन्तान होने के कारण सब आदमी आपस में भाई-भाई हैं। इस लिए सब को आपस में प्यार से रहना चाहिए और समानता का व्यवहार करना चाहिए।

समानता या साम्यवाद का संदेश हमें संसार के सब से पुराने धर्म-ग्रन्थ ऋग्वेद तक में मिलता है। मिसाल के तौर पर उसमें कहा गया है कि 'तुम लोग भ्रातृ-भाव से सौभाग्य को प्राप्त करते हुए जीवन-क्षेत्र में बढ़ो। तुम में से कोई ज्येष्ठ (बड़ा) नहीं, कोई कनिष्ठ (छोटा) नहीं—सब समान हो।' इसी तरह अथर्ववेद में लिखा है—

'तुम एक जगह से पीओ, एक ही जगह से खाओ, एक ही प्रकार से काम में लगे हुए उस प्रभु की पूजा करो। संसार-चक्र को चलाने में इस तरह मिलकर काम करो, जिस तरह धुरी के चारों तरफ आरे लगे रहते हैं।'

वैदिक या हिन्दू धर्म की तरह संसार में बौद्ध धर्म का डंका भी खूब बजा है। उसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने राजपाट को लात मार कर गरीबी का स्वागत किया था, और गरीबों में ही अपने आपको मिला दिया था। उसने भ्रातृ-संघ की स्थापना में यह नियम रखा था कि कोई आदमी अपने गुजारे की चीजों के अलावा कोई भी सामान न रखे। समानता का यह व्यावहारिक रूप कितना आदर्श था!

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह ने अपनी शक्ति भर लोगों को समानता और भ्रातृभाव का उपदेश दिया। उसके बारे में कुछ बातें अहिन्सा के प्रसंग में कही गयी हैं। उसका जीवन सेवा, त्याग और बंधुत्व का जीता-जागता उपदेश है। यदि उससे ठीक शिक्षा ली जाय तो संसार में आर्थिक या सामाजिक विषमता नाम को न रहे।

इसलाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब ने समानता का कैसा प्रचार किया, इसका पता इस एक बात से ही लग जाता है कि अब भी अमीर-से-अमीर मुसलमान गरीब-से-गरीब सहधर्मी के साथ बराबरी वाले की तरह भोजन करता है; बड़े छोटे का कोई भेद-भाव ही नहीं। उन्होंने आदमी और आदमी के बीच की बनावटी दीवारों को तोड़ कर सब को मानवता, भाईचारे, और इन्सानियत का पाठ पढ़ाया था।

इस तरह सभी धर्मों का आधार समानता और भ्रातृत्व है। हर एक धर्म के प्रवर्तक के कुछ खास शिष्य और प्रचारक हुए हैं। इन साधु सन्तों और महात्माओं ने समानता का, दान-पुण्य, सदाव्रत और खैरात आदि का, खूब उपदेश दिया है। इन्होंने लोगों को जाति, रंग, पेशे या देश आदि का भेद-भाव भूलने की शिक्षा दी है। इस तरह हर एक धर्म सम्बन्धी बहुत सा साहित्य ऐसे विचारों से भरा हुआ

मिलता है। इससे लोगों में लोकहित और मानवता की भावना बढ़ी है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। लेकिन यह कार्य हमेशा परिमित क्षेत्र में ही रहा। बात यह है कि किसी भी धर्म का विशेष प्रचार एक सीमा से बाहर नहीं हुआ। हालाँकि हरेक धर्म-प्रवर्तक की इच्छा यह रही कि उसकी विचार-धारा और उसका धर्म दुनिया भर में फैले, व्यवहार में ऐसा न हो सका। संसार में हमेशा ही कई-कई धर्म रहे हैं। और एक धर्म ने अपने क्षेत्र में चाहे जितनी उदारता और समानता की भावना भरी हो, अकसर उसके अनुयाइयों ने दूसरे धर्म वालों को गैर, या पराया ही समझा, और उनके साथ भाईचारे और बराबरी का व्यवहार नहीं किया। फिर, किसी धर्म के माननेवाले सब आदमी व्यवहार में पूरा सचाई और ईमानदारी का परिचय देनेवाले नहीं होते। कितने ही आदमी धर्म की बात वहाँ तक ही मानते हैं, जहाँ तक उन्हें विशेष स्वार्थ-त्याग करना या कष्ट सहना नहीं पड़ता। वे दान-धर्म आदि करते रहते हैं, लेकिन उसी सीमा तक, जब तक कि उन्हें उसके करने में कुछ कठिनाई न सहनी पड़े। इस लिए धर्म से समानता या साम्यवाद का जो प्रचार हुआ, वह बहुत परिमित और एकदेशीय रहा, उसे अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वव्यापी होने में सफलता न मिली।

पहले बताया जा चुका है कि मशीनों का आविष्कार होने से पहले आर्थिक असमानता बहुत ज़्यादह न थी। उस समय उत्पत्ति का मुख्य साधन जमीन थी, और जिन लोगों के पास खेती के लिए जमीन नहीं होती थी, उन्हें दूसरे की ज़मीन पर काम करने से अपने गुजारे का सामान मिल सकता था। काम करनेवालों की इतनी मांग रहती थी कि बेकारी का सवाल बहुत कम सामने आता था। कितने ही कारीगर अपने औजारों से स्वतन्त्रता पूर्वक सामान तैयार करते और स्वावलम्बी जीवन बिताते थे। उस दशा में यदि कभी कहीं कुछ आदमियों को आर्थिक अभाव होते तो समाज में प्रचलित दान-धर्म, दया और सहानुभूति आदि के भावों से उनकी पूर्ति हो जाती थी। और, विविध धर्मों ने इसमें काफी मदद दी।

दान-धर्म का दुरुपयोग भी बहुत हुआ और हो रहा है। इससे मुफ्तखोरों, आलसियों और व्यभिचारियों की संख्या बढ़ती है। कितने ही महन्त और धर्माचार्य अंध-विश्वासों को बढ़ाते और सामाजिक सुधारों में बाधा डालते हैं।

खासकर अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से में, पैदावार के साधनों की उन्नति और मशीनों का आविष्कार और प्रचार होने पर परिस्थिति बदल गयी। कारखाने बढ़ते गये, नयी-नयी बढ़िया-बढ़िया मशीनों ने ज्यादह-ज्यादह आदमियों को बेकार करना शुरू कर दिया। कारखानों में मज़दूरों का स्वास्थ्य और चिकित्सा की ठीक व्यवस्था न हुई। पूंजीपतियों की निगाह अपने स्वार्थ-साधन की ओर रही। इन बातों से जगह-जगह हज़ारों मज़दूरों और बेकारों की हालत बहुत खराब हो चली। असन्तोष बढ़ चला। कुछ सुधारों के आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप मज़दूरों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में कानून बनाये गये। लेकिन उनसे विशेष हित न हुआ। धीरे-धीरे पूँजीवाद और तत्कालीन समाज-व्यवस्था के प्रति विचारकों के मन में घृणा के और विरोध के भाव बढ़ते गये। कुछ विद्वानों ने अपने-अपने विचार और अनुभव के अनुसार आदर्श समाज का चित्र खींचना आरम्भ किया—जिसमें सब लोग सुख और शान्ति से रहें, असन्तोष के सब कारण दूर हो जायँ; कोई किसी का शोषण न करे। ऐसे विचारों से पीछे जाकर धीरे-धीरे समाजवाद की उत्पत्ति और विकास हुआ।

समाजवाद से पहले सुधारकों ने समाज-व्यवस्था सम्बन्धी जिस विचार-धारा का प्रचार किया था, उसका अधार खासकर धर्म था। उसे हम 'धार्मिक साम्यवाद' कह सकते हैं। साम्यवाद का मतलब यह है कि समाज में आदमी यथा-सम्भव समान या बराबर माने जायँ। धनवान या अमीर लोग गरीबों पर दया करें, और दान-धर्म आदि से उनकी सहायता करते रहें। अठारहवीं सदी के आखिरी हिस्से में लोगों का ध्यान इस ओर जाने का खास कारण यह था कि इस समय कल-कारखानों के बढ़ने से जनता में आर्थिक असमानता या विषमता बहुत बढ़ गयी थी। एक ओर कल-कारखानों में खूब माल पैदा-

होता था, और उनके मालिक अधिकाधिक धनवान होते जाते थे; वे खूब मौज से रहते और तरह-तरह के शौक करते थे। दूसरी तरफ मजदूरों को खाने पहनने की ज़रूरतें भी पूरी नहीं होती थीं, उनकी शिक्षा की व्यवस्था न थी उन्हें गन्दे वातावरण में रहना पड़ता था, उनका स्वास्थ्य बहुत खराब रहता था। धार्मिक साम्यवाद का सूत्रपात्र पहले फ्रांस और इंगलैंड में हुआ। फ्रांस का पहला मुख्य साम्यवादी विचारक सेंट साइमन था। यह सन् १७६० में पैदा हुआ था। मजदूरों की दुर्दशा को देख कर इसे बड़ा दुःख हुआ। और, इसने समाज का ध्यान इस ओर दिलाने की जोरदार कोशिश की। उसने धनवानों या कारखाने वालों को मज़दूरों से दया और सहानुभूति का व्यवहार करने का उपदेश दिया। उसका मत था कि समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर एक आदमी को जीवन-निर्वाह का समान अवसर मिले; पैदावार का प्रबन्ध सरकार करे, और सरकार का संगठन ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार हो। इस विचारधारा का आधार मनुष्यों की सहृदयता थी, आर्थिक संगठन नहीं। सेंट साइमन को कुछ सफलता मिली, पर वह स्थायी नहीं थी। हाँ, पीछे इसके शिष्यों ने धीरे-धीरे समाजवाद की ओर कदम बढ़ाया।

इंगलैंड में भी 'धार्मिक साम्यवाद' का प्रचार इसी समय हुआ। यहाँ पहला मुख्य साम्यवादी राबर्ट आवन (१७७१-१८५८) था। यह कपड़े की मिल का मेनेजर और हिस्सेदार रहा था, और इसने खूब रुपया कमाया था। कारखानों और व्यापार से बहुत सम्बन्ध रखने के कारण इसे मज़दूरों की हालत का प्रत्यक्ष अनुभव था; और इसने उसे सुधारने की जी-तोड़ कोशिश की, अपना बहुत रुपया खर्च करके उनके लिए स्कूल खोले, अच्छी बस्तियाँ बसाई, मज़दूरों को अच्छा तथा बढ़िया सामान करीब-करीब लागत मूल्य पर देने की व्यवस्था की। इस तरह के लोकसेवा या परोपकार के कामों में उसे अच्छी सफलता मिली। पर उसके कार्यों का मूल, फ्रांस के सेंट साइमन की तरह, गरीबों के प्रति दया और सहानुभूति ही थी। धीरे-

धीरे लोगों के ध्यान में यह बात आने लगी कि दान-धर्म से या भावुकता के सहारे मज़दूरों की हालत में बड़ा, व्यापक और स्थायी सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए आर्थिक विषमता के मूल कारणों पर विचार होना चाहिए, और पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करना चाहिए। इस तरह के विचारों का ही परिणाम आगे जाकर समाजवाद के रूप में जनता के सामने आया। इसके बारे में आगे लिखा जायगा।

तेतालीसवाँ अध्याय

समाजवाद

समाज से सदा के लिए शोषण का अन्त करने के लिए आवश्यक है कि वर्गहीन समाज की स्थापना की जावे, जिसमें लाभ के लिए नहीं, वल्कि सर्वहित के लिए मनुष्य कार्य करें। यह बात हमारे ऋषि-महर्षि करते आये हैं। परन्तु उसका वैज्ञानिक पद्धति से निरूपण सवसे प्रथम मार्क्स ने किया है। वस्तुतः मार्क्स के समय ही समाज इस अवस्था में आया जब कि इस प्रकार निदान ढूंढ़ने का अवसर हो।

—प्रो० धर्मदेव शास्त्री

पहले कहा जा चुका है कि पूंजीवाद से गरीव अमीर का भेद ज़्यादह-ज़्यादह बढ़ता जाता है, देश की दौलत मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में, संचित होती जाती है, और सर्वसाधारण को बहुत आर्थिक कष्ट का जीवन विताना पड़ता है। सहकारिता से गरीबों की कुछ भलाई होती है, लेकिन मूल समस्या हल नहीं होती। दान पुण्य करने की भावना का प्रचार सभी धर्मों ने किया है, उससे उस असमानता के दूर होने में खासी सहायता मिली, जो पहले पशुपालन, और पीछे खेती और व्यापार के कारण पैदा हुई। दान धर्म और परोपकार आदि

के आधार पर समानता का जो उद्योग हुआ, उसे 'धार्मिक साम्यवाद' कहा गया है। वह साम्यवाद सामन्त युग में अच्छा उपयोगी रहा। उसका उद्देश्य नयी समाज-रचना करना न था, बल्कि समाज का रूप वैसा ही रखते हुए, उसकी अशान्ति और असंतोष को कम करना था। ऐसे कार्य में धनी मानी लोगों के विरोध की बहुत सम्भावना नहीं होती। एक करोड़पति यदि साल भर में पांच-सात हजार रुपये दान-पुण्य में लगा दे तो उसका कुछ विशेष बिगड़ता नहीं, और उसे आसानी से समाज में दानवीर, धर्मात्मा आदि की उपाधि मिल जाती है।

औद्योगिक युग में, कल-कारखाने बढ़ने पर 'धार्मिक साम्यवाद' विशेष उपयोगी न रहा। पूंजीवाद के विरुद्ध जोरदार आवाज उठी। यह आवाज़ उठाई, शोषित मज़दूरों आदि ने। अब पूंजीपतियों और श्रमजीवियों का साफ तौर से विरोध और संघर्ष हुआ। शोषितों ने अब दया की मांग नहीं की, अपने अधिकारों की मांग की। पूंजीवाद को हटाने और इसकी जगह नयी व्यवस्था चलाने के सम्बन्ध में समय-समय पर बहुत से लेखकों ने अपने विचार ज़ाहिर किये हैं। खासतौर से सिलसिलेवार और वैज्ञानिक ढंग से विचार करनेवालों में श्री० कार्लमार्क्स (१८१८-८३) का नाम मशहूर है। उसकी विचार-धारा को समाजवाद ('सोशलिज़्म') कहा जाता है। उसकी मुख्य बातें ये हैं—

१—मार्क्स ने समाज के इतिहास की, भौतिकवाद के आधार पर, व्याख्या की है। उसने बतलाया कि समाज में जो विविध परिवर्तन होते हैं, जितने मत, सम्प्रदाय, अन्दोलन या लड़ाई-झगड़े आदि होते हैं, सब की तह में धन का सवाल होता है। लोगों की सभ्यता, रहन-सहन, विचार-धारा आदि आर्थिक परिस्थिति से निश्चित और नियन्त्रित होती हैं। मनुष्य के विकास का इतिहास समाज के अर्थिक विकास की कहानी है।

२—मार्क्स का कथन है कि समाज की शुरू की हालत को छोड़

कर उसकी हरेक आर्थिक व्यवस्था में दो वर्ग या श्रेणियाँ मुख्य रही हैं। गुलामी की प्रथा में मालिक और गुलाम रहे। जागीरदारी और जमींदारी में जागीरदार या जमींदार और किसान होते हैं। और अब पूँजीवादी प्रथा में पूँजीपति और मज़दूर हैं। इन दोनों श्रेणियों के हित एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं; एक का लाभ दूसरे की हानि, एक की शानशौकत और विलासिता दूसरे का शोषण है। पूँजीपतियों ने आर्थिक जगत के अलावा राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रधानता पा ली है। व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव और मन्त्रिमण्डलों के संगठन में अकसर वे ही उम्मेदवार सफल होते हैं, जिन्हें ये चाहते हैं। पूँजीपतियों और मज़दूरों का संघर्ष तभी समाप्त होगा, जब निजी सम्पत्ति हटा दी जायगी। इसलिए सब सम्पत्ति सरकारी समझी जानी चाहिए।

३—हरेक चीज़ को पैदा करने में कुछ श्रम लगता है। जब से चीज़ें मशीनों द्वारा बनायी जाने लगीं, श्रमजीवियों को मूल्य का थोड़ा सा ही हिस्सा मिलता है, शेष मूल्य पूँजीपति के पास रहता है, अर्थात् पूँजीपति चीज़ों पर बेहद मुनाफा लेता है, वह मज़दूरों के श्रम से अनुचित लाभ उठाता है। चीज़ों की कीमत खासकर (शारीरिक) श्रम के अनुसार लगायी जानी चाहिए।

मार्क्स के समाजवाद के ये तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। इसके अलावा वह धर्म या मजहब को एक व्यर्थ का ढोंग समझता है। उसके अनुसार धर्म, जो भाग्यवाद और संतोषवाद आदि का प्रचार करता है, सामाजिक उन्नति में बाधक है। महन्त पुजारी आदि मुफ्तखोर हैं; जहाँ तक बन आवे ऐसे आदमी समाज में न रहें, इनकी शक्ति या मान प्रतिष्ठा बिलकुल ही कम हो।

समाजवाद के बहुत भेद हो गये हैं—कम्यूनिज़्म, स्टेट सोशलिज़्म, बोलशेविज़्म, आदि। इनमें थोड़ा बहुत अन्तर है। हमें उनके ब्योरे में जाना नहीं है। हमें तो यहाँ यह विचार करना है कि साधारण तौर से समाजवाद और पूँजीवाद में क्या अन्तर है। पहले बताया जा चुका है कि पूँजीवादी समाज में सम्पत्ति का बँटवारा बराबर-बराबर नहीं

होता। सरकार ज़मीन और पूँजी पर लोगों का निजी अधिकार बनाये रखती है, और उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए जो इकरार कर रखे हों उनका पालन अपनी पुलिस, जेल, अदालत आदि से कराती है। वह देश-रक्षा या दूसरे देशों पर आक्रमण करने के लिए सेना भी रखती है। इसके खिलाफ़, समाजवादी पद्धति में लोगों की निजी मिलकियत या सम्पत्ति नहीं होती और न व्यक्तियों के बीच होनेवाले समझौतों या इकरारों का पालन उनके स्वार्थ की दृष्टि से कराया जाता है। राष्ट्र-हित का स्थान पहला और सबसे ऊँचा है। समाज पर कुछ व्यक्तियों का शासन न होकर, समाज का शासन होता है।

समाजवादी विचार-धारा के अनुसार उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का निजी अधिकार न होकर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए, अर्थात् उनका राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक है। सब ज़मीन, बैङ्क, रेल जहाज़, कल कारखानों आदि की मालिक सरकार हो। उसके द्वारा नियत किये हुए योग्य कार्यकर्ता प्रत्येक विभाग का काम संभाले। ज़मीन और बैङ्कों के राष्ट्रीयकरण का अच्छा उपाय यह समझा जाता है कि सरकार पूँजीपतियों पर कर लगाकर धन इकट्ठा करे और उस धन से ज़मीन, और बैङ्क के हिस्से खरीद ले और मालिकों को जितना मुमकिन हो, हरजाना दे दे। इसी तरह रेल, खानों और कल-कारखानों का भी राष्ट्रीयकरण किया जाय।

राजसत्ता पूँजीपतियों के हाथ से निकलकर समाजवादियों के हाथ में कैसे आये, इस विषय में समाजवाद किसी खास उपाय का आग्रह नहीं करता। उसे उद्देश्य-सिद्धि से मतलब है, उसका मार्ग चाहे जो हो —क्रान्ति हो या वैध पद्धति, हिन्सा हो या अहिंसा। रूस में समाजवादी व्यवस्था क़ायम होने में बहुत मार-काट और खून-खराबी हुई, जो लोग पूँजीवादी रहे थे, और पूँजीवाद से ही चिपटे रहना चाहते थे, उन्हें बिना किसी मुरव्वत या लिहाज के घोर अपराधी घोषित किया गया और आवश्यक दण्ड दिया गया; यहाँ तक कि कितने ही पुरुष और स्त्री जो बड़े प्रतिष्ठावान बने हुए थे, या तो स्वयं रूस की भूमि से चले आये,

अथवा क्रान्तिकारियों के हाथों मौत के घाट उतारे गये। हाँ, क्रान्ति के बाद रूस ने वैध पद्धति से काम लिया। व्यवस्थापक सभाएँ बनीं, क़ानून द्वारा आय की समानता का सिद्धान्त मान्य किया गया। जनता के लिए भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जन आदि की जिन-जिन चीज़ों की ज़रूरत होती है, उन सब को पैदा करने या बनाने के लिए विचार-पूर्ण योजनाएँ तैयार की गयीं; और, लाखों आदमियों को काम में लगा कर उन्हें अमल में लाया गया।

परिस्थिति के अनुसार रूसी क्रान्तिकारियों को समय-समय पर अपनी नीति बदलनी पड़ी। पहले उनका लक्ष्य था—'हर आदमी को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार मिलना चाहिए।' पीछे उन्होंने यह सिद्धान्त अपनाया कि 'हर एक को उसकी योग्यता के अनुसार मिले।' अवश्य ही इस बात का ध्यान रखा गया कि राज्य के हर एक नागरिक को इतना योग्य बना दिया जाय कि उसे अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह करने में बाधा न हो। रूस में 'आय की समानता' का आदर्श पूरे सोलह आना हासिल नहीं किया गया है। पर इसमें भी शक नहीं कि रूस इस आदर्श के इतना नजदीक पहुंच गया है कि अब वहाँ आय की जो थोड़ी बहुत असमानता देखने में आती है, वह ज्यादह अखरती नहीं। कोई आदमी भूखा नंगा नहीं है, कोई आदमी शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के साधनों से वंचित नहीं है, कोई आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरों के स्वार्थ-साधन के लिए मेहनत मज़दूरी करने को मजबूर नहीं है, हर एक पुरुष और स्त्री स्वाभिमान-पूर्वक जीवन बिताती है। हालाँकि खासकर पूंजीवादियों ने रूस की सामाजिक व्यवस्था पर तरह-तरह के आक्षेप किये हैं, और उसे बुरी तरह बदनाम करने में कोई कसर नहीं उठा रखी, वहाँ की मौजूदा हालत की, एक ओर तो ज़ारशाही के रूस से, और, दूसरी ओर इस समय के पूंजीवादी देशों से, तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि समाजवादी व्यवस्था में रूस ने कितनी उन्नति कर ली है। इसमें शक नहीं कि उसे अभी और भी

मंजिलें तय करनी हैं, पर जितना काम किया गया है, वह उसके लिए गर्व का विषय है।

समाजवाद का ध्येय तो समाज की ऐसी ही स्थिति है, जिसमें कोई आदमी दूसरे का शोषण न कर सके, यानी हिन्सा का बिलकुल स्थान न रहे, लेकिन वह उस स्थिति को लाने के लिए किसी खास साधन से बंधा नहीं रहता। वह हिन्सा का भी भरसक उपयोग करने से संकोच नहीं करता। इसके खिलाफ़, एक दूसरी विचार-धारा ऐसी भी है, जो देखती और अनुभव करती है कि मनुष्य जाति को हिन्सा का प्रयोग करते-करते सदियाँ बीत गयी हैं, अब इसका बिलकुल उपयोग न करना चाहिए। इस विचार-धारा का इस युग में विशेष रूप से प्रचार करने का श्रेय महात्मा गांधी को है, इस लिए इसे अकसर गांधीवाद कहा जाता है; असल में इसे सर्वोदय नाम देना ज़्यादह उचित है। इसके बारे में लिखने से पहले कुछ दूसरी विचार-धाराओं का परिचय दे देना ज़रूरी है।

चवालीसवाँ अध्याय

अराजवाद

पूंजीवाद और समाजवाद को लक्ष्य में रख कर इस समय खासकर योरप में कई तरह की विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। हम उनमें से कुछ के बारे में ही लिख सकते हैं। इस अध्याय में हम उस सिद्धान्त का विचार करते हैं, जिसे अंगरेजी में 'अनार्किज्म' कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए अक़सर 'अराजकतावाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन अराजकता का अर्थ होता है। अव्यवस्था, उच्छृङ्खलता, नियमहीनता आदि; और, 'अनार्किज्म' के अनुयाइयों का यह लक्ष्य नहीं होता कि समाज में कोई व्यवस्था न रहे, और लोग बिलकुल मनमाना

उत्पात करे, इस लिए उन्हें अराजकतावादी कहना ठीक नहीं है। उनका उद्देश्य तो यही होता है कि समाज शासन के बन्धन से मुक्त रहे—जो शासन समाज में आर्थिक विषमता और अन्याय को कायम रखता है, और लोगों के असंतोष को बल-पूर्वक दमन करके उसे प्रकट होने से रोकता है। इस तरह उनको अराजवादी और उनके मत को अराजवाद कहना उचित है।*

राज्य के बारे में पहले लिखा जा चुका है। कुछ समय पहले तक अधिकांश विचारक, दार्शनिक और समाज-सूत्रधार राज्य की आवश्यकता और उपयोगिता स्वीकार करते रहे हैं। हाँ, समय-समय पर राज्य के अत्याचारों या ज्यादतियों को अनुभव करके उसके विरुद्ध भी आवाज उठती रही है। खासकर औद्योगिक उन्नति या कल-कारखानों की वृद्धि के कारण पूंजीवाद के बढ़ने पर, और राज्य द्वारा पूंजीवाद का समर्थन होने पर राज्य-संस्था का विरोध बढ़ता गया। धीरे-धीरे ऐसी विचार-धारा उत्पन्न हुई कि राज्य एक हानिकर वस्तु है, इसकी आवश्यकता सिर्फ इस लिए है कि आदमी में लोभ, मोह, अहंकार, काम क्रोध आदि दुर्भावनाएँ हैं, और सामाजिक जीवन के लिए इनका नियंत्रण होना चाहिए। आदमी अभी बहुत अपूर्ण और अविकसित है। इस लिए मौजूदा हालत में राज्य को स्वीकार तो किया जा सकता है; लेकिन एक आवश्यक बुराई के रूप में, क्योंकि राज्य एक बुराई ही है, इसकी शक्ति कम-से-कम रहे, इसका कार्यक्षेत्र बहुत परिमित हो, शान्ति, सुव्यवस्था और जान माल की रक्षा के सिवाय उसे किसी बात से कुछ मतलब न रहे। ज्यों-ज्यों मनुष्य विकसित होता जायगा, राज्य को रखनेकी आवश्यकता कम होती जायगी। इसप्रकार सब से अच्छी सरकार वह है, जो शासन-कार्य सबसे कम करती है. और समाज की आदर्श अवस्था वह होगी, जिसमें राज्य की बिलकुल ज़रूरत न रहेगी।

---

* श्री० यशपाल जी ने अपनी 'मार्क्सवाद' पुस्तक में इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है।

अराजवाद सिद्धान्त पहले पहल खास तौर से विलयम गोडविन (१७५६-१८३४) ने उपस्थित किया था। इसका मत था कि आदमी स्वभाव से अच्छा होता है, अगर कोई बाहरी बाधा न हो तो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उसका आग्रह था कि राज्य को बीच में दखल न देना चाहिए, और समाज का उसकी इच्छानुसार संगठन होने देना ठीक है। शिक्षा के काम में भी सरकारी हस्तक्षेप न हो। दंड-प्रथा उठा कर उसका काम समझाने-बुझाने से चलाना चाहिए। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध उनकी इच्छानुसार हो। सम्पत्ति का वितरण इस तरह हो कि हरेक आदमी को उसकी आवश्यकतानुसार मिल जाय। गोडविन चरम सीमा का व्यक्तिवादी था। इसके सिद्धान्तों को इंगलैंड में लोगों ने विशेष मान्य नहीं किया। हाँ, योरप के दूसरे देशों के कुछ विचारकों ने उन्हें अच्छी तरह अपनाया। प्राउधन (१८०९-१८६५) ने अराजवादी विचारों का अच्छी तरह विश्लेषण किया और इन्हें व्यावहारिक रूप दिया। उसका कथन है कि निजी सम्पत्ति न्याय में बाधक है, उससे सामाजिक असमानताएँ पैदा होती हैं, और सरकार आवश्यक हो जाती है। सम्पत्ति और सरकार दोनों अवैध हैं, दोनों का अन्त किया जाना चाहिए। उसका यह भी विचार है कि एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन करना घोर अन्याय है।

इन विचारों का पीछे बकुनिन (१८१४-१८७६) ने विकास किया। इसका जन्म रूस में हुआ था। कई देशों की सरकारों द्वारा इसे बड़ी-बड़ी तकलीफें उठानी पड़ी थीं। कई बार इसे जेल की सज़ा हुई। यही नहीं, इसे प्राण-दंड देने का भी निश्चय किया गया था। लेकिन सौभाग्य से यह मुक्त हो गया। इन विविध कष्टों को पाकर भी इसकी क्रान्तिकारी भावना का दमन न हुआ, बल्कि इसके मन में राज्य या सरकारों के प्रति विरोध बढ़ता गया। यह अपने अराजवाद सिद्धान्त की अच्छी तरह व्याख्या, टीका और प्रचार नहीं कर सका था कि सन् १८७६ में इसका देहान्त हो गया। लेकिन इसके सिद्धान्त ने दूसरे विचारशीलों को अपनी ओर आकर्षित किया

और उन्होंने इसकी व्याख्या करके इसका विकास किया। ऐसे विद्वानों में प्रिंस क्रोपोटकिन का नाम खास तौर से जिक्र करने योग्य है।

बकुनिन कार्ल मार्क्स के समय में हुआ। वह उससे सिर्फ परिचित ही न था, बल्कि उसकी योग्यता और विद्वत्ता को भली भांति मानता था। तो भी दोनों के सिद्धान्तों में बहुत मतभेद था। मार्क्स की कल्पना में भावी समाज का जो चित्र था, उसमें राजसत्ता का भी स्थान था; हाँ, वह राजसत्ता को लोकसत्ता के आधार पर स्थापित करना चाहता था। उसका कथन था कि समाज से राजसत्ता को हटा देने से ही आर्थिक विषमता या शोषण का अन्त नहीं हो जायगा। इसलिए राज्य को हटाने के बजाय उसका संगठन इस तरह किया जाना चाहिए कि समाज में श्रेणी-भेद न रहे, और एक श्रेणी का दूसरी के द्वारा शोषण न हो सके। इसके विरुद्ध बकुनिन राजसत्ता का पूर्ण विरोधी था, उसे किसी भी तरह के शासन को समाज-व्यवस्था में स्थान देना सहन न था।

अराजवादियों का मत है कि राज्य का आधार बल-प्रयोग है, और समाज में किसी व्यक्ति पर बल-प्रयोग न होना चाहिए, इसलिए समाज से शासन-प्रणाली उठा दी जानी चाहिए; बिना शासन के भी समाज में सुव्यवस्था रह सकती है। सुव्यवस्था के लिए मौजूदा ढंग की पुलिस या कानूनों की ज़रूरत नहीं है, इनके द्वारा बल-प्रयोग होता है, और वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आघात पहुँचता है।

समाज के आर्थिक संगठन के सम्बन्ध में अराजवादियों का मत समाजवादियों से कुछ-कुछ मिलता है। दोनों का मत है कि उत्पत्ति के साधनों पर सब लोगों का अधिकार समान रूप से होना चाहिए। लेकिन अराजवादियों का मत है कि काम करने के लिए किसी को मजबूर न किया जाय। आदमी स्वभाव से ही काम करना पसन्द करता है। यदि संयोग से कभी कोई आदमी काम न करे तो भी उसे पैदावार या तैयार माल में से हिस्सा मिलना चाहिए। इस बात में समाजवादी

सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार तो हरेक आदमी को काम करना ही चाहिए, और जो आदमी काम न करे, उसे उत्पन्न पदार्थों में कुछ हिस्सा भी न मिलना चाहिए।

समाजवादी और अराजवादी दोनों निजी पूँजी का विरोध करते हैं, लेकिन समाजवादियों का मत है कि जब राज्य ही सब पूँजी का मालिक होगा तो उस पूँजी से सभी को लाभ पहुँचेगा, एक वर्ग दूसरे का शोषण न कर सकेगा। इसके विरुद्ध, अराजवादियों का कथन है कि जिस तरह बड़ा पूँजीपति साधारण आदमियों का शोषण करता है, इसी तरह राज्य भी, पूँजीपति हो जाने पर समाज के व्यक्तियों पर अत्याचार कर सकेगा। इसलिए वे राज्य का रहना ही अनुचित समझते हैं। इससे ज़ाहिर है कि समाजवाद और अराजवाद में कहाँ तक मेल है, और किन बातों में मतभेद है।

पैंतालीसवाँ अध्याय

फैसिज़्म और नाजिज़्म

[१]

फैसिज़्म और नाजिज़्म ये दोनों विचार-धाराएँ इसी सदी की हैं। ये पहले योरपीय महायुद्ध के बाद शुरू हुईं; और दूसरे योरपीय महायुद्ध ने इन्हें करीब-करीब खत्म कर दिया। इनका विस्तार परिमित क्षेत्र में ही रहा है, तो भी दूसरे योरपीय महायुद्ध ने दूर-दूर के लोगों को इनके बारे में जानने और विचार करने के लिए मज़बूर कर दिया है। इसलिए इनका कुछ संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है। इन दोनों का उद्देश्य पूँजीवाद को हटाकर समाज में आर्थिक समानता पैदा करना नहीं है, बल्कि यह है कि मध्य श्रेणी की सहायता से निरंकुश शासन या तानाशाही (डिक्टेटरशिप) के रूप में

पूँजीवाद की रक्षा की जाय, और क़ानून के बल पर समाज में शान्ति रखी जाय। पहले फैसिज़्म की बात लें।

स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि फैसिज़्म का प्रारम्भ सन् १९१९ में हुआ। योरपीय महायुद्ध में जीतनेवालों में, होते हुए भी इटली को संधि की शर्तों से बहुत असन्तोष था। वह अपने मित्र जर्मनी को छोड़कर इंगलैंड और फ्रांस से मिला था। उसे आशा थी कि इस कारंवाई से वह बहुत नफे में रहेगा। पर लूट का बहुत सा माल दूसरों ने ही हथिया लिया, इटली को कुछ विशेष न मिला। इधर उसकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी। सरकार जनता के असंतोष और अशांति को दूर न कर सकी। ऐसे अवसर पर मुसोलिनी ने 'फैसिज्म' का सूत्रपात्र किया। उसके आन्दोलन में इटली का हित करने का भाव था। साथ ही रूस में जो समाजवाद की लहर उस समय उठ रही थी, उससे इटली को बचाये रखना भी उसका उद्देश्य था। धीरे-धीरे यह आन्दोलन इटली के लोकमत को अपनी तरफ खींचता गया, और ज्यादह-ज्यादह आदमी इसमें शामिल होते गये। सन् १९२१ में रोम में इसके अनुयाइयों की एक बड़ी सभा हुई और एक राजनैतिक दल का संगठन किया गया।

फैसिज़्म के बारे में इसके जन्मदाता मुसोलिनी के विचार इस प्रकार हैं—"आधुनिक युग का सिद्धाँत फैसिज़्म है। इसके प्रति लोगों के विश्वास, श्रद्धा और उसकी सफलता ने प्रकट कर दिया है कि यह एक जीवित सिद्धान्त है। यह एक राजनैतिक वाद ही नहीं, यह जीवन का दर्शनशास्त्र है, जो मनुष्य-समाज को निरंतर संकटों और युद्ध से बचा कर विकास और पूर्णता की ओर ले जा सकता है। पिछले वर्षों की आर्थिक अव्यवस्था और युद्धों ने कम्यूनिज़्म के अजगर को जन्म दिया है, जो राष्ट्रीय अभिमान, देशभक्ति, धर्म, पारिवारिक जीवन और उच्च श्रेणी को निगले जा रहा है। कम्यूनिज़्म से बचने के लिए ही मैं फैसिज़्म की शरण में आया हूँ। फैसिज्म के अनुसार राष्ट्र-सरकार एक आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति है, जो आचार और कर्तव्य की

रक्षक है। राष्ट्र या सरकार न केवल देश और प्रजा की रक्षा, बाहरी शत्रु और देश में होनेवाली अव्यवस्था से करती है, बल्कि वह प्रजा की आत्मा की रक्षा और उन्नति करती है। वह व्यक्ति से ऊपर देश की आत्मा है।

"फैसिज़्म का उद्देश्य और कार्य संसार में निरन्तर शांति कायम रखना नहीं है। इस प्रकार की शान्ति को न तो हम सम्भव समझते हैं, और न उपयोगी ही। शान्ति की इच्छा को हम त्याग और कायरता से पैदा होने वाली भावना समझते हैं। मनुष्य-समाज को उसके ऊँचे आदर्श और विकास की ओर युद्ध ही ले जा सकता है। युद्ध ही मनुष्य में शक्ति और आचार-बल पैदा करता है। जो सिद्धाँत युद्ध का विरोध कर शांति का प्रचार करते हैं, वे सब फैसिज्म के विरोधी हैं।"

इस मत के अनुसार राज्य को अपने सम्मान और गौरव की रक्षा और वृद्धि करते रहना चाहिए, इसके लिए युद्ध करना और कमज़ोर देशों को किसी-न-किसी बहाने जीतना और अपने अधीन करना आवश्यक है। उत्पादन की उन्नति के लिए ट्रेड-यूनियनों को प्रोत्सहित करना चाहिए। व्यावसायिक हड़ताल नहीं की जा सकती। व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए; व्यक्ति समाज के लिए हैं। पूँजीवाद की रक्षा की जानी चाहिए, पर उसका उपयोग राष्ट्र के लिए हो।

[२]

नाज़िज़्म का जन्म पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद हुआ। उस महायुद्ध के बाद जर्मनी में किसान मज़दूरों को ही नहीं, मध्यम श्रेणी की भी आर्थिक अवस्था बहुत गिर गयी थी। किसानों और मज़दूरों में समाजवादी भावना जागृत हो गयी, वे पैदावार के साधनों पर अपना अधिकार कायम करना चाहते थे। मध्यम श्रेणी को भी समाजवाद पसन्द था, पर किसान मज़दूर आदि में नीची श्रेणियों की अधीनता में नहीं। यह श्रेणी चाहती थी कि पूँजी और पैदावार के साधनों पर राष्ट्र का नियन्त्रण इस तरह हो कि पैदावार या मुनाफे का बंटवारा

मध्यम श्रेणी तक भी होता रहे। इस श्रेणी का नेता बना, हिटलर। उसने 'राष्ट्रीय समाजवाद' आन्दोलन का सूत्रपात किया। उधर जर्मनी के पूँजीपतियों को समाजवादी क्रान्ति का मुकाबला करने की फिक्र हुई। उन्होंने हिटलर के आन्दोलन को उपयोगी समझ कर उसकी आर्थिक सहायता देनी शुरू की। इससे हिटलर का बल बढ़ने लगा। उसके स्वयंसेवकों की संख्या खूब बढ़ गयी। पूंजीपतियों के प्रभाव में हिटलर ने राष्ट्र की संगठित शक्ति से पूंजीवादियों के व्यवसायों की सहायता की। मज़दूरों को कम मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर किया गया, जिससे मुनाफा अधिक हो, और मुनाफे से नये-नये व्यवसाय चलाये जायँ, तथा बेकारों को काम मिले। नये व्यवसायों से ज्यादहतर युद्ध का सामान तैयार कराया गया। जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसके सामने साम्राज्य-विस्तार, जर्मन जाति की उच्चता और श्रेष्ठता आदि की बातें रखी गयी।

नाज़िज्म के बारे में इसके जन्मदाता हिटलर के कुछ विचार इस प्रकार हैं—"आज जिस भूमि पर हम टिके हुए हैं, वह भूमि हमें देवताओं ने वरदान के रूप में नहीं दी है, न दूसरी जातियों ने हमें इस भूमि का दान दिया है। हमारे बुजुर्गों ने भूमि के इस टुकड़े के लिए जान जोखिम में डालकर युद्ध किया है, और इसे तलवार के बल पर जीता है। जीवन का यही मार्ग है। इस समय केवल जर्मन जाति ही शुद्ध आर्यजाति है और, इसे संसार भर में अपनी प्रभुता स्थापित करने का अधिकार है।।" हिटलर ने निश्चय किया था कि पहले तो जर्मनी की सीमा से मिले हुए छोटे-छोटे देशों पर अधिकार जमाया जाय, पीछे दूसरे देशों पर। रूस की उपजाऊ भूमि और खानें जीत कर, अपनी शक्ति बढ़ाने के बाद संसार पर आधिपत्य कायम करने लायक शक्ति संचय की जाय।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि योरप में दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों का बना रहना, और (पहले) महायुद्ध के बाद और भी अधिक साधन-सम्पन्न हो जाना हिटलर को सहन नहीं था, खासकर जब कि

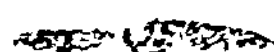
महायुद्ध में हारने के बाद जर्मनी की आर्थिक दशा बहुत खराब होगयी थी, और विजयी मित्र-राष्ट्रों ने उस पर कई कड़े और अपमानजनक प्रतिबन्ध लगा दिये थे। उसने जर्मन जनता को उभाड़ा, हिन्सा की भावना चेतन की। उसका नतीजा हुआ, नाजिज़्म और दूसरा महायुद्ध।

फैसिज्म की तरह नाजिज़्म भी राज्य के सामने व्यक्ति की उपेक्षा करता है। इसके अनुसार राज्य की उन्नति को ही व्यक्ति अपनी उन्नति समझे और उसके वास्ते अपना तन मन धन अर्पण करने को हर घड़ी तैयार रहे। राज्य ध्येय या साध्य है, और व्यक्ति उसके लिए एक साधन मात्र है। इस तरह नाजिज्म और फैसिज्म आपस में मिलते-जुलते हैं, पर नाजिज्म में कुछ विशेषता है। हिटलर ने इस विचार को खूब फैलाया कि जर्मन लोग आर्य जाति की सबसे श्रेष्ठ शाखा के हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति संसार भर में सबसे ऊंची है, इस जर्मन जाति को शुद्ध रखना हमारा परम कर्तव्य है। भारतीय पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि जाति बिरादरी का घमंड कैसे-कैसे झगड़ों का कारण होता है, और योरप अमरीका की गौरांग जातियों ने अपने रंग वालों को ऊंचा मान कर संसार में कितना विनाश-कार्य किया है। हिटलर की यह 'जर्मन जाति की श्रेष्ठता' की बात भी उसी श्रेणी की है; और, जर्मनी के बलवान प्रभुता-प्राप्त लोगों में इस भावना का विष फैलना बहुत ही अनर्थकारी हुआ है।

नाजीवाद पूंजीवाद से होनेवाली बुराइयों को दूर नहीं करता; यह तो गरीबों या मजदूरों का दमन और नियंत्रण करते हुए पूंजीवाद को कुछ दूसरे रूप में बनाये रखना चाहता है। समय का प्रवाह पूंजी-वाद को नष्ट करने के पक्ष में है। नाजिज़्म या फैसिज्म आदि इस को रोक नहीं सकते; हाँ ये इस कार्य के होने में कुछ विलम्ब लगा सकते हैं। पर ऐसी बाधाओं के होते हुए भी मनुष्य जाति की प्रगति समाजवाद और सर्वोदय की ओर है। समाजवाद के बारे में पहले लिखा जा चुका है; सर्वोदय के सम्बन्ध में, अगले अध्याय में लिखा जायगा।

———

छियालीसवाँ अध्याय
सर्वोदय



गांधीवाद का सम्पूर्ण प्रयत्न सत्य की प्राप्ति को उद्देश्य बना कर, अहिन्सा के साधन द्वारा सर्वोदयवादी समाज-व्यवस्था का निर्माण है। आध्यात्मिक या नैतिक मापदंड के कारण गांधीवाद मार्क्सवाद से कहीं आगे बढ़ा हुआ है। —मगनलाल कोठारी

'समाजवाद' के अध्याय के अन्त में हमने कहा था कि मानव प्रगति में इसके आगे की मंजिल गांधीवाद या सर्वोदय है, अब हमें उसके आर्थिक तथा अन्य पहलुओं पर विचार करना है।

शुरू में ही यह साफ कर देना है कि 'गांधीवाद' नाम खुद महात्मा गांधी पसन्द नहीं करते* और इसके स्वरूप का अभी विकास हो रहा है, इसे अभी अन्तिम रूप नहीं मिला है; इसलिए हम भी इस नाम का उपयोग न कर इसकी जगह 'सर्वोदय' कहना ठीक समझते हैं। यह जाहिर ही है कि हम इसमें सत्य और अहिन्सा आदि उन सिद्धान्तों का समावेश करते हैं, जिनका प्रयोग महात्मा गांधी कर रहे हैं, या उनके नेतृत्व में हो रहा है, और जिनके कारण एक नयी समाज-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

सर्वोदय को अच्छी तरह समझने के लिए इसकी समाजवाद से तुलना करना और यह विचार करना उपयोगी होगा कि इसमें क्या विशेषताएँ हैं। सर्वोदय और समाजवाद में पहला अन्तर यह है कि समाजवाद यह मान कर चलता है कि समाज में दो अलग-अलग

* गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है। आप मेरे नाम से चिपटे रहेंगे तो दुनिया आप पर हंसेगी; लेकिन एक दूसरा खतरा भी है, वह बड़ा भयंकर है। वह यह कि आप कहीं एक सम्प्रदाय न बन जायँ।'— म० गांधी।

स्वार्थवाले वर्ग हैं, जिनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। इस विचारधारा के अनुसार शोषित वर्ग अर्थात् सर्वहारा दल को यह अधिकार है कि या वह शोषक (पूंजीपति) या शासक वर्ग का क्रान्ति द्वारा अन्त करके अपनी सत्ता कायम करले। इसमें हिन्सक क्रान्ति को खुल खेलने का पूरा अवसर है। इसके विरुद्ध सर्वोदय यह विश्वास करता है कि हरेक मनुष्य में सत्प्रवृत्ति होती है, किसी में कम और किसी में ज्यादह। सर्वोदय चाहता है कि मनुष्य की सत्प्रवृत्ति को, सारी सृष्टि में अपनापन अनुभव करने की भावना को जगाया जाय। यह कार्य अहिन्सा, प्रेम और सेवा से ही हो सकता है। इसमें हिन्सा का कोई स्थान नहीं है। इसलिए सर्वोदय अहिन्सा की शक्ति और उपयोगिता मानता है। उसका तरीका सत्याग्रह का तरीका है, संघर्ष का नहीं। वह हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है, और संघर्ष, दमन या शारीरिक बल के प्रयोग को त्याज्य मानता है। वह यही कोशिश करता रहता है कि विरोधी या विपक्षी अपनी इच्छा से सत्याग्रही की बात मान ले।

समाजवाद का सिद्धान्त है कि राज्य भर के सब आदमियों की सम्पत्ति का अधिकार राज्य को हो, किसी आदमी के पास कोई निजी सम्पत्ति न हो। हरेक आदमी की निजी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जाय, और सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण हो। इसके विरुद्ध सर्वोदय में किसी भी आदमी के पास अपनी निजी सम्पत्ति हो सकती है, और उस सम्पत्ति का परिमाण भी चाहे जितना हो। हाँ, यह शर्त ज़रूर है कि सम्पत्ति का अधिकारी अपने आपको उस सम्पत्ति का ट्रस्टी या अमानतदार समझे और उसका उपयोग समाज की एक अमानत या धरोहर के रूप में करे, वह उसे अपने निजी भोग-विलास में खर्च न करे। अगर कोई धनी अपने धन के उपयोग में यह शर्त पूरी नहीं करता तो जनता को अधिकार है कि वह उसे ट्रस्टी न रहने दे; हाँ, इसमें भी अहिन्सात्मक उपायों से ही काम लिया जाय।

समय-समय पर लोगों ने अपनी निजी सम्पत्ति का उपयोग अपने

स्वार्थ साधन के लिए, और दूसरों का शोषण करने के लिए किया है। यही कारण है कि समाजवाद निजी सम्पत्ति के विरुद्ध है; और सर्वोदय उसकी अनुमति देता है तो ऐसी शर्त लगा देता है कि जिससे उसका दुरुपयोग न हो सके। अलङ्कार के रूप में ऐसा कह सकते हैं कि समाजवाद बिच्छू जैसे ज़हरीले जानवर को मार डालता है तो सर्वोदय उसे इस तरह ज़िन्दा रहने देता है कि उसके ज़हर से किसी को हानि न पहुँचे, और उस जानवर का उपयोग किसी अच्छे काम में हो सके।

समाजवाद और सर्वोदय में एक अन्तर यह है कि समाजवाद सामूहिक या केन्द्रीय उत्पादन के पक्ष में है। उसके अनुसार राज्य के अधिकार में बहुत बड़े-बड़े खेत और विशालकाय कारखाने हों, और उनमें मशीनों या यन्त्रों से खूब काम लिया जाय। इसके विरुद्ध, सर्वोदय का दृष्टिकोण यह है कि मशीनों में सब आदमियों को हमेशा के लिए काम नहीं मिलता। किसी राज्य में कुछ वर्षों तक उनके द्वारा उपयोगी चीज़ें बनायी जा सकती हैं। उसके बाद ऐसा समय आ जायगा कि लोगों की उस समय की ज़रूरतें पूरी हो जायँगी। पीछे उन्हें जितनी चीजों की ज़रूरत रहेगी, मशीनें उससे अधिक चीजें बनायेंगी। यह मान लिया कि लोगों की ज़रूरतें बढ़ती रहती हैं, पर नयी-नयी मशीनों का आविष्कार होने से उनकी उत्पादन शक्ति भी तो बढ़ती जाती है। ऐसी दशा में या तो कम ज़रूरी या अनावश्यक चीजें बनायी जायँगी, और जरूरतें बढ़ाने को प्रोत्साहन दिया जायगा, या अगर मशीनें कम घंटे चलायी जाने लगीं तो मशीनों का यथेष्ट उपयोग न होगा, या बहुत से आदमियों का श्रम बेकार जायगा, और साथ ही सब आदमियों का अवकाश का समय इतना अधिक होगा कि उसके उपयोग करने की एक नयी समस्या पैदा होगी। पिछले बहुत से वर्षों में मशीनों को आदमियों के शोषण के काम में लाया गया है। राज्य द्वारा उनका संचालन होने पर यह बात न भी हो, तो मशीनों का शोरगुल और धुआँ, स्थान और सफाई की कमी, कल-कारखानों के पास बहुत अधिक आदमियों का रहना—ऐसी

बातें हैं कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बहुत धक्का पहुँचाती है। इस दिशा में सुधार हो रहा है, और आगे और अधिक होना सम्भव है, परन्तु सब बुराइयों का पूरा सुधार होने की आशा नहीं है। इसलिए सर्वोदयवादियों का मत है कि उत्पत्ति का केन्द्रीकरण न हो, यानी एक ही जगह बहुत ज्यादह सामान न पैदा किया जाय, और न तैयार ही हो। बड़ी-बड़ी मशीनों और उनके वातावरण की बुराइयों से बचा जाय। गृह-उद्योग धंधों का विकास और विस्तार हो। आदमी ऐसी बस्तियों में रहें जहाँ बहुत भीड़ न हो, और खुली हवा और प्राकृतिक प्रकाश का आनन्द मिले।

ध्यान रहे कि सर्वोदय सभी प्रकार की मशीनों का विरोधी नहीं है। म० गांधी ने कहा है—"हमें अपनी सारी शक्ति देहात को आत्म-निर्भर बनाने पर ही केन्द्रित करनी चाहिए। देहात में उत्पादन केवल उपयोग के लिए हो। ग्राम-उद्योगों का यह आवश्यक लक्षण कायम रखते हुए देहाती ऐसी कलों का भी उपयोग कर सकते हैं, जिन्हें वे खुद बना सकें और उपयोग में ला सकें। शर्त इतनी ही है कि उनका उपयोग दूसरों को चूसने के लिए हरगिज़ न हो।"

अब जरा यह भी विचार कर देखें कि समाजवाद और सर्वोदय का राजसत्ता के बारे में क्या विचार है। समाजवाद समाज की ऐसी स्थिति लाना चाहता है कि कोई आदमी किसी का शोषण न कर सके। उसका अन्तिम ध्येय हिन्सा को दूर कर देना है। सर्वोदय भी अन्त में केन्द्रीय सत्ता को हटा देने का ही समर्थक है। इसके अनुसार सत्ता सङ्गठित हिन्सा की द्योतक है। यह ऐसी समाज-व्यवस्था चाहता है, जिसमें अधिकार छोटी-छोटी संस्थाओं में बंटे हुए हों; वे संस्थाएँ स्वावलम्बी हों, और उन सब का आपस में सहयोग हो। इस तरह समाजवाद और सर्वोदय दोनों की दृष्टि से समाज-व्यवस्था के अन्तिम स्वरूप में भेद नहीं है; भेद सिर्फ बीच की अवस्था के लिए है। इस अवस्था के लिए दोनों के विचार से केन्द्रीय सत्ता आवश्यक मानी जाती है, लेकिन जबकि समाजवाद हिन्सा का भी उपयोग कर सकता

है, सर्वोदय केन्द्रीय सत्ता को हिन्सा का व्यवहार करने की अनुमति या इजाज़त नहीं देता। म० गांधी के, अहिन्सक सेना की आवश्यकता और उपयोगिता सम्बन्धी कुछ विचार सत्ताईसवें अध्याय में दिये जा चुके हैं।

पराधीन देश अपने आप को किस प्रकार आजाद करे, इस विषय में भी समाजवाद और सर्वोदय की नीति जानने योग्य है। समाजवाद को तो (हिन्सक) सेनाओं के संगठन और उपयोग में विश्वास है; उसे शस्त्रास्त्र काम में लाने में कोई संकोच नहीं होता। सर्वोदय की नीति म० गांधी के नीचे लिखे शब्दों से स्पष्ट हो जायगी—"यदि देश में रचनात्मक कार्यक्रम पर जनता द्वारा व्यापक अमल किया जाय तो अहिन्सक सविनय अवज्ञा अथवा पार्लिमेंटरी कार्यक्रम के बिना भी भारत को पूरी आजादी मिल जायगी। उस दशा में दोनों में से किसी एक की भी आवश्यकता न पड़ेगी। अंगरेजों को शासन करने के लिए हिन्दुस्तान में रहना लाभदायक प्रतीत न होगा। यदि वे चाहेंगे तो पूरे नागरिक की हैसियत से यहाँ ठहर सकेंगे। सन् १६४२ की भाषा में, शासकों के रूप में वे भारत को छोड़ देंगे; क्योंकि उनके सैनिकों के पास कोई धंधा नहीं रह जायगा। उनके विशाल उद्योगों का कोई उपयोग नहीं हो सकेगा।" यह है एक सच्चे सर्वोदयवादी की विचार-धारा! वह रचनात्मक कार्य की शक्ति को जानता है, और अगर इसमें कोई बाधा डाली जाती है तो वह सत्याग्रह का उपयोग करता है। उसका सब काम अहिन्सात्मक तो होता ही है। इस तरह वह विपक्षी को और अधिक हिन्सक न बना कर, और उसमें सत्प्रवृत्तियों को जगा कर उसका भी हित साधन करता है। वह उसका भी उदय या उत्थान चाहता है।

सर्वोदय और समाजवाद में कुछ भेद है तो कुछ समानता भी है। खुद महात्मा जी ने इस विषय के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"समानता तो काफी है। 'सबै भूमि गोपाल की' बन जाय, यह तो मैं भी मानता हूँ। सब सम्पत्ति प्रजा की है, यह भी मैं मानता हूँ।

भेद यही है कि वे लोग कहते हैं कि इसका प्रारम्भ सब एक साथ करें। मैं कहता हूँ कि अपने व्यक्तिगत आचार में तो इसका प्रारम्भ हमें तुरन्त कर देना चाहिए। यदि इसमें श्रद्धा है तो कम-से-कम हम निजी जायदाद तो समाज को अर्पण करदें। एक भी कौड़ी जब तक कोई रखेगा, तब तक वह समाजवादी नहीं है। वे कानून से काम लेना चाहते हैं। कानून में दबाव होगा। आज वे यह सब जो कहते नहीं, इसका कारण तो यह है कि यह उनके वश की बात नहीं, असमर्थ साधु हैं। समाजवादी जबरदस्ती करना चाहते हैं। पर वे लाचार हैं। हम डेमोक्रेट जनसत्तावादी हैं।"

इस तरह समाजवाद और सर्वोदय में, समाज-व्यवस्था के अन्तिम रूप में कोई भेद न होकर, बीच की अवस्था के सम्बन्ध में, और साधनों के उपयोग या कार्यपद्धति के विषय में ही भेद है। स्थायित्व की दृष्टि से सर्वोदय की पद्धति श्रेष्ठ है। समाजवाद का आधार भौतिकवाद है, और सर्वोदय आध्यात्मिक या धार्मिक पहलू पर जोर देता है। यह आदर्शवादी है। इसे हिन्सा की सफलता में विश्वास नहीं है, और अकसर देखने में यही आया है कि हिन्सा से जो सफलता मिलती है, वह क्षणिक और अस्थायी होती है। इतिहास में इसकी मिसालें भरी पड़ी है। यहाँ एक मिसाल देना काफी होगा। अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से में फ्रांस की सैनिक शक्ति ने जर्मनी को सताया और नीचा दिखाया। उससे जर्मनों को अपना राष्ट्र-बल बढ़ाने की उत्तेजना मिली, जिसका सबूत उन्होंने अलसेस-लारेन पर अधिकार जमाकर दिया। इस पर फ्रांस के मन में बदला लेने का भाव जागा। फ्रांस और जर्मनी का मनमोटाव बढ़ता गया। फल-स्वरूप १९१४-१८ का महायुद्ध आया। उसमें विजयी पक्ष ने जर्मनी को सदा के लिए ठंडा करने का आयोजन किया। जर्मनी में बदला लेने की भावना बढ़ती गयी। हिन्सा का वृक्ष १९३९ में फल लाया। एक ही पीढ़ी में दूसरा महायुद्ध! एक युद्ध का परिणाम दूसरा युद्ध, दूसरे का परिणाम तीसरा—यह सिलसिला कभी समाप्त ही होने में नहीं आता।

म०गांधी ने ठीक कहा है कि 'अनुभव ने मुझे यह विश्वास करादिया है कि स्थायी अच्छाई हिंसा और असत्य से हरगिज हासिल नहीं की जा सकती।'

अभी तक हमने खासकर देश के भीतरी विषयों पर ही विचार किया। 'सर्वोदय' तो संसार के सभी देशों का हित करनेवाला होता है, उसकी नीति विश्वबंधुत्व की यानी सब जातियों, सब रंगों और सब मजहबों के आदमियों से भाईचारे की, होती है। इसे अच्छी तरह समझने के लिए हम समाजवादी रूस की वैदेशिक नीति पर एक नजर डालें। इसमें सन्देह नहीं कि रूस की क्रान्ति (१९१७) को प्रेरणा सन् १८४८ की उस कम्युनिष्ट घोषणा से मिली थी, जिसका नारा था 'संसार भर के मज़दूरों! एक हो जाओ।' लेनिन ने यह घोषणा की थी कि संसार की पद-दलित जनता रूस के विजयी किसानों और मजदूरों के नेतृत्व में विश्वक्रान्ति की ओर बढेगी। इसी उद्देश्य से तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघ ('थर्ड इन्टरनेशल') की स्थापना की गयी थी। इस तरह रूसी क्रान्ति के नेता अन्तर्राष्ट्रवादी थे; पर जब इस नीति को अमल में लाने का सवाल सामने आया तो वे एक मत न हो सके। पूंजीपति और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के सामने रूस की कमजोरी का अनुभव करके, स्टेलिन रूस में ही क्रान्ति की जड़ मज़बूत करने के पक्ष में रहा। और, अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का समर्थक ट्राट्स्की रूस से भाग कर विदेशों में मारे-मारे फिरा, कर अन्त में उसे वहाँ ही अपने प्राण गँवाने पड़े।

सन् १९२७ से १९३३ तक रूस आत्म-रक्षा में लगा रहा, उसने किसी राष्ट्र पर हमला नहीं किया, और इसके बाद भी उसने चीन और स्पेन की अग्रगामी शक्तियों को मदद दी। लेकिन वह विश्व-क्रान्ति की ओर नहीं बढ़ा, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सन् १९४३ में तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघ को भंग करके, उसने विश्व-क्रान्ति के विचार को तिलांजलि ही दे डाली। इस महायुद्ध में भाग लेते समय उसने इस बात का आग्रह नहीं किया कि उसके साथी

अपनी साम्राज्यवादी नीति को छोड़ दें और हर एक देश की स्वतंत्रता के सिद्धान्त को मान्य करें। इस तरह साम्राज्यवादी शक्तियों का साथ देनेवाले रूस की वैदेशिक नीति सर्वोदय से मेल नहीं खाती।

इसके विरुद्ध, भारतवर्ष की विदेश-नीति का विचार करें। यह ठीक है कि पराधीनता की हालत में यह देश अपनी विदेश-नीति में स्वतन्त्र नहीं है; सरकारी तौर से इसकी नीति वही होती है, जो इसके साम्राज्यवादी अधिकारी ठीक समझते हैं, और वे तो अकसर यहाँ की फौजों से दूसरे देशों में दमन का काम लेते रहते हैं। उनकी बात छोड़ कर हमें म० गांधी और उनकी देख-रेख में काम करनेवाली कांग्रेस की नीति का विचार करना चाहिए। इन्होंने जापान का उसी समय विरोध किया, जब उसने चीन पर आक्रमण आरम्भ किया; इटली का विरोध किया, जब कि उसने एबिसीनिया को दबाना शुरू किया; जर्मनी का विरोध किया जब कि वह आस्ट्रिया और चेकोस्लेविया को हड़प करने लगा था। याद रहे, इन अवसरों पर इंगलैंड आदि ने बड़ी कमजोरी दिखायी थी, और घातक चुप्पी साधी थो। फिर जब सन् १६४५ में ब्रिटिश सेना ने इंडोनेशिया आदि की स्वाधीनता-प्राप्ति उसका में बाधा डाली और हिन्सा कांड किया तो यहाँ कांग्रेस-नेताओं ने उसका खुलेआम स्पष्ट विरोध किया। इस प्रकार राष्ट्रीय भारत की नीति सर्वोदय की भावना के अनुसार रही।

सर्वोदय चाहता है कि जनताओं या राष्ट्रों को अधीन न किया जाय, उनका शोषण न हो, और शोषण करनेवालों का साथ न दिया जाय, चाहे वे नाजीवादी, साम्राज्यवादी या कोई और वादी हों। सर्वोदय सब पीड़कों और शोषकों का विरोध करता है उसका यह विरोध अहिन्सात्मक ढङ्ग से होता है। और, यह मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकारी होता है।

नवाँ भाग

उपसंहार



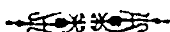
मनुष्य की अब तक की प्रगति हम को उस नवयुग की रूप-रेखा का संकेत देती है, जिसकी प्रतीक्षा हम सब कर रहे हैं, जिसमें मनुष्य सचमुच मनुष्य होगा, और जीवन का सूत्र संघर्ष के स्थान में सहयोग होगा।

—सम्पूर्णानन्द

नर में ही तो नारायण है; यह बात अरे क्यों भूल रहे ?
करलो पूजा उन भूखों की, मैं शंख बजाने आया हूँ—
मानव, मानव का पूज्य बने, मैं यही सँदेशा लाया हूँ।
मैं गीत सुनाने आया हूँ॥

—वृन्दावन नामदेव

सैंतालीसवाँ अध्याय
प्रगति का सिंहावलोकन



पिछले अध्यायों में इस बात का विचार किया गया कि आदमी ने शुरू से अब तक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा सामाजिक, राजनैतिक, मानसिक और आर्थिक आदि विविध क्षेत्रों में कहाँ तक प्रगति की है। अब इस सारी प्रगति पर एक नज़र डालना उपयोगी होगा। इससे उसके बारे में कुछ राय कायम करना और भावी कार्यक्रम पर विचार करने में सुविधा होगी।

अभी तक कहीं-कहीं जंगलों या पहाड़ों पर कुछ आदमी करीब-करीब शुरू की हालत में रहते हुए मिलते हैं, उनसे तुलना करने पर बहुत आसानी से इस बात का अन्दाज लगाया जा सकता है कि आदमी उस हालत से कहाँ तक बदला है, उसने अब तक कितनी प्रगति की है।

आधुनिक आदमी ने जमीन और समुद्र पर बहुत कुछ विजय पाली है। जमीन पर वह अब पैदल बहुत कम चलता है। बहुत समय हुआ, उसने घोड़े या ऊंट आदि पर सवार होकर या बैलगाड़ी, घोड़ा-गाड़ी आदि में चलना शुरू किया था। पीछे साइकल, ट्राम, मोटर आदि सवारियों का चलन हुआ। रेलों ने दूर-दूर की यात्रा को आसान कर दिया है। समुद्र में अब आदमी नाव या किश्ती की यात्रा से संतोष नहीं करता, अब तो बड़े-बड़े जहाजों की बात है, जो भाप या बिजली से चलते हैं, और हजारों आदमियों को एकसाथ ले जाते हैं और कुछ घंटों में कहीं-का-कहीं पहुँचाते हैं। जमीन और समुद्र पर प्रगति करते-करते आदमी आकाश में भी घूमने, और वायु को वश में करने, लग गया है। हवाई जहाजों द्वारा आदमी और सामान ढोने में

लगातार तरक्की की जा रही है। हाँ, अभी संसार के अनेक भाग ऐसे हैं, जिनमें यात्रा करना बहुत आसान नहीं हुआ, यहाँ यातायात के साधनों की पहुँच बहुत कम हुई है। लेकिन तरक्की की रफ़्तार को देखते हुए आशा है, धीरे-धीरे इसमें सफलता मिल जायगी।

सभ्यता की वृद्धि के लिए आदमी ने प्रकृति पर—भौतिक पदार्थों, पशुओं, ज़मीन, समुद्र, हवा और आकाश आदि पर—बहुत-कुछ विजय प्राप्त कर ली है; समय और दूरी को काबू में करने की कोशिश की है, भाप, हवा, बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग किया है। यह काम अभी चल रहा है। आगे-आगे इसमें और अधिक सफलता मिलने की आशा है। पर क्या यही काफी है? क्या आदमी इस से सुखी जीवन बिता रहा है?

यह ठीक है कि पुराने जमाने के मुकाबले में अब आदमी की बहुत सी कठिनाई दूर हो गयी है। जिन कामों के लिए पहले बहुत मरना-खपना पड़ता था, और जो फिर भी अच्छी तरह नहीं हो पाते थे, वे अब आसानी से, बहुत थोड़ी मेहनत से, और बहुत जल्दी हो जाते हैं। आदमी को अब फ़ुरसत बहुत मिल सकती है। लेकिन कितने आदमी हैं, जो इस फ़ुरसत के समय का ठीक उपयोग करते हैं! बहुत से आदमी तो इस फ़ुरसत के कारण आलसी और बेकार हो गये हैं। वे नहीं जानते कि वे क्या काम करें, और किस तरह अपना समय बितावें। नित्य नये मनोरञ्जनों का आनन्द लेते हुए भी उनके सामने अपना समय काटने की समस्या बनी रहती है। फिर ये फ़ुरसत वाले आदमी, कुल मनुष्य जाति के विचार से बहुत थोड़े ही तो हैं। अधिकाँश जनता को अब भी अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए दिन-रात पसीना बहाना पड़ता है। फिर भी उन्हें अपना गुजारा करने के लिए काफी भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता; दूसरी चीज़ों का तो जिक्र ही क्या किया जाय!

हमारी आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था दूषित होने का प्रबल प्रमाण मौजूद है। अकाल या दुर्भिक्ष अब भी जनता को बहुत सता

रहे हैं। बहुत सी उपयोगी चीजों का परिमाण बहुत बढ़ा हुआ है। परन्तु समाज में उनका बँटवारा इस तरह होता है कि कुछ थोड़े से आदमियों के पास तो उनकी ज़रूरत से कहीं अधिक सामान है, और बहुत से आदमियों के पास उनके गुज़ारे लायक भी नहीं हैं। संसार के हर देश में मुट्ठी भर आदमी धनवान या पूँजीपति हैं, कुछ थोड़े से ऐसे हैं, जिनका किसी तरह काम चलता है, और शेष आदमी गरीबी की चक्की में पिसे जा रहे हैं। जबकि अमरीका और इंगलैंड जैसे उन्नत देशों में भी बेकार और गरीब आदमियों की बहुत शिकायतें हैं, तो भारतवर्ष, चीन और अफ्रीका आदि के गरीबों की दुर्दशा का क्या ठिकाना!

लोगों का स्वास्थ्य भी संतोषजनक नहीं है। जिन देशों में चिकित्सा-विज्ञान की बहुत उन्नति हो चुकी है, वहाँ भी कितने ही आदमी पूरे तौर से बहरे, अंधे, और पागल आदि मिलते हैं। अनेक आदमी कल-कारखानों या यात्रा सम्बन्धी दुर्घटनाओं से मरते रहते हैं। और उनकी तादाद तो और भी अधिक है, जो किसी बीमारी के कारण हफ्तों या महीनों तक अपना साधारण रोज़मर्रा का काम करने में असमर्थ रहते हैं।

जो आदमी अपने शरीर से समर्थ और तन्दुरुस्त होते हैं, उनमें से बहुत अपने कार्यों से समाज का जितना चाहिए उतना हित नहीं करते। बहुतों की शक्तियों का विकास ही नहीं हुआ है, उन्हें आवश्यक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की सुविधा या अवसर नहीं मिला है। संसार के बहुत से देशों में अशिक्षित, अनपढ़, अकुशल आदमी भरे पड़े हैं। इन आदमियों की उपयोगिता कम होती है, और इनसे काम लेने पर समाज बहुत घाटे में रहता है। ठीक-ठीक ऐसा हिसाब लगाना तो बहुत मुश्किल है कि अगर किसी देश में सब आदमी पूरी तरह से शिक्षित, कुशल और समझदार हों तो वहाँ कितना अधिक काम हो सकता है, और मौजूदा हालत में कितनी कमी रहती है; तो भी इसमें कोई शक नहीं कि इस समय न केवल अवनत या पिछड़े

हुए कहे जानेवाले देशों में वरन् उन्नत देशों में भी आदमी की शक्ति या योग्यता से बहुत कम लाभ उठाया जा रहा है। कितने ही आदमी बेकार रहते हैं, कितने ही आलस्य, नशे, विलासिता या आरामतलबी में पड़े रहते हैं, कितनों ही को उनकी रुचि और योग्यता का काम नहीं मिलता, वे गोल सुराखों में चौकोर कीलों की की तरह बेमौजूँ रहते हैं।

इस ज़माने में आदमी हर एक वस्तु का अधिक-से-अधिक उपयोग करने का उपाय निकालने की धुन में हैं। विज्ञान और मशीनों से इस काम में अच्छी मदद मिल रही है। मिसाल के तौर पर गन्ने में से रस, तिल में से तेल, या दूध में से मक्खन निकालने की बात लीजिए। पहले जो ढँग काम में लाये जाते थे, उनसे ये चीज़ें बहुत कम निकलती थीं। धीरे-धीरे उन्नति करने से अब इनका परिमाण पहले से बहुत बढ़ गया है, फिर भी इस बात की कोशिश जारी है कि आगे और अधिक सुधार किया जाय। यह भी विचार किया जाता है कि गन्ने की खोई, तिलों की खल, और दूध में से बचनेवाला मट्ठा किस काम में लाया जाय कि वह अधिक-से-अधिक उपयोगी हो। जबकि आदमी दूसरे पदार्थों का उपयोग करने और उनकी उपयोगिता बढ़ाने की ओर इतना ध्यान दे रहा है तो क्या उससे यह आशा न की जाय कि वह स्वयं अपने आपको अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाये और विकसित करे। अफसोस! ऐसा नहीं है। श्री लियन सी०मारशल ने अपनी पुस्तक 'दि स्टोरी आफ़ ह्यूमन प्रोग्रेस'में ठीक कहा है, कि "उस लेखक का सहज ही विश्वास किया जा सकता है जिसका कथन है कि हम मानवी शक्तियों का बीस फीसदी से अधिक का बुद्धिमत्तापूर्वक उपयोग नहीं कर रहे हैं। कुछ लोगों ने तो यह अंक केवल तीन फीसदी ही ठहराया है।"*

इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों की शिक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा, अर्थनीति व्यापार नीति, समाज-संगठन और राजनीति आदि में इस दृष्टि से कितना सुधार करने की आवश्यकता है। इसके अलावा एक और

बात पर भी गम्भीरता से विचार करना बहुत जरूरी है। आदमी ने प्रकृति पर विजय पाने की तो फिक्र की, पर स्वयं अपने ऊपर विजय पाने की ओर ध्यान नहीं दिया, या यों कहा जाय कि बहुत कम ध्यान दिया। वह अब भी स्वार्थी है; उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह है; वह अहंकारी है, अपनी इन्द्रियों और वासनाओं का दास है। उसे अपने निजी सुख की चाह है। वह कुछ आगे बढ़ता है तो परिवार या कबीले के सुख की बात सोचता है, या साम्प्रदायिकता या संकीर्ण राष्ट्रीयता का परिचय देता है। वह अपने दायरे से बाहर के आदमियों के सुख की चिन्ता नहीं करता। अपने और पराये के भेद का नतीजा यह है कि वह पशुओं की तरह लड़ता है, हाँ, अपनी सभ्यता के सब साधनों का उपयोग युद्ध में करता है। इस तरह जहाँ पुराने जमाने में छोटी-मोटी लड़ाइयाँ होती थीं, अब महायुद्ध और विश्व युद्ध हो रहे हैं।*

मनुष्य जाति की यह कैसी प्रगति या उन्नति है कि उसका एक हिस्सा,दूसरे हिस्से को सताने और नष्ट करने में लगा है। प्राचीन काल में मनुष्य जाति जुदा-जुदा हिस्सों में बंटी थी, बहुत से हिस्सों को एक दूसरे की जानकारी न थी, एक दूसरे के पास जाने आने और सुख दुःख में साथ देने के साधन न थे। हर एक को अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता रहती थी। अब जीवन-निर्वाह की सरल विधि मालूम हो गयी है, दुनिया के जुदा-जुदा हिस्सों में सम्पर्क बढ़ गया है; एक देश से दूसरे देश में जाना और वहाँ के आदमियों से सहयोग करना सम्भव हो गया है। लेकिन ज्ञान और साधनों का उपयोग आदमी अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में कर रहे हैं। आदमी की बुद्धि और दिमाग जितना बढ़ा है, उतना उसका हृदय या दिल या नहीं बढ़ा। वह दूसरों को काफी प्यार नहीं करता, उनके हित का यथेष्ट विचार नहीं करता। लेकिन निराश होने की बात नहीं है; इस दिशा में भी

* युद्धों को निवारण करने के लिए कुछ उपाय सोचे गये हैं, अब भी योजनाएँ बन रही हैं। इसके बारे में पहले लिखा जा चुका है।

कुछ प्रगति होती रही है, हाँ कभी-कभी वह रुक गयी या बहुत कम हुई। ज़रूरत है कि आदमी उदार-हृदय बने, सब को अपना या अपने परिवार का समझे। जाति-भेद, रंग-भेद, वर्ग या सम्प्रदाय-भेद आदि को छोड़कर सब से प्यार करे; सब की सेवा में योग देना अपना कर्तव्य समझे। इस सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा।

अड़तालीसवाँ अध्याय

प्रगति का ध्येय

पिछले अध्याय से यह स्पष्ट है कि आदमी ने कुछ बातों में तो बहुत उन्नति करली है, और कुछ में बहुत कम। फिर, जो उन्नति हुई है, उससे थोड़े से ही आदमी लाभ उठा सकते हैं, अधिकांश आदमी उससे वंचित हैं। सारी मनुष्य जाति का विचार करें तो हजार आदमियों में दो-चार इतने ज़्यादह सम्पन्न हैं, कि खूब विलासिता का जीवन बिता सकते हैं, चालीस-पचास उनसे कुछ कम सम्पन्न हैं, फिर भी ख़ासे मज़े और आराम से रहते हैं, चार-पांच सौ आदमी साधारण तौर से अपना निर्वाह कर लेते हैं, और बाकी सब आदमी ऐसी हालत है कि उन्हें अपना गुजारा करना भी बहुत मुश्किल होता है, इन्हें अकसर रोटी-कपड़े की भी कमी रहती है, ये तरह-तरह की बीमारियों के शिकार होते हैं, और थोड़ी ही उम्र में मर जाते हैं।

जो लोग पैसे वाले हैं, वे अकसर अपने पैसे का उपयोग सिर्फ़ अपने लिए कर रहे हैं, दूसरों के अभाव या दुख दर्द की उन्हें फ़िक्र नहीं। और, जो आदमी ज्ञानवान हैं, वे अपने ज्ञान का आनन्द स्वयं ही लेना चाहते हैं, वे ज्यादह-ज्यादह ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन अपने अनपढ़ भाइयों को लिखा-पढ़ा कर उन्हें अपने नजदीक लाने की कोशिश नहीं करते। ऐसा मालूम होता है जैसे एक टोली के आदमी यात्रा करने निकले, उनमें कुछ एक दिशा में बहुत आगे

बढ़ गये, दूसरे दूसरी दिशा में दूर तक चले गये, इनका समय बहुत सुख से बीताता है, पर बाकी सब आदमी बहुत पीछे और बिखरे हुए हैं, ये बहुत संकट में हैं, आगे बढ़े हुओं से इनका कोई सम्पर्क नहीं रहा, उन्हें इनकी सुध नहीं है। इस तरह चाहे इस टोली की साधना-सम्पति कुल मिलाकर पहले से कहीं अधिक है, लेकिन क्योंकि वह कुछ लोगों के हिस्से में बहुत अधिक है, और दूसरे प्रायः उससे बंचित हैं,इसलिए सारी टोली के विचार से यह प्रगति संतोषप्रद नहीं है, बल्कि अब विषमता बहुत अधिक है।

ज़रूरत है कि हम प्रगति या उन्नति के ध्येय पर गम्भीरता से विचार करें। आदमी के जीवन का उद्देश्य क्या है। इस विषय में जुदा-जुदा विचार हैं। लेकिन आमतौर से यह माना जाता है कि आदमी सुख चाहता है। वह जितने काम करता है उन्हें इसीलिए करता है कि उसकी तरह-तरह की ज़रूरतें पूरी हों, और उसे सुख मिले। यह दूसरी बात है कि आदमी अपने अज्ञान से,या अनुभव की कमी से, कुछ काम ऐसे कर बैठता है कि उनका नतीजा उसके लिए सुखदायी नहीं होता। कितने ही काम ऐसे भी होते हैं कि उनका उस समय का नतीजा तो बड़ा सुखदायी होता है, पर वह सुख बहुत थोड़ी देर का, क्षणिक या अस्थायी होता है; पीछे तो बहुत दुख ही भोगना पड़ता है। मिसाल तौर पर एक आदमी अपनी जीभ के स्वाद का ख्याल करके तरह-तरह की मिठाई या पकवान आदि खाता है। वह इतना खा जाता है कि उसे हज़म नहीं होता, और वह बीमार पड़ जाता है। भोजन करते समय तो उसे खूब आनन्द आया, पर पीछे तो बीमारी का कष्ट ही रह गया, जो सम्भव है कई घंटों ही नहीं, कई दिन तक रहे।

यह जीभ के स्वाद की बात हुई; इसी तरह आँख, नाक, कान, आदि इन्द्रियों के भोगों की बात है। ये सुख थोड़ी देर के होते हैं, पीछे इनसे कष्ट ही मिलता है। यह जानकर भी साधारण आदमी शिक्षा नहीं लेता; वह उन्हीं के पीछे पड़ा रहता है और दुःख भोगता है। एक बात और भी है। आदमी सामाजिक प्राणी है, वह

दूसरों के साथ मिल जुलकर रहता है। एक के दुख-सुख, ज्ञान अज्ञान बीमारी और तन्दुरुस्ती का असर दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहता। अगर हम अपने घर को खूब साफ़ रखें, लेकिन हमारे मोहल्ले में गन्दगी रहती हो तो उसकी बदबू हमारे यहाँ भी आयेगी। अगर, हमारे नगर में बीमारी है तो उसका असर भी हमें भोगना पड़ता है। इसी तरह अगर हमारे आस-पास में ऐसे आदमी रहते हैं जो लड़ते-झगड़ते और गाली-गलोच करते हैं तो हम शान्ति का जीवन नहीं बिता सकते। यह भी सम्भव है कि हमारे बच्चे वैसे वातावरण में रहने से बुरे शब्द इस्तेमाल करने लगें। बात एक नगर तक की ही नहीं है। एक नगर में प्लेग या हैजा आदि महामारी का प्रकोप होने पर जहाँ-जहाँ वहाँ के आदमी जाते हैं, उन सभी जगहों में बीमारी फैलने की आशंका होती है। एक प्रान्त में वर्षा न होने, या बाढ़ आ जाने से जब फसल कम होती है,या नष्ट हो जाती है तो उस प्रान्त से संबंध रखनेवाले बाहर के लोगों को भी बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। फिर अब तो एक प्रान्त का दूसरे प्रान्तों से ही नहीं, एक देश का दूसरे देशों से भी बहुत सम्बन्ध हो गया है, और यातायात के के साधनों की उन्नति के कारण यह सम्बन्ध बढ़ता ही जाता है। इसलिए एक देश के संकट या मुसीबत का असर कई-कई देशों पर पड़ता है। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि गाँव या नगर में एक आदमी अपने पड़ोसियों के, एक प्रान्त के आदमी दूसरे प्रान्तवालों के, और एक देश के निवासी दूसरे देश वालों के सुख-दुख की अवहेलना नहीं कर सकते। सिर्फ अपने स्वार्थ-साधन में लगे रहनेवाले आदमी बहुत समय तक सुखी नहीं रह पाते।

अकसर जो आदमी या जातियाँ भौतिक उन्नति में लगी होती हैं, उसके सम्बन्ध में यही बात लागू होती है। वे सिर्फ अपने सुख की बात सोचती रहती है, दूसरों के दुख दर्द दूर करने की ओर वे ध्यान नहीं देतीं। ऐसी दशा में क्या आश्चर्य, यदि ऐसी जाति या राष्ट्र थोड़े समय की चहल-पहल के बाद अपने आपको संकट में फँसा हुआ पावें।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि जातियों या राष्ट्रों के जीवन में दो-चार पीढ़ियों का समय भी थोड़ा ही माना जाता है। इसलिए अगर कोई जाति भौतिक उन्नति के कारण सौ-पचास वर्ष खूब धूम-धाम या रौबदौब का जीवन बिताये तो इससे ऊपर कही हुई बात में फरक नहीं आता। आदमियों को इससे धोखे में नहीं आना चाहिए। मतलब यह कि अकेली या अधिकांश भौतिक उन्नति में लगे रहने-वाली जाति को स्थायी या लम्बे समय तक सुख नहीं मिल सकता।

हमारे यह कहने से ऐसा न समझा जाय कि भौतिक उन्नति अनावश्यक या अनुपयोगी है। आदमी को अपने शरीर की रक्षा और उन्नति करना ज़रूरी है, लेकिन इसके साथ ही उसे मानसिक और नैतिक उन्नति की भी ज़रूरत है; सिर्फ़ रोटी कपड़े से उसका काम नहीं चल सकता। इसी तरह किसी जाति को सुख का जीवन बिताने के लिए भौतिक उन्नति अवश्य करनी चाहिए, पर अकेले उसी से संतोष न करके उसके साथ नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर भी काफी बढ़ते रहना चाहिए। उसे दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना, और उनकी उन्नति में भरसक योग देना चाहिए।

आध्यात्मिक उन्नति को कुछ आदमी बहुत रहस्यमय समझते हैं, वे इसके अजीब अर्थ लगाया करते हैं। इसके नाम पर कितने ही नर नारी अपने समय का बहुत सा हिस्सा पूजा-पाठ और भक्ति में लगाते हैं, परन्तु ईश्वर और ब्रह्म का असली और अमली विचार नहीं करते। यह सारी सृष्टि ईश्वर या ब्रह्म का ही स्वरूप है। आदमी को चाहिए ईश्वर या ब्रह्म के इस विशाल स्वरूप से अपनेपन का अनु-भव करे। जब वह यह अनुभव करने लगेगा तो अपने-पराये का भेद नहीं रहेगा; गोरे-काले, पूँजीपति और मज़दूर, अमरीकी और जापानी, या अंगरेज़ और भारतीय आदि के भेद-भाव की दीवारें सब नष्ट हो जायँगी! ईसाई, मुसलमान, पार्सी और हिन्दू सब अपने-आपको एक परब्रह्म परमात्मा की संतान समझेंगे, सब का आपस में भाईचारे का व्यवहार होगा; सब यह मानेंगे कि जैसी आत्मा मुझ में है, वैसी ही

दूसरे में है; दूसरे को दुख देना स्वयं अपने-आपको दुःख देना है, और दूसरे कोप्यार करना खुद अपने आपको प्यार करना है। हम सुख चाहें तो सब के लिए; यदि सिर्फ हमारे लिए ही सुख के सामान मौजूद हों, और हमारे दूसरे भाई उनसे वंचित रखे जायँ तो हमें वह सुख भी स्वीकार न हो।

इसका एक सुन्दर दृष्टान्त हमें महाभारत में मिलता है। युधिष्ठिर महाराज को स्वर्ग में ले जाया जाने लगा तो उन्होंने वहाँ उस समय तक जाना स्वीकार न किया जब तक उनके साथ उनके कुत्ते को भी वहाँ जाने की इजाज़त न मिली। अपने साथियों से ऐसी सहानुभूति होना जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद आदि की भावना को दिल से निकालकर सबकी उन्नति और सेवा करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। मनुष्य जाति की वास्तविक प्रगति तब ही होगी, जब उस जाति के सब अंगों में यह भावना होगी; किसी एक हिस्से की उन्नति, चाहे वह कितनी ही अधिक क्यों न हो, पूरी जाति की उन्नति नहीं कही जा सकती। इस तरह मनुष्य जाति की प्रगति का ध्येय उसके छोटे-बड़े सब हिस्सों की भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति है।

उनंचासवाँ अध्याय

हमारा कर्तव्य

हमने पिछले दो अध्यायों में देखा कि मनुष्य जाति के कुछ हिस्सों ने कई बातों में बहुत प्रगति करली है, पर वे दूसरी बातों में विशेष आगे नहीं बढ़े हैं। उधर, बहुत से हिस्से उन बातों में भी दूसरों से बहुत पिछड़े हुए हैं। मानव समाज में भारी विषमता मौजूद है। जो आगे बढ़े हुए हैं, उन्हें अपने पिछड़े हुए भाइयों की काफी सुध नहीं है। जाति-भेद, रंग-भेद या सम्प्रदाय-भेद ने मनुष्य-जाति के बीच में कई तरह की दीवारें खड़ी कर दी है; इससे संसार बड़े

कष्टों का अनुभव कर रहा है। अब हमारा क्या कर्तव्य है, हम अपने सेवा-भाव से मनुष्य जाति की प्रगति में कहाँ तक सहायक हो सकते हैं?

आदमी में दूसरों की सहायता करने की भावना स्वभावसे ही है। पुराने जमाने में लोगों का रहनसहन सरल था, उनकी जरूरतें कम थीं, और उनके अभाव भी कम होते थे। तो भी कभी-कभी ऐसा मौका आ जाता था कि किसी आदमी को किसी जीवन-रक्षक पदार्थ की कमी होती, किसी को चोट-चपेट लग जाती, या वह बीमार पड़ जाता। ऐसे अवसर पर दूसरे आदमी उसकी मदद या सेवा-सुश्रुषा करते। धनवानों के अलावा, साधारण हैसियत के आदमी भी कुछ दान-पुण्य किया करते थे। खास-खास दिनों में यह काम बड़े परिमाण में होता था। जुदा-जुदा धर्म या सम्प्रदाय वालों ने कुछ तिथियाँ दान-पुण्य के लिए खास तौर से निश्चित कर दीं। कहीं-कहा धर्मादे की रकमें इकट्ठी करके कोष बनाने और उन कोषों से तरह-तरह के सामाजिक कामों में मदद देने की प्रथा चली। अब भी यह काम किसी-न-किसी रूप में चला आ रहा है, और इससे समाज-सेवा का कुछ काम होता भी है। लेकिन इधर बहुत समय से इसका दुरुपयोग बहुत होने लग गया है; इसके बारे में पहले लिखा जा चुका है।

ज्यों-ज्यों लोगों का रहनसहन बदला, और आवश्यकताएँ बढ़ीं, दान-धर्म और सेवा-कार्य का भी विकास होता गया। विविध देशों में जुदा-जुदा नाम और ढँग से सेवा-कार्य करनेवाली संस्थाएँ स्थापित हुईं। अपने-अपने क्षेत्र में इन्होंने अच्छा काम किया। समय-समय पर बहुत से देशों के अनुभव में यह आया कि जिन असुविधाओं या असमर्थताओं के कारण समाज के बहुत से आदमी कष्ट पा रहे हैं, उनके बारे में अच्छी तरह अध्ययन और मनन करने की ज़रूरत है। कोई आदमी गरीबों और भिखारियों में पैसा बाँट कर स्थायी रूप से उनके कष्टों को दूर नहीं कर सकता।* इसके लिए समाज की

* इस विषय में टालसटाय की 'क्या करें?' पुस्तक में बहुत उपयोगी सामग्री है, इसमें लेखक ने खुद अपने अनुभव ब्योरेवार लिखे हैं।

दशा और संगठन आदि की अच्छी जानकारी हासिल करना ज़रूरी है। कुछ आदमी अपने जीवन का उद्देश्य ही यह बनावें कि हमें इस बात का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना है कि लोगों के कष्ट किन कारणों से पैदा होते हैं, समाज की रचना में क्या दोष है, और उस दोष को दूर करने का वैज्ञानिक और स्थायी उपाय क्या है।

यह ठीक है कि सेवा का काम करने से, और किसी अनुभवी कार्यकर्ता के पास रहने से भी आदमी को सेवा सम्बन्धी ऊपर लिखा ज्ञान हो जाता है, और वह कुछ समय में अच्छा कार्यकर्ता बन सकता है, लेकिन अब इस शिक्षा का विकास हो जाने से, और इस तरह की शिक्षा देनेवाली संस्थाओं की विशेष आवश्यकता प्रतीत होने पर जगह-जगह ऐसी संस्थाएँ कायम की गयी हैं—कुछ तो स्वतंत्र रूप से; और कुछ, विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित।

इस समय सेवा-कार्य करनेवालों की दृष्टि बहुत उदार होने की ज़रूरत है। सामाजिक जीवन के शुरू में आदमी के काम का असर उन्हीं थोड़े से आदमियों पर पड़ता था, जो उसके पास रहते थे। अगर कोई आदमी अच्छा काम करता तो उसका फायदा नजदीक में रहनेवालों को ही मिलता था। अगर उसका कोई काम खराब होता तो उससे उसके पासवालों को ही नुकसान पहुँचता था। छोटे से समूह में सब आदमी जान जाते हैं कि कोई काम किसने किया है, उसकी जिम्मेवरी किस पर है। इस लिए हर आदमी अपने काम को अच्छी तरह सोच समझ कर करता है, क्योंकि उस काम का अच्छा या बुरा नतीजा उसके मिलनेवाले, उसके रिश्तेदारों या दोस्तों को भोगना होता है।

अब हालत बदल गयी है। हमारा सम्बन्ध दुनिया भर से हो गयी है। हम अपने निवास-स्थान से सैकड़ों नहीं, हजारों मील दूर की जगहों में जाते आते हैं। हमारी बहुत सी चीज़ें बहुत दूर-दूर से आती हैं। हम जो चीज़ें अपने शहर में खरीदते हैं, उनमें से कितनी ही ऐसी होती हैं, जो वहाँ दूसरे शहर से, और शहर में दूसरे देश से

आयी हुई होती है। हमें बहुत दफा यह मालूम नहीं होता कि वे चीजें किस आदमी की बनायी हुई हैं। जब हम यह जान लेते हैं कि कोई चीज किस देश के किस कारखाने में बनी है, तो भी हम यह नहीं जान पाते कि उसके बनाने की जिम्मेवरी किस खास आदमी पर है; कारण कि कारखाने में किसी चीज को कोई एक आदमी नहीं बनाता, वहाँ तो हजारों आदमी मिल कर एक साथ बहुत सी चीज़ें बनाते हैं। अगर किसी चीज के खराब होने की जिम्मेवरी किसी एक आदमी पर डाली भी जा सके तो इतनी दूर रहनेवाले आदमी को, उस चीज के लिए क्या उलाहना दिया जाय, जो कई आदमियों के पास होकर हमारे पास पहुँची है (सीधी हमारे पास नहां आयी), और जो वहाँ से चलने के न मालूम कितने समय बाद हमें मिली है। इस तरह आजकल आदमी किसी चीज को बनाने में उतनी जिम्मेवरी महसूस नहीं करता जैसी कि वह पहले करता था, जब उस चीज का इस्तेमाल करनेवाले उसके पास ही रहनेवाले उसके भाई-बंधु, रिश्तेदार या मित्र आदि होते थे। इसका नतीजा कैसा खराब होता है, यह साफ जाहिर ही है।

पर इसका सुधार कैसे हो? हमारा जीवन उस पुराने ढंग का तो अब हो नहीं सकता कि हम सिर्फ ऐसी ही चीजें, काम में लावें, जो हमारे गांव या नगर वाले बनावें। आजकल तो बहुत सादगी का जीवन बितानेवाला, और बहुत थोड़ी ही ज़रूरतों वाला आदमी भी कितनी ही ऐसी चीजों को इस्तेमाल करता है, जो उसके गांव या पास के शहर में बनी हुई नहीं होतीं, बल्कि दूर-दूर के देशों में बन कर आयी हुई होती हैं। अब हमारा सम्बन्ध ऐसे आदमियों से होता है, जिन्हें हम नहीं जानते, जिनका हमसे मिलने-भेंटने का प्रसंग नहीं आता। ऐसी हालत में समाज का काम अच्छी तरह तभी चल सकता है, जब हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए हमारे सामने अच्छे आदर्श हों; हम यह समझें कि हमारे काम का असर दूर-दूर तक के आदमियों पर पड़ता है। हमें चाहिए कि हम कोई काम ऐसा न करें जिससे

हमारे इन दूर-दूर के भाइयों को कोई कष्ट या हानि हो, ठीक जैसे कि हम चाहते हैं कि हमारे कामों से हमारे पास रहनेवालों को कोई नुकसान न पहुँचे। जिस तरह पुराने जमाने में हमने अपने पड़ोसियों, या अपने गांव या नगर वालों के हित का ध्यान रखना सीखा था, अब हमारा कर्तव्य है कि दूर-दूर रहनेवालों की भी भलाई करने का विचार रखें। पहले छोटे से समाज से हमारा सम्बन्ध था, उसकी सेवा करना हम अपना कर्तव्य मानते थे, अब हमारे समाज का क्षेत्र बढ़ गया है, इसलिए अब हमें इस बढ़े हुए समाज के प्रति सेवा-भाव रखना चाहिए।

प्राचीन काल में आदमियों की ज़रूरतें कम होने से, उनके करने के काम भी इनेगिने ही होते थे। अब आदमियों की ज़रूरतें बढ़ गयी हैं, और उन्हें पूरी करने के लिए तरह-तरह के बहुत से काम करने पड़ते हैं। हर काम को सेवा-भाव से किस तरह करना चाहिए, इसका व्यौरेवार विचार करने की यहाँ ज़रूरत नहीं है। मिसाल के तौर पर यह जान लेना चाहिए कि अगर हम एक काम को सेवा-भाव से करते हैं तो हमारे काम करने के ढंग में क्या फरक पड़ जाता है।

एक लेखक क़िताब लिखता है, अगर उसके सामने सिर्फ पैसा पैदा करने का ही ध्येय है तो वह वैसी ही किताब लिखेगा जिस के ग्राहक अधिक-से-अधिक हों, चाहे उससे लोगों में साम्प्रदायिक भेद भाव बढ़े, चाहे युवकों और युवतियों के विचारों में चंचलता और उत्तेजना पैदा हो, और वे भोग-विलास के शिकार बने, या चाहे उससे ठगी, मक्कारी आदि के ढंगों की जानकारी हो। इसके खिलाफ, अगर लेखक सेवा-भाव से कार्य करता है तो वह पाठकों की रुचि को सुधारने की कोशिश करेगा, उनके सामने अच्छे आदर्श रखेगा, वह बहुत परिश्रम से निश्चित किये हुए विज्ञान आदि के उपयोगी सिद्धाँतों का प्रचार करेगा—चाहे ऐसा करने से उसकी पुस्तक की मांग कम हो और इस लिए उसे आमदनी कम हो, यहां तक कि उसे अपना गुजारा करना

भी कठिन हो।

इसी तरह एक डाक्टर या वैद्य का विचार करें। लोभी डाक्टर को अपनी आमदनी की फिक्र अधिक रहती है, मरीज़ को जल्दी अच्छा करने की ओर उसका लक्ष्य कम रहता है। वह चाहता है कि किसी तरह मरीज मेरा इलाज बहुत दिन तक कराता रहे, जिससे मुझे फीस मिलती रहे। लेकिन जब डाक्टर सेवा-भाव से इलाज करेगा तो वह मरीज़ को जल्दी-से-जल्दी तन्दरुस्त करने की कोशिश करेगा, और समय-समय पर ऐसे आदमियों को अपनी कीमती सलाह और दवाई तक देगा, जो बेचारे अपनी गरीबी के करण किसी तरह की फीस नहीं दे सकते।

अब कारखाने वाले की बात लीजिए। जब उसका उद्देश्य केवल रुपया कमाना है, तो वह ग्राहकों की आँखों में धूल झोंकने की कोशिश करेगा, घटिया माल को बढ़िया बतायेगा, और तरह-तरह की चालाकी करके खूब मुनाफा पैदा करेगा। यहाँ तक कि वह जनता के स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाने वाली और उनका धन बरबाद करनेवाली चीजें बनाने और उनका प्रचार करने में तनिक भी संकोच न करेगा। लेकिन अगर कारखाने वाले में सेवा-भाव है तो वह हमेशा समाज के हित का विचार रखेगा, ऐसी ही चीज़ें बनायेगा जो लोगों के लिए बहुत उपयोगी और टिकाऊ हो; वह बढ़िया माल बनायेगा और मामूली नफे से बेचेगा।

इसी तरह दूसरे कार्यों के बारे में विचार किया जा सकता है। सेवा भाव होने से हमारी कार्य-पद्धति ही बदल जायगी। और चाहे हमारी आमदनी कम रहे, हमारे मन में आनन्द रहेगा; हमें हमेशा यह संतोष रहेगा कि हम अपने भाई बहिनों के प्रति अपने कर्तव्य का भरसक पालन कर रहे हैं। इससे हमें शान्ति और सुख मिलेगा।

यह तो साफ़ ज़ाहिर ही है कि जो आदमी, औरत, लड़का या लड़की दूसरों की सेवा करना चाहे, उसे अपनी उन्नति की ओर काफी ध्यान देना चाहिए। जिसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, जो अकसर

बीमार पड़ता रहता है, जिसका अध्ययन या ज्ञान बहुत कम है, या जिसका सदाचार ऊँचे दर्जे का नहीं है, वह न तो समाज-सेवा में बहुत भाग ही ले सकता है, और न उसके द्वारा की हुई सेवा बहुत उपयोगी ही होसकती है। इसलिए सेवा करने की इच्छा रखनेवालों को अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक योग्यता को बढ़ाने की भरसक कोशिश करनी चाहिए। साथ ही उसे याद रखना चाहिए कि दूर देशों में रहने वाले भी उसी तरह हमारे भाई-बन्धु हैं, जैसे हमारे पास-पड़ोस में रहनेवाले हैं। अच्छा हो, हर युवक अपने पथ-प्रदर्शक या रहनुमाई के लिए एक-एक सप्ताह किसी खास आदर्श का विशेष रूप से अभ्यास करे, और कुछ सिद्धाँत-वाक्यों या अच्छी कहावतों को सुन्दर और मोटे अक्षरों में लिखकर अपने काम करने के कमरे में लगाले, जिससे समय-समय पर उनकी ओर ध्यान जाता रहे।

यह तो व्यक्तियों के आदर्श की बात हुई। इसी तरह हर समूह को अपने कामों में सेवा-भाव का आदर्श रखना चाहिए। कभी-कभी हमारे सामने ऐसी मिसाल आती है कि किसी परिवार के एक आदमी ने ऊँचा राष्ट्रीय आदर्श रखकर एक पत्र निकाला, तो उस आदमी के भाई, बहिन आदि ने भी अपनी शक्ति उस काम में लगादी। उस काम को करते हुए उन्होंने साधारण आमदनी से ही खर्च चलाया; और जब कभी एक आदमी सरकार का कोप-भाजन बन कर जेल में गया, तो उसकी जगह दूसरा उस पत्र के संचालन के लिए तैयार रहा। इस तरह काम का सिलसिला बराबर बनाये रखा। ऐसे उदाहरणों का बहुत अनुकरण होना चाहिए। मौजूदा हालत में प्रायः परिवार में एक आदमी कुछ खास आदर्श से काम करता है, अगर उसमें अच्छी आमदनी होती है, तो उस आदमी के परिवार के दूसरे आदमी भी उस काम को चलाने का विचार करते हैं, नहीं तो वह काम उस आदमी के साथ ही समाप्त हो जाता है। नये संसार का सुन्दर निर्माण करनेवालों को चाहिए कि इसमें सुधार करें, और हरेक परिवार अपनी अच्छी परम्परा बनाने की कोशिश करे।

इसी तरह हरेक संस्था को अपना उद्देश बहुत सोच-समझकर स्थिर करना चाहिए, और फिर उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जी-जान से उद्योग करते रहना चाहिए। यही नहीं, हर एक जाति या राष्ट्र को भी अपने सामने एक निश्चित लक्ष्य रखना चाहिए। सब को इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि उसका हर सदस्य अच्छे-अच्छे गुणों वाला हो—सच्चा, ईमानदार, मेहनती, लोकसेवी। राष्ट्र की सभ्यता की पहचान ही यह है कि उसके कितने आदमी कितने अच्छे, परोपकारी और योग्य हैं।

इसके अलावा राष्ट्रों के सोचने का एक विषय यह भी है कि इस समय संसार में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का भयङ्कर ज़ोर है, हम महायुद्ध का कटु अनुभव कर रहे हैं। हरेक सभ्य देश हिंसा-काँड में दूसरों से बाज़ी मार ले जाना चाहता है। ऐसे समय क्या मानवता की सेवा के लिए कुछ राष्ट्र अहिंसा और प्रेम का आदर्श रखनेवाले न हों! क्या सभ्य और उन्नत राष्ट्रों में कुछ ऐसे न मिलेंगे जो स्वयं निस्वार्थ भाव से काम करें, और दूसरों से स्वार्थ-त्यागकी अपील करें? क्या कुछ राष्ट्र यह आदर्श न अपनाएँगे—पूँजीवाद का अंत हो, साम्राज्यवाद बन्द हो, संसार का हरेक देश और जाति स्वतन्त्र हो, कोई किसी भी बहाने से दूसरों को अपने अधीन न करे और दूसरों का शोषण न करे। आजदिन मानव सन्तान वर्ण-भेद और जाति-भेद से घोर कष्ट पा रही है। राष्ट्रों का आदर्श-वाक्य होना चाहिए—वर्ण-भेद मिटाओ, काला आदमी और पीला आदमी भी उसी प्रभु की संतान हैं, जिसकी संतान गोरा या भूरा आदमी है। सब आपस में भाई-भाई हैं, भेद-भाव मिटाओ, और सबसे प्रेम करो, सब की सेवा करो। इसी से मनुष्य जाति की प्रगति का ध्येय प्राप्त होगा; सब आदमी, आदमी की ज़िन्दगी बिता सकेंगे, सब जगह सुख-शान्ति होगी।

———

परिशिष्ट
कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ



मनुष्य-जाति की प्रगति को शुरू का बहुत सा इतिहास ठीक तौर से मालूम नहीं है; उसके बारे में अनुमान किये जाते हैं और उन अनुमानों की वैज्ञानिक परीक्षा करके उनमें संशोधन किया जाता है। बहुत सी बातें तो ऐसी पुरानी हैं कि अब उनके बारे में ठीक-ठीक हिसाब नहीं लगता। अलग-अलग विचारकों का उनके बारे में जुदा-जुदा मत है। योरप के इतिहास की अब से दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले की बहुत सी बातों का समय निश्चित नहीं हो सका है। भारतवर्ष आदि एशियाई देशों की तो अब से दो हज़ार वर्ष के भीतर की भी बहुत बातों का समय विवादग्रस्त है। अमरीका, अफ्रीका आदि की घटनाएँ अधिकतर उस समयके बाद को ही मालूम हो पायी हैं, जब से योरपियन लोग वहाँ पहुँचे, यानी सिर्फ पाँच सौ वर्ष के भीतर की। हिन्दुओं के हिसाब से अब सृष्टि-सम्वत् १,६७,२६,४६,०४६ है इसी को आर्य सम्वत् या वैदिक सम्वत् कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक ऐसा सूक्ष्म हिसाब मानने को तैयार नहीं है। कुछ विद्वानों के मत से पृथ्वी पर मनुष्य का प्रादुर्भाव हुए लगभग पाँच लाख वर्ष हुए हैं। आर्य जाति के मूल निवास के विषय में भी बड़ा मतभेद है। प्रायः हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके पूर्वज यहाँ ही रहने वाले थे। बहुत से आधुनिक विद्वानों का मत है कि आर्यों का मूल निवास मध्य एशिया था, वहाँ से वे विविध देशों में गये, और उनकी एक शाखा भारतवर्ष में आकर बसी। पर ये लोग, इस विषय में एक मत नहीं है कि भारतवर्ष में आर्य कब आये। कुछ विद्वान् उन्हें चार हज़ार वर्ष के अन्दर ही आये मानते हैं, दूसरे इससे पहले के आये समझते हैं।

अब से पाँच छः हजार वर्ष पहले की तो इतनी अधिक बातें अज्ञात हैं कि इतिहास-लेखकों ने उस समय को पूर्व-इतिहास काल ही कह डाला है। उस समय शिकार खेलने के लिए जैसे-जैसे औजार काम में लाये जाते थे, उनके भेदों के अनुसार पुरातत्ववेत्ताओं ने उस काल के ये भाग किये हैं:—

१—पूर्व पाषाण काल। मछलियों और दूसरे जानवरों का शिकार; पत्थर की कुल्हाड़ी और भाले आदि; गुफाओं में रहना; वृक्षों की छाल या पत्तों, और जानवरों की खाल से शरीर को ढकना।

२—उत्तर पाषाण काल। औजार या हथियार पत्थर के ही, लेकिन अधिक तेज, चमकीले और सुडौल; धनुष-बाण का उपयोग; घर बना कर उनमें रहने लगना; पशु-पालन और खेती का आरम्भ। (कहीं-कहीं गड़रिये या पशु-पालन के काम से पहले ही खेती का काम हुआ)। चट्टानों और गुफाओं पर चित्र बनाना; चाक को चला कर मिट्टी के बर्तन बनाना; आग का आविष्कार और उपयोग।

३—ताम्र और लौह काल। ताम्बे के औजारों का उपयोग, नाव और छोटे जहाज, नदी और समुद्र के रास्ते का व्यापार आरम्भ। लिखने का आविष्कार। मुर्दों को गाड़ना और जलाना। लोहे के तरह-तरह के बढ़िया औजार और हथियार। कई धातुओं के बर्तन, और जेवर आदि। [जहाँ ताम्बा मिला, वहाँ उत्तर पाषाण काल और लौह काल के बीच ताम्र काल आया; जहाँ ताम्बा न मिला और लोहा मिल गया वहाँ उत्तर पाषाण-काल के बाद एक दम लौह काल ही आया।]

आगे उदाहरण-स्वरूप कुछ थोड़ी सी महत्वपूर्ण घटनाओं का समय दिया जाता है। स्मरण रहे कि आम तौर से जो घटना जितनी अधिक पुरानी है, उतना ही उसके समय का कुछ ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन है। और, आधुनिक घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि सब का उल्लेख नहीं किया जा सकता। हमने कुछ महापुरुषों का भी जिक्र किया है, पर यह भी, नमूने के तौर पर है।

लगभग	५,००,०००	ई० पूर्व	मनुष्य का प्रादुर्भाव
”	५०,०००	”	आग का आविष्कार
”	१०,०००	”	खेती और पशुपालन
”	६,०००	”	इराक़ में सुमेरियन सभ्यता
”	५,०००	”	मिश्री सभ्यता
”	४,०००	”	क्रीट (भूमध्यसागर) की सभ्यता
”	३,७००	”	मिश्र के मीनार
”	२,०००	”	चीन का संयुक्त साम्राज्य
”	१,७४६	”	घोड़े का उपयोग, मिश्र में
”	१,५००	”	फोनेशिया की सभ्यता
”	”	”	आर्यों का यूनान में प्रवेश
”	१०००-८००	”	होमर का महाकाव्य (यूनान)
”	८००-५००	”	यूनानियों का उपनिवेश बसाना

७७६	ई० पूर्व	चीन में सूर्यग्रहण का उल्लेख
७५३	”	रोम की स्थापना
६७५-६७०	”	लीडिया में मुद्रा-पद्धति
५६३-४८३	”	गौतम बुद्ध
५५१-४७८	”	कन्फ्यूशियस (चीन में)
५४६	”	इरान वालों ने लिडिया साम्राज्य को परास्त किया
४८४-४२५	”	यूनानी इतिहास-लेखक हीरोडोटस (हीरोदत्त)
४८०	”	इरानियों की, थरमोपली (यूनान) में पराजय।
४६९-३९९	”	सुकरात
४६०-३७७	”	यूनान का पहला औषध-शास्त्र निर्माता

४५१	ई० पूर्व	रोम में कानून-संग्रह
४२६-३४७	,,	अफलातून (प्लेटो)
३८४-३२२	,,	अरस्तू (एरिस्टोटल)
३५६-३२३	,,	सिकन्दर (एलेग्जेंडर)
३२५	,,	चन्द्रगुप्त का गद्दीपर बैठना
३२३-२८३	,,	युकलिड (गणितज्ञ)
२८७-२१२	,,	आर्शमीडीज (एञ्जीनियर और गणितज्ञ)
२७४-२३२	,,	अशोक का भारत में राज्य
२१४	,,	चीन की बड़ी दीवार बनना आरम्भ
२०१	,,	स्पेन में रोम साम्राज्य
२०० ई० पूर्व से २०० ई०		चीन में हन राजवंश
५८-४६	ई० पूर्व	गाल (फ्राँस) में जूलियस सीजर
५५-५४	,,	ब्रिटेन (इंगलैंड) में जूलियस सीजर
४४	,,	जूलियस सीजर की हत्या
६ (?)	,,	ईसा का जन्म

———

२८	ई०	ईसा सूली पर चढ़ाया गया
१२१-१५१	ई०	टालमी द्वारा ज्योतिष के अन्वेशन
२७०	,,	रोम में श्रमजीवियों का श्रेणी-विभाजन
३१२-३३७	,,	कान्स्टेंटाइन सम्राट्
३१६-५३०	,,	भारत में गुप्त साम्राज्य, संस्कृत साहित्य की उन्नति
३३०	,,	कुस्तुनतुनिया की स्थापना
३६५	,,	रोम साम्राज्य का पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजन
४१०	,,	रोम पर गाथ लोगों का अधिकार
४४६-६१३	,,	जूट, ऐंग्ल और सेक्सनों द्वारा इंगलैंड की विजय

४७५	ई०	भारतवर्ष में हूनों के आक्रमण
४७६	,,	पश्चिमी रोम-साम्राज्य का अन्त
५७०	,,	मोहम्मद का जन्म
५८८	,,	बौद्ध धर्म का जापान में प्रचार
६२२	,,	मोहम्मद का मक्का से भाग कर मदीना जाना; हिजरी सम्वत् आरम्भ
६३२	,,	मोहम्मद की मृत्यु
७१२	,,	अरबों की, भारत में विजय
७१५	,,	अरब साम्राज्य का अधिकतम विस्तार
७३२	,,	चार्ल्स मार्टल द्वारा अरबों की,टूर्स (फ्राँस) में, पराजय
७६८-८१४	,,	शार्लमन, फ्रैंक लोगों का बादशाह
८२७	,,	एगबर्ट, पूरे इंगलैंड का बादशाह
६१६	,,	हेनरी फाउलर, जर्मनी का बादशाह
६८७	,,	ह्यू केपट द्वारा फ्राँस का एकीकरण
१०००	,,	भारत पर अफगानों के आक्रमण
१०६६-८७	,,	नार्मन विजेता विलियम प्रथम, इंगलैंड का बादशाह
१०६५-१२७१	ई०	क्रूसेड (धर्मयुद्ध) फिलिस्तीन लेने के लिए
११०५	,,	इंगलैण्ड में हवाई चक्की का उल्लेख
११६२-१२२७	,,	चंगेज खाँ तातारी सम्राट्
११६६	,,	इंगलैंड के न्यायालयों में जूरी प्रथा आरम्भ
११७५	,,	मोहम्मद गौरी का मुलतान जीतना
१२१४-६४	,,	राजर बेकन, वैज्ञानिक
१२१५	,,	मेग्ना चार्टा (इंगलैण्ड में बादशाह जाह्न का दिया हुआ महान अधिकार-पत्र)
१२३८-४१	,,	योरप पर मंगोलों का धावा

१२६५	ई०	इंगलैण्ड की पहली पार्लिमेंट
१२६५-१३२१	”	इटली का महाकवि दाँते
१२७१-६५	”	मार्को पोलो की यात्रा, सुदूर पूर्व में
१३०२	”	फ्राँस की पहली पार्लिमेंट (स्टेट्स जनरल)
१३३०	”	भारत में मोहम्मद तुग़लक द्वारा ताम्बे के सिक्कों का चलन
१३५३	”	आटमन तुर्कों का योरप में प्रवेश
१३७६	”	इंगलैंड में पार्लिमेंट द्वारा मंत्रियों पर अभियोग
१३७८	”	योरप में दो पोप; एक रोम में, दूसरा एवेगनन (फ्रांस में)
१३६६-१५१८	”	कबीरदास
१४००-१६००	”	योरप में जागृति-काल
१४२६	”	जोन-आफ-आर्क ने फ्रांस की सेना-नायिका बन कर अंगरेजों पर धावा किया
१४५०	”	छापेखाने का आविष्कार
१४६६-१५३८	”	गुरू नानक
१४७३-१५४३	”	कापरनिकस, ज्योतिष शास्त्रवेत्ता
१४८३-१५६३	”	सूरदास
१४६२-६८	”	कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज
१४६८	”	वास्कोडेगामा का, अफरीका के गिर्द होकर, भारत आना
१५१७-५५	”	योरप में (धार्मिक) सुधार-काल
१५१७-३१	”	जर्मनी में ल्यूथर द्वारा धार्मिक सुधार
१५१६-२२	”	मेगलेन की संसार-यात्रा, समुद्र-मार्ग से
१५२६	”	भारत में मुगलों की विजय
१५३२	”	मेक्याविली (इटली) की 'प्रिंस' पुस्तक
१५३२-१६२३	”	तुलसीदास

१५४६ के लगभग	दूरबीन का आविष्कार
१५५६-१६०५ ई०	भारत का सम्राट् अकबर
१५५८-१६०३ "	इंगलैंड की सम्राज्ञी एलिजेबेथ
१५६१-१६२६ "	फ्रैंसिस बेकन, वैज्ञानिक
१५६४-१६१६ "	शेक्सपियर
१५६५-१६२६ "	गेलिलियो, ज्योतिष-शास्त्रवेत्ता
१५६६ "	जेबी घड़ी का आविष्कार
१५७७ "	इंगलैंड में सूई का चलन
१५६० "	कागज की मिल
१६०० "	ईस्ट इंडया कम्पनी की स्थापना
१८०८-८२ "	समर्थ गुरु रामदास
१६०१ "	भारतवर्ष में अंगरेजों की पहली व्यापारी कोठी
१६१५ "	सर टामस रो मुग़ल दरबार में आया
१६२७-८० "	छत्रपति शिवाजी
१६२८ "	हारवे ने शरीर में रक्त-संचार का आविष्कार किया
१६२६-५० "	ताजमहल का निर्माण
१६४२-१७२७ "	सरआइजक न्यूटन,वैज्ञानिक और गणितज्ञ
१६४३ "	वेरोमीटर या वायुमापक यंत्रका आविष्कार
१६६६-१७२५ "	रूस में पीटर महान
१७०४ "	इंगलैण्ड ने जिब्रालटर लिया
" "	भाप के एंजिन का आविष्कार, न्यूकोमन द्वारा
१७०६-६० "	बेंजमिन फ्रैंकलिन
१७५०-१८५० "	इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति
१७५७ "	प्लासी की लड़ाई
१७६२ "	रूसो का 'सोशल कंट्राक्ट' ग्रन्थ

१७६४	ई०	हारग्रीव की स्पिनिंग जेनी (सूत कातने की मशीन)
१७६४-७६	,,	कप्तान कुक की खोज संबन्धी समुद्र-यात्रा
१७७४-८५	,,	वारनहेस्टिंग्स, भारत का गवर्नर-जनरल
१७७४-१८३३	,,	राजा राममोहन राय
१७७५-८३	,,	अमरीका का स्वाधीनता-युद्ध
१७८०-१८३६	,,	पंजाब-केशरी रणजीत सिंह
१७८७	,,	अमरीका के विधान का अमल में आना
१७८६	,,	फ्राँसीसी राजक्रान्ति का प्रारम्भ
१७८६-६७	,,	वाशिंगटन, संयुक्त-राज्य अमरीका का राष्ट्रपति
१७६०	,,	लोहे का पहला जहाज
१७६२	,,	कोयले की गेस से रोशनी
१७६४	,,	टामसपेन की 'एज-आफ-रीज़न' पुस्तक
१७६६	,,	चेचक के टीके का प्रारम्भ
१७६६-१८१४	,,	नेपोलियन की प्रभुता
१८०१	,,	लेमार्क का विकास-सिद्धान्त
१८०२	,,	बच्चों सम्बन्धी कारखाना-कानून
१८०४	,,	डाल्टन का परिमाणु सिद्धान्त (एटमिक थियरी)
१८०७	,,	ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा दासों के व्यापार का निषेध
१८१५	,,	वाटरलू का युद्ध
१८१७-६८	,,	सैयद अहमद खां
१८१६-१६००	,,	जान रस्किन
१८२२	,,	चम्पोलियन ने मिस्री भाषा के लेखों का अर्थ लगाया
१८२४-८३	,,	स्वामी दयानन्द [illegible]

१८२५ ई०	स्टीफनसन का, रेल के एंजिन का आविष्कार
१८२७ "	दियासलाई का आविष्कार
१८२८-१९१० "	महर्षि टाल्स्टाय
१८२९ "	भारत में सती प्रथा बन्द होना
१८३१ "	फेरेडे ने डायनेमा का आविष्कार किया
१८३३-१९०२ "	रामकृष्ण परमहंस
१८३५ "	भारतवर्ष में शिक्षा का माध्यम अंगरेज़ी ठहरायी गयी
१८४० "	पेनी पोस्टेज (पत्र भेजने का महसूल एक पैंस)
१८४६ "	होवे की, सीने की मशीन
१८४८ "	योरप में क्रान्तियों का वर्ष
१८४९ "	मेज़नी की अधीनता में, इटली में रोमन रिपब्लिक
१८४९-७३ "	लिविंगस्टन की अफ्रीका-यात्रा
१८५०-८५ "	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१८५७ "	कलकत्ता, बम्बई, और मदरास के विश्वविद्यालयों की स्थापना
१८५८ "	भारतीय स्वाधीनता-युद्ध की असफलता; भारतवर्ष का शासन ईस्ट इंडया कम्पनी से ब्रिटिश पार्लिमेंट ने लिया
१८५९ "	डारविन का 'आरिजिन-आफ-स्पीसीज़' नाम का ग्रन्थ
१८६०-६५ "	एब्राहम लिंकन, संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति
१८६१ "	इटली का एकीकरण
१८६३ "	संयुक्तराज्य अमरीका से गुलामी का हटना
१८६६ "	इलाहाबाद के हाईकोर्ट की स्थापना

१८६७	ई०	कनाडा का डोमिनियन (स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेश) होना
”	”	कार्ल मार्क्स का 'दास केपिटल' ग्रन्थ
१८६८-७१	”	टाइपराइटर का आविष्कार
१८६६	”	स्वेज नहर
”	”	म० गांधी का जन्म-दिन; २ अक्तूबर
१८७०-१६२४	”	लेनिन
१८७१	”	जर्मन साम्राज्य की स्थापना
”	”	जापान से सामन्त-प्रथा हटायी गयी।
”	”	भारत में आर्य समाज और थियोसोफीकल सोसायटी की स्थापना
”	”	सरदार वल्लभभाई पटेल का जन्म; ३१ अक्तूबर
१८७७	”	रोगों का कीटाणु-सिद्धान्त
१८८२	”	टेलीफोन का आविष्कार
१८८४	”	देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद का जन्म; ३ दिसम्बर
१८८५	”	भारतवर्ष में कांग्रेस (राष्ट्र-सभा) की स्थापना
१८८६	”	जवाहरलाल नेहरू का जन्म; १४ नवम्बर
१८६०	”	खान अब्दुल गफ्फार खां का जन्म
१८६५-६६	”	विशेष प्रकार के मच्छरों से मेलेरिया पैदा होने का सिद्धान्त
१८६६	”	बेतार का तार। बम्बई में प्लेग।
१८६७	”	सुभासचन्द्र बोस का जन्म
१८६८	”	मेडम क्यूरी द्वारा रेडियम का आविष्कार
१८६६-१६०७	”	हेग की शान्ति-परिषदें
१६००	”	आस्ट्रेलिया की कामनवेल्थ की स्थापना
१६०३	”	हवाई जहाज की पहली उड़ान, अमरीका में

१६०५	ई०	चीन में पश्चिमी शिक्षा प्रारम्भ
१६०६	,,	पीयरी उत्तरी ध्रुव पहुँचा
,,	,,	दक्षिण अफरीका का यूनियन स्थापित
१६११	,,	एमंडसन दक्षिणी ध्रुव पहुँचा
१६१२	,,	चीन में रिपब्लिक (प्रजातंत्र) की स्थापना
१६१४-१८	,,	पहला योरपीय महायुद्ध
१६१७	,,	रूस की राजक्रान्ति
१६१८	,,	इंगलैंड में स्त्रियों का मताधिकार
१६१६	,,	राष्ट्र-संघ की स्थापना
१६२०	,,	भारतवर्ष में सत्याग्रह आन्दोलन
,,	,,	अमरीका में स्त्रियों का मताधिकार
१६२१	,,	आयर्लैंड को स्वराज्य
१६२२	,,	म० गांधी को छः साल की कैद की सजा दी गयी
१६२३	,,	इंगलैंड में मज़दूर-दल की सरकार
१६२४	,,	खिलाफत का हटना
१६३३-४५	,,	हिटलर की प्रभुता
१६३६-४५	,,	दूसरा योरपीय महायुद्ध
१६४२	,,	भारतवर्ष में, कांग्रेस का 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव; स्वाधीनता आन्दोलन
१६४३	,,	बङ्गाल का मनुष्य-कृत अकाल
१६४५	,,	जापान के दो नगरों पर 'एटम बम'।
,,	,,	एशिया के कई देशों में 'एशिया छोड़ो' नारा
,,	,,	सनफ्रांसिस्को सम्मेलन; संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ का स्थापना
,,	,,	भारतवर्ष में आजाद हिन्द फौज के अफसरों का मुकदमा

सहायक साहित्य

विश्व प्रपञ्च—	मूल लेखक—हेकल; अनुवादक और भूमिका-लेखक —श्री० रामचन्द्र शुक्ल
समाज विज्ञान—	चन्द्रराज भंडारी
मार्क्सवाद—	यशपाल
विश्व संस्कृति का विकास—	कालीदास कपूर
गांधीवाद : समाजवाद—	काका कालेलकर
व्यक्ति और राज—	सम्पूर्णानन्द
Early Civilisations,	A.A. Goldenwaisar
How man conquered Nature	M. J. Reynolds
The Story of Human Progress	L. C, Marshall
Social Evolution	Benjamin Kidd
History of Social Development	Mullar Lyer
Epochs of Civilisation	P. N. Bose
Modern Ideas of Evolution	D. C. Babcock
The Century of Hope	F. S. Marwin
A brief history of Civilisation	J. S. Hoyland

विश्वमित्र (कलकत्ता), विश्ववाणी (प्रयाग), आज (बनारस), रामराज्य (कृष्णपुर), प्रताप (कानपुर), प्रजासेवक (जोधपुर), नवज्योति (अजमेर), महेश्वरी (बम्बई), भारत (प्रयाग), आदि पत्र पत्रिकाएँ।

